अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड १४-१७

ओ३म्

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड १४-१७]

भाष्यकार–

प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो॰ ई॰ सी॰ मुरथल

जि॰ सोनीपत- १३१०३९

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत– ३९ (हरियाणा)
(०१३०) ३२९०२७६, २१००२८५
Web- www.rlktrust.org

प्राप्ति-स्थान–

१. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्टस्, २५९६, नई सड़क, दिल्ली
२. विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८ नई सड़क दिल्ली– ६
३. सुबोध पाकेट बुक्स, २/३ बी॰ अंसारी रोड, नई दिल्ली– २

द्वितीय वार– ६००
वि॰ सं॰ २०६५ (सन् २००८)
मूल्यम्– १००.००

मुद्रक–

अजय प्रैस
दिल्ली

प्रकाशीय वक्तव्य

वेदविद्याविशारद स्वर्गीय पण्डित श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड की अनुपमकृति अथर्ववेदभाष्य के काण्ड १४-१७ का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९८३ ई॰ में किया गया था। इस वेदभाष्य के जो-जो भाग समाप्त हो जाते हैं, उन-उन का पुनः प्रकाशन श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा अपने संसाधनों या जनता के सहयोग से किया जाता है। पूर्वोक्त अथर्ववेदभाष्य काण्ड १४-१७ समाप्त हो चुका है और जनता की मांग बढ़ रही है, अतः श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अपने संसाधनों से इस भाग का प्रकाशन तत्काल कर रहा है।

चौधरी प्रतापसिंह ने प्रो॰ विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड द्वारा रचित प्रथम तीन काण्डात्मक अथर्ववेद भाष्य 'रा॰ ब॰ चौ॰ नारायण सिंह प्रतापसिंह ट्रस्ट करनाल' की ओर से आर्य समाज शताब्दी समारोह (सन् १९७५) के अवसर पर प्रकाशित कराया था। उसके पश्चात् १८-१९ काण्डों का भाष्य सन् १९७७ में, काण्ड १४-१७ का भाष्य सन् १९८१ में और काण्ड ११-१३ का भाष्य सन् १९८३ ई॰ में 'दयानन्द निर्वाण शताब्दी' के अवसर पर कराया गया। सन् १९८६ ई॰ में चौधरी प्रतापसिंह के असामयिक निधन के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी पुत्र ने इस कार्य में कोई रुचि नहीं ली और अन्ततः श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ने अपने संसाधनों से सन् १९९२ में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया।

अजय प्रैस, दिल्ली के स्वामी के सहयोग से अथर्ववेदभाष्य के काण्ड १४-१७ की मुद्रण व्यवस्था के लिए हार्दिक धन्यवाद। श्री रमेश आर्य पुस्तक-बन्धनालय दिल्ली को ग्रन्थ की उत्तम साज-सज्जा और सुदृढ़-सुन्दर जिल्द तैयार करने के लिए हार्दिक धन्यवाद।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत

विजयपाल विद्यावारिधि
१० सितम्बर सन् २००८ ई॰

भाष्यकार का संक्षिप्त परिचय

भाष्यकार प्रोफेसर विश्वनाथ का जन्म सन् १८८९ में गुजरांवाला (पाकिस्तान) में हुआ था उन्हें नौ वर्ष के वयः में गुजरांवाल की वैदिक पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया। यह पाठशाला गुरुकुल का प्रारम्भिक बीज थी। वैदिक पाठशाला के संचालक महात्मा मुंशीराम थे और आचार्य पं० गंगादत्त थे। कुछ काल पश्चात् सब छात्र तथा अध्यापक गुरुकुल काङ्गड़ी में पहुंचे। आप ने गुरुकुल काङ्गड़ी से सन् १९१४ में 'विद्यालंकार' उपाधि प्राप्त की। दीक्षान्त समारोह में आप को चार सुवर्ण पदक और एक रजत पदक प्राप्त हुए थे। उसी वर्ष आप गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। प्रारम्भ में आपने दर्शन शास्त्र और रसायनशास्त्र का अध्यापन किया बाद में वेद विषय पढ़ाने लगे। आचार्य रामदेव के आचार्यत्व काल में उपाचार्य के रूप में पन्द्रह वर्ष तक कार्य करते रहे। गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय ने आप को 'विद्यामार्त्तण्ड' की मानदोपाधि से विभूषित किया था। आप सन् १९४२ में सेवा निवृत्त हुए। उसके पश्चात् आप लेखन में प्रवृत्त हुए। ११ मार्च सन् १९९१ को एक सौ तीन वर्ष की परिपक्व आयु में परलोक प्रयाण किया।

वैदिक साहित्य की सेवाओं के उपलक्ष्य में आप को संस्थाओं द्वारा सम्मानित तथा पुरस्कृत किया गया। उनमें से प्रमुख हैं– सन् १९७९ में 'गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार', सन् १९८३ में 'गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार', 'उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी पुरस्कार' और सन् १९८७ में वेदवेदाङ्ग पुरस्कार।

भाष्यकार की कृतियाँ– १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य २. सन्ध्यारहस्य ३. वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा ४. वैदिक जीवन ५. वैदिक गृहस्थाश्रम ६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश ७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ८. अथर्ववेदपरिचय ९. अथर्ववेदभाष्य (१-२० काण्ड) १०. यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा।

भूमिका

काण्ड चौदहवां

१—चौदहवें काण्ड के दो अनुवाक और दो ही सूक्त हैं। प्रत्येक अनुवाक प्रत्येक सूक्त रूप है।

२—प्रथम अनुवाक या प्रथम सूक्त के प्रारम्भ के १ से ५ मन्त्र दोनों अनुवाकों या सूक्तों की पूर्व पीठिकारूप हैं। इन ५ मन्त्रों में विवाह से पूर्व विवाहानुरूप निर्देश दिये गए हैं। इस दृष्टि से इन ५ मन्त्रों में पठित "भूमि" द्वारा "सन्तानोत्पादक" भूमि, अर्थात् मातृशक्ति; तथा "द्यौः" द्वारा "पितृशक्ति"; "आदित्याः" द्वारा "आदित्य-ब्रह्मचारी"; "दिवि" द्वारा "मस्तिष्क"; "सोम" द्वारा "वीर्य"; "नक्षत्राणाम्" द्वारा "अक्षत वीर्य वाले"; "उपस्थे" द्वारा "उपस्थेन्द्रिय",—ऐसे अर्थ किये गए हैं। प्रचलित अर्थों के अनुसार, इन ५ मन्त्रों का, अवशिष्ट विवाह मन्त्रों के साथ, कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

३—६ से ८ मन्त्रों में दहेज का वर्णन हुआ है, जो कि आदर्शरूप है। इन मन्त्रों में वधू के सद्गुणों को दहेजरूप में वर्णित किया है। अनुवाक २ या सूक्त २ के ४१ और ४२ मन्त्रों में वधू तथा वर को कन्यापक्ष से केवल वस्त्र प्रदान का वर्णन हुआ है। १४।२।१२ में वधू के आभूषणों का भी वर्णन प्रतीत होता है। अभिप्राय यह कि दहेज, वस्तुतः वधू के सद्गुण ही हैं। शेष वस्त्र आदि यथेच्छ प्रदेय हैं।

४—काण्ड १४ वें के दोनों सूक्तों को सूर्या-सूक्त कहते हैं। अथर्व०१९। २३।२४ में "सूर्याभ्यां स्वाहा" द्वारा काण्ड १४ वें के इन दो सूक्तों अर्थात् सूर्या सूक्तों का निर्देश किया है। "आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्" (अथर्व० १४।२।३०) में "सूर्या सावित्री"[1] नाम देख कर, इन दो सूर्यासूक्तों

१. "सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्" (अथर्व० १४।१।१३) में भी सूर्या के विवाहकर्त्ता, उत्पादक पिता को सविता कह कर, सूर्या को सावित्री निर्दिष्ट किया है।

का ऋषिनाम अर्थात् "सावित्री सूर्या" कल्पित कर लिया प्रतीत होता है। अथवा सम्भवतः सावित्री नाम ऋषि का संस्कार हो, और सूर्या उसकी उपाधि हो। वर्तमान में भी वैदिक नामों के आधार पर सावित्री, सरस्वती, गायत्री, शंनोदेवो आदि संस्कारज नाम रख लिये जाते हैं। अनुक्रमणिकाकार ने "सावित्री-सूर्या" को दोनों सूर्यासूक्तों का ऋषि [ऋषिका] कहा है।

५—दोनों सूर्या-सूक्तों में आधिभौतिक विवाह का ही वर्णन हुआ है। इसलिये मन्त्रों में सूर्या का अर्थ सूर्या-ब्रह्मचारिणी किया गया है। इस ब्रह्मचारिणी के लिये उपयुक्त वर आदित्य-ब्रह्मचारी है। इसीलिये १४।१।१-२ में आदित्य का वर्णन हुआ है। असूर्या-कुमारियों का भी विवाह, सूर्यासूक्तों में निर्दिष्ट मन्त्रों द्वारा होना मन्त्रानुमोदित है। इस लिये **"तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया"** (१४।१।५३) में **"सूर्यामिव"** द्वारा उपमेय असूर्या-कुमारी के विवाह को भी सूचित किया है।

६—सूर्या सूक्तों में पाणिग्रहण (१४।१।४८), तथा लाजाहोम (१४।२।६३) का वर्णन हुआ है। १४।२।६३ में पूल्यानि द्वारा फुल्लियों अर्थात् लाजाओं का निर्देश किया है। परन्तु "सप्तपदी" का वर्णन इन सूक्तों में नहीं हुआ। अतः मन्त्र दृष्टि में "सप्तपदी" विधि विवाहाङ्ग प्रतीत नहीं होती। अथर्व० ५।११।९,१० में **"युज्यो मे सप्तपदः सखासि"** तथा **"युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि"** द्वारा "वरुण और उपासक" में साप्तपदीन-सखिभाव का वर्णन हुआ है। सम्भवतः इस साप्तपदीन-सखिभाव को देख कर, पद्धतिकारों ने, **"सखे सप्तपदी भव"** आदि सप्तपदी विधि का समावेश विवाह पद्धति में करना आवश्यक समझा हो।

मन्त्र में **"सप्तपदः सखा"** का अभिप्राय है, सात [वैदिक छन्दों के] पदों द्वारा सम्पादित सखा। उपासक, वैदिक पदों द्वारा, वरुण-परमेश्वर की स्तुति-उपासना कर के, उस के साथ सख्य सम्पादन करता है। **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** (अथर्व० ९।९।१०) में परमेश्वर और जीवात्मा में सखिभाव माना है।

७—गृहस्थी के लिये आयु के तृतीय भाग में वानप्रस्थ की यद्यपि सामान्यविधि है (अथर्व० १४।१।२३), तथापि प्रत्येक गृहस्थी के लिये नियत समय में वानप्रस्थ ग्रहण करना आवश्यक नहीं (अथर्व० १४।१।२२)। वानप्रस्थ तथा संन्यास के लिये विशेष योग्यता तथा वैराग्य भावना का होना आवश्यक है, जिस का होना कि प्रत्येक गृहस्थी में सम्भव नहीं।

८—विवाहानन्तर, गृहस्थ के शासन में वेद, नववधू को विशेषाधिकार देता है। वह है सम्राज्ञीपन (१४।१।४३,४४)। श्वसुर, सास, देवरों, ननान्द आदि पर सम्यक्-राज्य करने का अधिकार या कर्त्तव्य नववधू को प्राप्त हो जाता है। परन्तु यह राज्य तभी सम्यक् राज्य का स्वरूप धारण करता है जबकि इस राज्य या शासन में नम्रता का पुट लगा हो। सम्राज्ञी का अर्थ है सम्यक्-राज्य करनेवाली। परन्तु इस सम्यक्-राज्य में यह आवश्यक है कि नववधू पितरों अर्थात् श्वशुर-सास आदि बुजुर्गों के प्रति, सदा विनम्र बनी रहे, तथा देवर आदि के प्रति प्रेमभावना को सदा बनाए रखे। **"अधा सरस्वत्यै नारी पितृभ्यश्च नमस्कुरु"** (१४।२।२०)। नववधू प्रतिदिन सरस्वती का पूजन अर्थात् वेदों का स्वाध्याय किया करे और पितरों को नमस्कार किया करे। परन्तु पत्नी को पति की अनुव्रता हो कर गृहस्थ शासन करना चाहिये (१४।१।४२), यथा **"पत्युरनुव्रता भूत्वा"**।

९. गृहस्थधर्म के पालन के साथ साथ पत्नी को अमृत की प्राप्ति के लिये भी यथोचित कर्त्तव्यों के परिपालन में सदा यत्न करते रहना चाहिये **"सं नह्यस्वामृताय कम्"** (अथर्व० १४।१।४२)। इस मन्त्र में अमृत की प्राप्ति के लिये सदा कमर कसे रहने का उपदेश नववधू को दिया गया है। **संनह्यस्व**=सम्+नह् (बन्धने)।

१०. अथर्व० १४।१।२१ में **"अथ जिर्विर्विदथमावदासि"** द्वारा, बुढ़ापे में, ज्ञानोपदेश देने का अधिकार भी पत्नी को प्राप्त है। जिर्विः पद द्वारा सम्भवतः संन्यास का अधिकार पत्नी को दिया गया हो। **जिर्विः**=जृ वयोहानौ (उणा० ४।५५)।

११—गृहस्थ जीवन को सुखी करने के लिये मन्त्रों में पति के लिये भी कतिपय निर्देश दिये हैं। यथा पत्नी के अनुकूल होकर चलना, उस का अनुवर्ती होना (१४।१।५६)। पत्नी को अपने मन का कुलाय अर्थात् आश्रय समझना पत्नी से छिप कर न खाना-पीना (१४।१।५७)। पति को संभल अर्थात् सम्यग्-भाषी होकर पत्नी के साथ रुचिकर संभाषण सदा करना (अथर्व० १४।१।३१,१९)। पत्नी को अपना आश्रय और स्वयम् को पत्नी के आश्रित समझना (१४।२।७२)। गृहोपयोगी सार वस्तुओं द्वारा घर को सम्पन्न रखना (१४।२।७०)। यदि पति इन दृष्टियों से पत्नी के साथ

बर्ताव करे तो गृहस्थ स्वर्गधाम हो जाय। प्रायः पतियों की ओर से ही पत्नियों के साथ दुर्व्यवहार होते हैं।

१२—पति और पत्नी को, गृहस्थादि व्यवहारों के परिज्ञान के लिये, वेदों के दैनिक स्वाध्याय का भी उपदेश दिया है (अथर्व० १४।१।६४)।

—:o:—

काण्ड पन्द्रहवां

१—१५ वां काण्ड अति रहस्यमय है। १५ वें काण्ड के सम्बन्ध में अथर्ववेद के अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले "विलियमड्विट ह्विटनी" लिखते हैं कि "In spite of its purility and the surface-obscurity, the book is not unworthy of a searching investigation", अर्थात् "इस काण्ड में बच्चों की सी बातों के सदृश तुच्छ वर्णनों, तथा इसके आपाततः दुर्बोध होते हुए भी, काण्ड अनुसन्धान के अयोग्य नहीं।" परन्तु अनुक्रमणिका में इस काण्ड के आरम्भ में लिखा है—अध्यात्मम्। इस कथन से प्रेरित होकर, काण्ड के मन्त्रों का गहरा अध्ययन कर, परिणामरूप में मन्त्रों के बुद्धिगम्य अर्थों के करने में मुझे यथा कथंचित् सफलता अवश्य प्राप्त हुई है।

२—१५ वें काण्ड में दो अनुवाक हैं। और १८ सूक्त। तथा इनका देवता है—व्रात्य। अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त २३, मन्त्र २५ वें में इन दो अनुवाकों को "व्रात्याभ्यां स्वाहा" द्वारा सूचित किया है।

३—काण्ड १५ वें में १८ सूक्त १, और १५-१८ में व्रात्य-परमेश्वर का वर्णन है। १८ वें सूक्त में परमेश्वर के विराट्-स्वरूप का वर्णन हुआ है। सूक्त २-७ में व्रात्य-संन्यासी का कथानकरूप में वर्णन हुआ है, जो कि परकृति-रूप-अर्थवाद में हुआ है। यह काल्पनिक है, किसी विशेष व्यक्तिरूप-संन्यासी का वर्णन नहीं। इस वर्णन में प्राची आदि दिशाओं में संन्यासी की यात्रा का सा वर्णन हुआ है, जो कि मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों के सदृश केवल मानसिक-परिक्रमारूप है। सूक्त ३ में व्रात्य-संन्यासी की आसन्दी अर्थात् विश्राम-कुर्सी का वर्णन हुआ है, जिस के निर्माण में वस्तुओं और वेदों को अवयवरूप में वर्णित किया है। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संन्यासी की यात्रा तथा आसन्दी—कल्पनामय ही हैं। इसी प्रकार सूक्त ६ और ७ के वर्णन भी केवल कल्पनामय हैं—यह इन में वर्णित विषयों द्वारा स्पष्ट है। सूक्त ८

और ९ में व्रात्य-राजन्य का वर्णन हुआ है। सूक्त १० से १४ तक में व्रात्य-अतिथि का; तथा १४ वें में विशेषरूप से व्रात्य-अतिथि "आत्माग्निहोत्री" का वर्णन हुआ है।

४—सूक्त ६ के ११ वें और १२ वें मन्त्रों में "इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी" पद पठित हैं, इन की यथोचित व्याख्या वेद प्रमाणों के आधार पर की गई है।

५—मन्त्रों में "य एवं वेद" द्वारा फलप्राप्तियों का वर्णन हुआ है, अर्थात् इस द्वारा यह दर्शाया है कि जो व्यक्ति "इस प्रकार जानता है"—वह अमुक अमुक फलों को प्राप्त कर लेता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान का पर्यवसान कर्म में होता है। यथा "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थ-कामतदर्थानाम्" (मीमांसा), अर्थात् वेद, क्रिया अर्थात् आचरण के लिये हैं, अतः आचरण रहित ज्ञान, अनर्थक है। इसलिये मन्त्रार्थों में "य एवं वेद" के अर्थ किये हैं कि "जो इस प्रकार जानता तथा तदनुसार आचरण करता है।"

६—मन्त्र गद्यप्राय प्रतीत होते हैं, इसलिये इन के छन्दों का निर्देश नहीं किया, यद्यपि अनुक्रमणिका में इन मन्त्रों के छन्दों का निर्देश किया है।

—:o:—

काण्ड सोलहवां

१—अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त २३, मं० २६ में "प्राजापत्याभ्यां स्वाहा" द्वारा १६ वें काण्ड के दो अनुवाकों को सूचित किया है। इससे प्रतीत होता है कि इन दो अनुवाकों का ऋषि केवल प्रजापति परमेश्वर है। इन दो अनुवाकों के ऋषि के सम्बन्ध में अनुक्रमणिका में कहा है, "प्राजापत्यस्य नव पर्यायाः"। १६ वें काण्ड में ९ सूक्त हैं, इन सूक्तों को अनुक्रमणिका-कार ने पर्याय कहा है। प्रथम अनुवाक में ४ सूक्त या पर्याय हैं, और द्वितीय सूक्त में ५ हैं।

कां० १६।८।३१ में "प्रजापतेः" पद पठित है। क्या इस पद की दृष्टि

से दो अनुवाकों को "प्राजापत्याभ्यां स्वाहा" में "प्राजापत्य" कहा है, — यह कहा नहीं जा सकता।

२—१६ वें काण्ड के मन्त्र प्रायः गद्यमय हैं। यद्यपि अनुक्रमणिका में इन मन्त्रों के छन्दों का भी निर्देश किया है। मध्य-मध्य में कतिपय मन्त्र छन्दोमय अवश्य हैं।

३—प्रथम अनुवाक के सूक्त १ में आप:, और आप: में वर्तमान घोर-अग्नि तथा शिव-अग्नियों का वर्णन करके, सूक्त २, ३ और ४ में शिव अग्नियों के शिवपरिणामों का कथन हुआ है। सूक्त ४ पर अनुवाक १ समाप्त हो जाता है।

द्वितीय अनुवाक के सूक्त १ (अर्थात् क्रमिक सूक्त ५ वें) में स्वप्न के कारणों को दर्शा कर, सात्विक स्वप्न द्वारा दुष्वप्न्य से छुटकारा पाने का वर्णन हुआ है। दुष्वप्न्य का अर्थ है दुःस्वप्न और दुःस्वप्नों के दुष्परिणाम।

५—दुष्वप्न्य दो प्रकार का है "जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्ने दुष्वप्न्यम्" (१६।६।६) तथा "यज्जाग्रद् यत्सुप्तो यद् दिवा" (६।७।१०)।

६—द्वितीय अनुवाक के सूक्त ५ से ७ में सात्विक स्वप्न द्वारा दुष्वप्न्य पर विजय तथा दुष्वप्न्य के कारणों का वर्णन हुआ है।

७—सूक्त ८ वें में परराष्ट्र द्वारा आक्रमण सम्बन्धी दुष्वप्न्यों पर विजय पाकर, उसके अधिकारियों के निमित्त नानाविध दण्ड विधानों का वर्णन कर, सूक्त ९ वें में परराष्ट्र के दुष्वप्न्यों पर विजय पाने की प्रसन्नता प्रकट की गई है।

—:०:—

काण्ड सत्रहवां

१—अथर्ववेद काण्ड १६, सूक्त २३, मन्त्र २७ "विषासह्यै स्वाहा" द्वारा काण्ड सत्रहवें की सत्ता को सूचित किया है। काण्ड सत्रहवें का प्रारम्भिक पत्र "विषासहिं" शब्द द्वारा प्रारम्भ होता है। यथा "विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्",—इत्यादि।

२—अनुक्रमणिका में १७ वें काण्ड का देवता "आदित्य" कहा है। आदित्य के २ अर्थ १७ वें काण्ड में अभिप्रेत हैं। आधिदैविक दृष्टि में अदित्य का अर्थ है प्राकृतिक सूर्य जिसकी स्थिति द्युलोक में है। आध्यात्मिक दृष्टि में आदित्य का अर्थ है—आदित्यों का भी आदित्य, परमेश्वर।

३—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में परमेश्वर के नाम निर्दिष्ट किये हैं—अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः तथा प्रजापति।

इस मन्त्र के प्रारम्भ में "तत्" शब्द पठित है। "तत्" द्वारा ब्रह्म का निर्देश किया गया है। यथाः—"ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" (गीता १७,२३), तथा गीता १७।२५ में भी "तत्" द्वारा ब्रह्म का निर्देश किया है।

यदि "तत्" पद को पूर्वपरामर्शी माना जाय तो इस का सम्बन्ध पूर्ववर्ती "ब्राह्मं रुचम्" (यजु० ३१।२०,२१) के साथ जानना चाहिये, अर्थात् वह "ब्राह्मं रुचम्" ही अग्नि, आदित्य आदि शब्दों द्वारा वाच्य है। इस प्रकार १७ वें काण्ड में आदित्य पद द्वारा सूर्य और परमेश्वर का मिश्रित वर्णन हुआ है।

१७ वें काण्ड में निम्नलिखित देवतनाम और पठित हैं। यथा:— इन्द्र, सूर्य, महेन्द्र, विष्णु, लोक,प्रजापति, आदित्य, पश्यप और अग्नि— इन नामों द्वारा भी १७ वें काण्ड में, यत्र-तत्र, सूर्य और परमेश्वर का वर्णन हुआ है।

४—१७ वें काण्ड में "सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का भी निर्देश हुआ है (मन्त्र १९)।

५—"त्रिदिवं दिवः" (मन्त्र १०) में द्युलोक के तीन विभाग का वर्णन हुआ है। आध्यात्मिक तथा आधिदैविक रूप में इस तीन-विभाग को भी दर्शाया है।

६—इसी प्रकार आदित्य और सूर्य की "शतारित्रां नावम् (मन्त्र २५, २६) के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

७—मन्त्र १५ में "तृतम् और सहस्रधारम् उत्सम्" के यथार्थ अभिप्रायों को भी प्रकट करने का प्रयत्न किया है। तृतम् = त्रितम्। "त्रि" को सम्प्रसारण होने पर "तृ" रूप बना है। यथा "तृतीयम्, तृचम्" आदि। "त्रेः सम्प्रसारणं च" (अष्टा० ५।२।५५) द्वारा त्रि के "र्" के स्थान में "ऋ" हुआ है।

६१ कांवली रोड
देहरादून (यू० पी०)

ग्रन्थकार
प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार,
विद्यामार्तण्ड

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेद-भाष्यम्

काण्ड १४; अनुवाक १

सूर्या-विवाह-सूक्त १

१-६४ "सावित्री" सूर्या। आत्मदैवत्यम्। १-५ सोमः; ६-२२ स्वविवाहः; २३ सोमार्कौ; २४ चान्द्रमसम्; २५ नृणां विवाहम आशिषः, २५, २७ वधूवासःसंस्पर्शमोचनौ। आनुष्टुभम्; १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५ आस्तारपंक्तिः, १९, २०, २३, २४, ३१-३३, ३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, ५८, ५९, ६१ त्रिष्टुप् २३, ३१, ४५ (बृहतीगर्भा); २१, ४६, ५४, ६४ जगती (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुप्); २९, ५५ पुरस्ताद् बृहती; ३४ प्रस्तारपंक्तिः; ३८ पुरोबृहती त्रिपदा परोष्णिक् (४८ पथ्यापंक्तिः); ६० परानुष्टुप्।

आदर्श विवाह की पूर्वपीठिका (मन्त्र १ से ५ तक)

१. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥१॥

(सत्येन) सत्य द्वारा (भूमिः) सन्तानोत्पादक भूमि अर्थात् मातृशक्ति (उत्तभिता) थामी हुई है, (सूर्येण) दृष्टि[1] शक्ति तथा मस्तिष्क शक्ति द्वारा (द्यौः), पितृशक्ति (उत्तभिता) थामी हुई है। (ऋतेन) नियमों द्वारा (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (तिष्ठन्ति) अपने व्रतों में स्थित रहते हैं, जिन के कि (दिवि) सिर या मस्तिष्क में (सोमः) वीर्य (अधिश्रितः) आश्रित होता है।

---

१. "चक्षोः सूर्योऽअजायत" (यजुः ३१।१२) में, सूर्य और चक्षुः अर्थात् दृष्टि का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है।

[भूमिः=मातृशक्ति "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" (अथर्व० १४।२।७१) । विवाह संस्कार में वर कहता है कि हे वधू ! मैं तो द्यौ हूं और तू पृथिवी है । भूमिः—भवन्ति, उत्पद्यन्ते, अपत्यानि यस्याम् । सूर्येण=चक्षुषा "चक्षोः[1] सूर्योऽ अजायत" (यजु० ३१।१२) तथा "यस्य सूर्यः चक्षु" (अथर्व० १०।७।३३) ।

द्यौः=पितृशक्ति (अथर्व० १४।२।७१) । दिवि—सिर में, "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२); तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१ १३) । सोमः—वीर्य; "रेतः सोमः" (कौ० ब्रा० १३।७; श० ब्रा० ३ ३।२।१; ३।३।४।२८; ३।४।३।११; १।९।२।९; २।५।१ ९; ३।८।५।२; तं० ब्रा० २।७।४।१]

व्याख्या—सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान का सम्बन्ध मातृशक्ति के साथ दर्शाया है । माताओं में धर्मभावना अधिक जागरूक रहती है । मातृशक्ति में यदि सत्याचार और सत्यानुष्ठान का अभाव हो तो सन्तति पर इसका बुरा प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ता है, और नैतिक दृष्टि से समाज-संगठन भी अधिक ढीला पड़ जाता है । इसलिये मातृशक्ति में सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान की अत्यन्त आवश्यकता है ।

सूर्य द्वारा द्युलोक थमा हुआ है,—ऐसा अर्थ युक्ति विरुद्ध है । सूर्य भी एक नक्षत्र या तारा है । यथा "अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि" (ऋ० १०।१५६।४) ।

हे अग्नि! तूने अजर-नक्षत्र सूर्य को द्युलोक में आरूढ किया है । द्युलोक में अन्य नक्षत्र तथा तारे इस सूर्य से भी बड़े हैं, अतः यह सूर्य द्युलोक को थामे हुए है,—यह कथन उपपन्न नहीं हो सकता । साथ ही यह भी जानना चाहिये कि काण्ड १४ के सूक्त १ और २ विवाहपरक हैं । विवाह के प्रकरण में "सूर्य द्युलोक को थामे हुए है"—ऐसा वर्णन निष्प्रयोजन है । ऐसे ही मन्त्र के शेष भाग की भी प्रसिद्ध व्याख्या युक्तिरहित है ।

पितृशक्ति में सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान के साथ साथ दृष्टिशक्ति और दिमागी शक्ति का प्राधान्य होना चाहिये । पितृशक्ति में ये दो गुण प्रायः प्रधान होते हैं । दृष्टिशक्ति का अभिप्राय है देखने-परखने की शक्ति, तथा दिमागी शक्ति का अभिप्राय है विचार, निर्णय आदि शक्तियां ।

---

१. द्र० पृष्ठ १ की टिप्पणी १ ।

मातृशक्ति में हृदय का प्राधान्य होना चाहिए और पितृशक्ति में दिमाग का । इसीलिये मन्त्र में मातृशक्ति के साथ सत्य का सम्बन्ध दर्शाया है, और पितृशक्ति के साथ सूर्य का अर्थात् ज्ञान प्रकाश का । मातृशक्ति की स्थिति सत्यनिष्ठा पर निर्भर है और पितृशक्ति की दिमाग पर ।

ऋत[1] का अर्थ है नियम तथा पवित्रकर्म आदि । ब्रह्मचर्याश्रम में ऋत अर्थात् नियमों तथा पवित्र कर्मों की बड़ी आवश्यकता होती है । बिना नियमों और पवित्रकर्मों के वसु=ब्रह्मचारी [२४ वर्षों का ब्रह्मचारी] बनना भी दुष्कर हो जाता है, आदित्य=ब्रह्मचारी अर्थात् ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य-पालन करना तो सुतरां अति कठिन है । मन्त्र में यह दर्शाया है कि आदित्य ब्रह्मचारी बनने के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारी ऋत-मार्ग का अवलम्ब ले, अनृत-मार्ग का नहीं ।

मंत्र में सोम शब्द का अर्थ वीर्य हैं । इस सम्बन्ध में अन्य प्रमाण:—

(अ) सोम शब्द "सु" धातु से बना है जिस का अर्थ प्रसव भी है । वीर्य, प्रसव का कारण है । Seed, Semen शब्दों में भी "सु" धातु ही प्रतीत होती है । सोम शब्द में "सु" धातु और "मन्" प्रत्यय है (उणा० १।१४०) । अतः सोम का मौलिकरूप "सुमन्" है, जो कि Semen का अनुरूप है । Semen का अर्थ आङ्गल भाषा में वीर्य है ।

(आ) यजुर्वेद १९ तथा २० अध्यायों में सोम को शुक्र, रेतः, और इन्द्रिय कहा है (१९।७२, ७६, ७९; २०।५५) । शुक्र का अर्थ वीर्य भी होता है । तथा इन्द्रिय का अर्थ बल[2] और सामर्थ्य भी । वीर्य द्वारा बल और सामर्थ्य प्राप्त होता है ।

(इ) आयुर्वेद में अग्नि और सोम शब्द का प्रयोग रजस् तथा वीर्य के लिए हुआ है । यथा "सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्", अर्थात् शुक्र सोम है, तथा ऋतुधर्म अग्नि है । तथा "शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन । ततोऽग्निसोमसंयोगात् संसृज्यमानो, गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञः" (सुश्रुत, शरीर स्थान, अ० ३) । अर्थात् शुक्र (वीर्य) पुरुष से च्युत होकर योनि में आता है, और ऋतुधर्म (रजस्) के साथ मिलता है । तब

---

१. ऋत=Thoper, Right, Fixed or settled rule, law, Gious action, Divine truth (आप्टे) ।

२. इन्द्रिय=Power, force (आप्टे) ।

अग्नि और सोम के संयोग के साथ मिलकर जीवात्मा गर्भाशय को प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य के अनुसार संसार तीन लोकों में बंटा हुआ है। पृथिवी-लोक, अन्तरिक्ष लोक, तथा द्युलोक में। आधिदैविक दृष्टि में ये तीन लोक प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में पैर से कटिभाग तक पृथिवीलोक, मध्यभाग अन्तरिक्षलोक, तथा ज्ञानेन्द्रियों समेत सिर द्युलोक है। वेद में द्युलोक तथा मूर्धा अर्थात् सिर में उपमानोपमेयभाव दर्शाया है। यथा—

"दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व० १०।७।३३)। इसलिये प्रकरणानुसार मन्त्र में "दिवि" का अर्थ है सिर या मस्तिष्क में। मन्त्र के उत्तरार्ध में यह दर्शाया है कि नियमों तथा कर्तव्यों के पालन करने पर मनुष्य आदित्य-ब्रह्मचारी बनता है, और इन आदित्य-ब्रह्मचारियों के दिव् अर्थात् मस्तिष्क या सिर में सोम अर्थात् वीर्य आश्रित रहता है, अर्थात् वीर्य इन के मस्तिष्क तथा विचारशक्ति का निर्माण और परिपोषण करता है। ऐसे ब्रह्मचारी को "ऊर्ध्वरेता" कहते हैं। इस प्रकार मंत्र में मातृशक्ति और पितृशक्ति में भेद दर्शा कर, अन्त में उच्चकोटि के ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है, और साथ ही ब्रह्मचर्य के साधनों का भी वर्णन हुआ है। मंत्र का सार यह है कि उच्चकोटि के आदित्य-ब्रह्मचारी का, तथा सत्य आदि धार्मिक भावनाओं वाली और भूमि के सदृश उत्पादनशक्ति वाली "सूर्या" नामक ब्रह्मचारिणी का परस्पर विवाह आदर्श विवाह है।

वीर्यशक्ति का प्रभाव

२. सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिनः॒ सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही ।
अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥२॥

(सोमेन)[1] वीर्य द्वारा (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (बलिनः) बलवान् होते हैं, (सोमेन)[1] वीर्य द्वारा (पृथिवी) मातृशक्ति (मही) पूजनीया होती है। (अथो) तथा (एषाम्) इन (नक्षत्राणाम्) अक्षतवीर्यों तथा

१. सोमशब्द यद्यपि वीर्यार्थक है। परन्तु इन मन्त्रों में "सन्तानोत्पादक-तत्त्व" अर्थ लेना चाहिये, जो कि सोम शब्द का धात्वर्थ है। अतः सोमशब्द द्वारा वीर्य और रजस् दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं।

अक्षतयोनियों के (उपस्थे) उपस्थेन्द्रियों में (सोमः) वीर्य तथा रजस् (आहितः) स्थित होता है।

[पृथिवी=स्त्री। मन्त्र १ में भूमि शब्द द्वारा स्त्री का निर्देश किया है। इस के लिये मन्त्र १ पर टिप्पणी द्रष्टव्य है। मही=मह पूजायाम्। नक्षत्राणाम्=न+क्षत्+र। अर्थात् अक्षतवीर्य और अक्षतयोनि वाले पुरुषों और स्त्रियों के। उपस्थे=जननेन्द्रिय में। सोम शब्द द्वारा पुरुषनिष्ठ और स्त्रीनिष्ठ सन्तानोत्पादक-तत्त्व अर्थात् वीर्य और रजस् अभिप्रेत हैं]

व्याख्या—आदित्य ब्रह्मचारी वीर्य द्वारा बलवान् होते हैं। ४८ वर्षों का ब्रह्मचारी आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। स्त्री-ब्रह्मचारिणी भी रजस् शक्ति के कारण पूजनीया होती है। स्त्री का स्थान वह है जो कि भूमि और पृथिवी का है। बंजर पृथिवी अनुत्पादिका होती है। बीज डालने पर पृथिवी जब हरी-भरी हो जाती है तब उस की शोभा होती है। इसी प्रकार पुरुष के वीर्यरूपी बीज के कारण जब माता की गोद मानो हरी-भरी हो जाती है, तब माता बन कर स्त्री, पूजा तथा मान का स्थान बन जाती है। जिन का वीर्य या रजस् ब्रह्मचर्याश्रम में क्षत नहीं होता उनके ही उपस्थेन्द्रियों में, गृहस्थाश्रम के काल में, वीर्य उपस्थित होता है, और जिन का वीर्य क्षत होता रहता है वे निर्वीय हो जाते हैं, और गृहस्थ जीवन के उचित समय में उन की उपस्थेन्द्रियों में वीर्य की उपस्थिति नहीं होने पाती। वे सन्तान-कर्म के लिये निःशक्त हो जाते हैं। पृथिवी=प्रथ-विस्तारे। माता सन्तानों द्वारा समाज का विस्तार करती है।

वास्तविक सोमपान

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान् यत् सं॑पि॒षन्त्योष॑धिम् ।
सोमं॒ यं ब्र॒ह्माणो॑ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ पार्थि॑वः ॥३॥

(यत्) जब [ऋत्विक् लोग] (सोमम्, ओषधिम्) सोम ओषधि को (सं पिषन्ति) मिल कर या सम्यक्तया पीसते हैं [तो यजमान] (मन्यते) मानता है कि (सोमम्) सोम को (पपिवान्) मैंने पी लिया है। परन्तु (ब्रह्माणः) ब्रह्मवेत्ता या वेदवेत्ता (यम्) जिसे (सोमम्) सोम (विदुः) जानते हैं, (पार्थिवः) पृथिवीभोगी पुरुष (तस्य) उस सोम का (अश्नाति, न) अशन या सेवन नहीं करता।

व्याख्या—मन्त्र में सोमपान का वर्णन है। मन्त्र में कहा है कि सोम ओषधि को कूट-पीस कर और उस का रस निकाल कर पीने से जो व्यक्ति समझ लेता है कि मैंने सोम का पान कर लिया वह सोमपान के अभिप्राय को ठीक प्रकार से नहीं समझ रहा होता। ब्रह्मवेत्ताओं या वेदवेत्ताओं के मत में सोमपान और ही वस्तु है। पार्थिव अर्थात् स्त्रीभोगी पुरुष, ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा ज्ञात सोमपान नहीं कर सकता। ब्रह्मवेत्ताओं का सोमपान है सन्तानोत्पादकतत्त्व को शरीर में ही लीन कर देना, और उस के द्वारा मस्तिष्कशक्ति, शारीरिक शक्ति, और आत्मिकशक्ति को बढ़ाना। पार्थिवः=मन्त्र १,२ में भूमि और पृथिवी शब्द द्वारा स्त्री का वर्णन हुआ है। अतः पार्थिव शब्द का अर्थ "स्त्रीभोगी" किया गया है। ऐसे भोगों को पार्थिवभोग तथा Earthly enjoyments कहते हैं।

वीर्य या सन्तानोत्पादक-तत्त्व की वृद्धि, रक्षा तथा निर्माण

४ः यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥४॥

(सोम) हे वीर्य अर्थात् सन्तानोत्पादक-तत्त्व ! (यत्) जब (त्वा) तुझे (प्र पिबन्ति) ब्रह्मचारी प्रकर्षरूप में पीते हैं, (ततः) तदनन्तर) (पुनः) फिर अर्थात् और अधिक (आ प्यायसे) तू बढ़ता है। (वायुः) प्राणायाम (सोमस्य) वीर्य अर्थात् सन्तानोत्पादक-तत्त्व की (रक्षिता) रक्षा करता, (आकृतिः) तथा उस का निर्माण करता है, जैसे कि (मासः) मास (समानाम्) वर्षों का (आकृतिः) निर्माण करता है।

व्याख्या वीर्य के पान अर्थात् वीर्य को रक्त में अन्तर्लय करने पर वीर्य और अधिक बढ़ता है। प्राणायाम और शुद्ध वायु के सेवन से वीर्य की रक्षा और उस का निर्माण होता है। शुद्ध वायु और शुद्ध वायु में किये गए प्राणायाम द्वारा वीर्य के निर्माण में मास और वर्ष का दृष्टान्त दिया है। मास और वर्ष में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है। मासों का समुदाय ही वर्ष होता है। इस दृष्टान्त द्वारा वेद ने यह दर्शाया है कि शुद्ध वायु और शुद्धवायु में किये गए प्राणायाम और वीर्य में भी तादात्म्य सा सम्बन्ध है। मानो शुद्ध वायु और प्राणायाम ही वीर्यरूप में परिणत हो जाते हैं। इस तादात्म्य सम्बन्ध को दर्शा कर वेद ने वीर्य के निर्माण तथा उस की रक्षा के सम्बन्ध में प्राणायाम का महत्त्व दर्शाया है। ["समानाम्"

में समा का अभिप्राय है, चान्द्रवर्ष। वेद में चन्द्रमा को मासों का निर्माता कहा है। यथा **"अरुणो मासकृद् वृकः"** (ऋ० १।१०५।१८) की व्याख्या में निरुक्तकार ने कहा है कि **"अरुण आरोचनो, मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमा, वृकः विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्त ज्योतिष्को वा"** (५।४।२०, २१)। संवत्सर=सौरवर्ष। **समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे** (३।१०।९)]

वीर्य रक्षा के उपाय

५. आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥५॥

(बार्हतैः) बृहती वेदवाणी में कथित (आच्छद्विधानैः) आच्छादन की विधियों द्वारा (सोम) हे वीर्य ! (गुपितः) तू अन्तर्लीन होता है, (रक्षितः) तथा सुरक्षित होता है। (ग्राव्णाम्) विद्वानों की [वाणियों को] (इत्) ही (शृण्वन्) सुनता हुआ (तिष्ठसि) तू [शरीर में] ठहरता है, (पार्थिवः) स्त्रीभोगी या पार्थिवभोगों में आसक्त पुरुष (ते) तेरा (अश्नाति, न) अशन अर्थात् पान नहीं करता।

[बार्हत=बृहती अर्थात् महती वेदवाणी में कथित। वेदवाणी बृहती है, यतः यह ईश्वरीय है, तथा मानुषसृष्टि के समकालीन है। बृहती=वाक् (श० ब्रा० १४।४।१।२२)। आच्छद्विधानैः=आच्छादन करने की विधियां, ढांकने की विधियां, सुरक्षित रखने की विधियां, जिन के द्वारा वीर्य शरीर में आच्छादित रहे वे विधियां। ग्राव्णाम्=" **विद्वांसो हि ग्रावाणः**"(श० ब्रा० ३।९।३।४)। तथा "**आ वां ग्रावाणो अश्विना धीभिर्विप्रा अचुच्यवुः**" (ऋ० ८।४२।४) में ग्रावाणः को विप्राः अर्थात् मेधावी कहा है, और धीभिः द्वारा इन्हें बुद्धिमान् कहा है]

व्याख्या—वेदोक्त आच्छादन की विधियों द्वारा, अर्थात् बचाव के वैदिक साधनों और उपायों द्वारा, वीर्य शरीर में लीन रह सकता है, और सुरक्षित हो सकता है। शृङ्गारोत्पादक गीतों, तादृश कथाओं तथा वार्तालापों से शरीर में वीर्य स्थित नहीं रहता। इस की स्थिरता के लिये विद्वानों द्वारा वेदवाणियों का सतत श्रवण अपेक्षित है। स्त्रीभोगी तथा पार्थिवभोगों में लिप्त पुरुष वीर्याशन अर्थात् सोमपान नहीं कर सकता।

सूर्या ब्रह्मचारिणी का दहेज

६. चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥६॥

(चित्तिः) सम्यक् ज्ञान (उपबर्हणम्) तकिया (आः) था, (चक्षुः) दृष्टि शक्ति (अभ्यञ्जनम्[1]) अञ्जन या सुरमा (आः) था, (द्यौः, भूमिः) द्युलोक और भूलोक (कोशः) ज्ञान का खज़ाना (आसीत्) था, (यत्) जब कि (सूर्या) सूर्या ब्रह्मचारिणी अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी (पतिम्) पति को गई या पहुंची ।

व्याख्या—उच्चकोटि का विवाह है आदित्य ब्रह्मचारी का आदित्य ब्रह्मचारिणी के साथ । इन मन्त्रों में आदित्य ब्रह्मचारिणी को सूर्या अर्थात् सूर्या ब्रह्मचारिणी कहा है । आदित्य ब्रह्मचारी ४८ वर्षों का ब्रह्मचारी होता है,और आदित्य ब्रह्मचारिणी ३२ या २४ वर्षों की । आदित्य ब्रह्मचारी के लिये मन्त्र संख्या १,२ में आदित्य नाम दिया है । इन दोनों की आयु के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि"स्त्रीकी आयु से वर की आयु, न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे" (संस्कार विधि, विवाह प्रकरण) । आजकल के रीति-रिवाज में वधू जब पति के घर जाती है तो वह अपने साथ पर्याप्त दहेज ले कर जाती है । वैदिक दहेज के सम्बन्ध में दर्शाया है कि सूर्या जब पति के घर गई तब वह चित्ति अर्थात् सम्यक् ज्ञान का तकिया, सधी-दृष्टिशक्ति का अंजन अर्थात् सुरमा, तथा द्युलोक और भूलोक के ज्ञानरूपी खज़ाने को अपने साथ ले कर गई ।

अभिप्राय यह कि आदर्श विवाह में बाह्य दहेज की कोई आवश्यकता नहीं है । जब उच्चकोटि के पढ़े-लिखे आदित्य ब्रह्मचारी और सूर्या ब्रह्मचारिणी में परस्पर प्रेमपूर्वक विवाह हो तब वधू का असली देहज वधू के सद्‌गुण, तथा उस की विद्या और सुशीलता आदि ही होते हैं ।

सम्यक्‌ज्ञान सिर को पवित्र करता और सिर का आश्रय होता है । इसलिये सम्यक्‌ज्ञान को विदुषी का तकिया कहा है । इसी प्रकार अञ्जन अर्थात् सुरमे का काम है चक्षु की शक्ति को बनाए रखना । सूर्या ब्रह्मचारिणी में जो दिव्य और विद्यासम्पन्न दृष्टि[1] शक्ति होती है वही मानो इस का सुरमा है । तथा द्युलोक और भूलोक का व्यापी ज्ञान ही सूर्या ब्रह्मचारिणी का महत्त्वशाली खज़ाना है, जिसे कि पिता के घर से पाकर वधू पति के घर की ओर प्रस्थान करती है ।

१. अभ्यञ्जनम् =Applying collyrium (सुरमा) to the eyelashes (आप्टे) ।

सूर्या ब्रह्मचारिणी का दहेज

७. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृता ॥७॥

(रैभी) परमेश्वर की स्तुति करनेवाले स्तोताओं द्वारा दी गई वैदिक स्तुतिवाणी (अनुदेयी) साथ दी गई सम्पत्ति (आसीत्) थी, (नाराशंसी) नर-नारियों के कर्तव्यों का आशंसन अर्थात् कथन करनेवाली वेदवाणी (न्योचनी) नितरां साथ रहनेवाली साथिन थी । (भद्रम्) सुखदायक तथा भद्रजनोचित (इत्) ही, (सूर्यायाः) सूर्या ब्रह्मचारिणी के (वासः) वस्त्र थे, वह (गाथया) वैदिक गानविद्या द्वारा (परिष्कृता) सजी हुई (एति) पतिगृह में आती है ।

[रैभि; रेभः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६), रेभति अर्चति कर्मा (निघं० ३।१४) । अतः रैभी=परमेश्वर के स्तोताओं द्वारा प्राप्त वैदिक स्तुतिवाणी । अनु=साथ-साथ, यथा "अनुगङ्गं वाराणसी । नाराशंसी=नाराशंसाः[2] मन्त्राः (निरु० ७।१।४), अतः नाराशंसी=नराणां नारीणां च कर्तव्यानां आशंसाः कथनानि यस्यां सा वेदवाणी । न्योचनी=नि (नितराम्) उच समवाये, अर्थात् सदा साथ रहनेवाली ।

१. अंग्रेजी भाषा में भी चक्षु का वाचक Eye शब्द व्यापक अर्थ रखता है । Eye का अर्थ केवल स्थूल आंख ही नहीं है । इस का अर्थ ख्याल, विचार आदि भी है । यथा "in my mind's eye"; To see eye to eye. । इसी प्रकार मन्त्र पठित चक्षु शब्द भी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मन्त्र में सम्यक् ज्ञान को चक्षुः कहा है । ज्ञानचक्षुः, प्रज्ञाचक्षुः चारचक्षुः, नयचक्षुः आदि में भी चक्षुः शब्द का प्रयोग, चर्मचक्षुः से भिन्नार्थों में हुआ है ।
२. येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः (निरु० ९।१।९) ।

विशेषः—अथवा रैभी का व्युत्पादन=रै (धन)+भा (प्रकाश)+ई (स्त्रियाम् ङीष्) । अर्थात् धनविद्या का प्रकाश करनेवाली वेदवाणी]

व्याख्या—गृहस्थ जीवन को सात्विक बनाने के लिये परमेश्वर की स्तुति उपासना की अत्यन्त आवश्यकता है । इसलिये रैभी को अनुदेयी कहा है । रैभी का अर्थ धनविद्यासम्बन्धी वेदवाणी भी सम्भव है । वर्तमान समय में वधू, जब पति के घर जाती है, तो वह प्राकृतिक दहेज साथ ले कर जाती है । साथ दी गई सम्पत्ति को अनुदेयी कहा है । सूर्याब्रह्मचारिणी को पढ़ाए गए मन्त्र, जिन में कि धनविद्या या अर्थ शास्त्र का वर्णन है, वह मानो विवाह में दी गई सम्पत्ति है । जिसे अर्थशास्त्र की विद्या प्राप्त है वह स्वयं धनोपार्जन कर सकती है । उसे पितृगृह से धन लाने की आवश्यकता नहीं । मनुस्मृति में इसीलिये कहा है कि—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् (अध्या० ९, श्लो० ११) अर्थात् पत्नी को धन-संग्रह तथा व्यय के काम में पति नियुक्त करे । अर्थात् घर में धन के संग्रह तथा व्यय का अधिकार पत्नी को देना चाहिये । विना अर्थविद्या के जाने अर्थसंग्रह और अर्थव्यय का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता । अतः अर्थविद्या का अनुदान वस्तुतः सम्पत्तिदान है ।

इसी प्रकार सूर्याब्रह्मचारिणी को ब्रह्मचर्यकाल में जो नर-नारी के कर्तव्यों सम्बन्धी मन्त्र पढ़ाए गए हैं वे नववधू के साथ सदा रहनेवाली साथिन है । अनुदेयी-सम्पत्ति की अपेक्षया न्योचनी-विद्या अधिक महत्त्व रखती है । विवाह के समय वर, स्वयं वधू के लिये, वस्त्र लाता है, और वर द्वारा लाए वस्त्र ही विवाह में वधू को पहिनाए जाते हैं, पितृगृह के वस्त्र नहीं । पितृगृह से तो वधू को सुखदायक तथा भद्रजनोचित वस्त्र ही मिलते हैं, न कि चमकीले-भड़कीले । वर द्वारा दिये गए वस्त्रों का वर्णन अथर्व० १४।१।४५ में हुआ है ।

नववधू वैदिक गानविद्या द्वारा परिष्कृत भी होनी चाहिये । अर्थात् नववधू गानविद्या की सिजावट से सजी हुई होनी चाहिये । गृहस्थ जीवन को मधुर तथा रसवान् बनाने के लिए गानविद्या द्वारा वधू को विभूषित होना चाहिये ।

सूर्या-ब्रह्मचारिणी का दहेज तथा वरणकाल

८. स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥८॥

(स्तोमाः) ऋचाओं के गेयस्वरूप (आसन्) थे (प्रतिधयः) प्रत्येक अंग पर धारण करने योग्य आभूषण, (छन्दः) वैदिक छन्द या अथर्ववेद के मन्त्र थे (कुरीरम्, ओपशः) कुरीर और ओपश नाम वाले आभूषण । (अश्विना) अश्वों पर आरूढ़ या द्यौः और पृथिवी के अथवा सूर्य और चन्द्र के गुणों वाले माता-पिता (सूर्यायाः) सूर्या-ब्रह्मचारिणी का वरण अर्थात् चुनाव करने वाले थे, परन्तु (अग्निः) सूर्या सम्बन्धी अग्नि अर्थात् आग्नेयरूप रजोधर्म (पुरोगवः) चुनाव में अग्रगामी रूप (आसीत्) था । प्रचलित संस्कृत भाषा की दृष्टि से "आसीत्, आसन्" के भूतकाल परक अर्थ किये गए हैं । **"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"** (अष्टा० ३।४।६) द्वारा लुङादि सब कालों में प्रयुक्त होते हैं । वर्तमान काल में भी इन का प्रयोग होता है ।

[प्रतिधयः=परिधयः (पैप्पलाद शाखा) । प्रतिधि=आभूषणों को "पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति" (१४।२।१२) में "पर्याणद्ध" पद द्वारा सूचित किया है । प्रतिधि=आभूषण, कुरीर और ओपश से भिन्न हैं । कुरीर और ओपश स्त्रियों के शिरोभूषण हैं । यथा **"कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्भं चाधि नि दध्मसि"** (अथर्व० ६।१३८।६); तथा **"क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि"** (अथर्व० ६ १३८।२) । व्यभिचारी पुरुष को क्लीव अर्थात् नपुंसक बना कर उस के सिर पर कुरीर और ओपश बांधने का विधान मन्त्रों में हुआ है । विवाह के समय स्त्री को "कलीरा" बांधा जाता है, जो कि कुरीर का विकृतरूप प्रतीत होता है । छन्दः=इस से अथर्व का भी ग्रहण है । यथा **"छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत"** (यजुः ३१।७) में छन्दांसि का अभिप्राय है अथर्ववेद या अथर्ववेद के मन्त्र ।

प्रतिधय[1]:—इस का अर्थ रथ के पहिये की पुठ्ठियां भी किया जाता है, जिन्हें परस्पर जोड़ कर पहिया तैयार किया जाता है । ये पुठ्ठियां परस्पर मिल कर परिधिरूप हो जाती हैं । अतः प्रतिधयः=परिधयः (पैप्पलाद शाखा) परिधि केन्द्र के चारों ओर होती है । इस परिधि में केन्द्र सुरक्षित रहता है । स्तोम अर्थात् सामगान के लिए मन्त्रों के गेयस्वरूप, मानो सूर्यरूपी केन्द्र की परिधियां थीं । इन सामगानों द्वारा सुरक्षित सूर्या थी । सामगानों तथा तन्मन्त्रनिष्ठ सदुपदेशों द्वारा सूर्या, अपने-आप को, कुविचारों, दुर्व्यसनों तथा दुःख क्लेश से बचाए रखती थी । तथा

१. प्रतिधयः—Cress pieces (ह्विटनी) ।

"**यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधि जीवनाय कम्**" (अथर्व० ८।२।२५) में ब्रह्म अर्थात् मन्त्र और तदुपदिष्ट परमेश्वर को जीवन के लिए परिधिरूप कहा भी है।

स्तोमाः— वैदिक मन्त्र जब गाए जाते हैं तब मन्त्रों के कई पद और पाद बार बार दोहराए जाते हैं, कहीं कहीं ह्रस्व स्वरों को दीर्घ तथा प्लुत में परिवर्तित करना होता है, कई बार मध्य-मध्य में आलाप भी किया जाता है। गान में मन्त्रों के इस समूचे स्वरूप को गेयस्वरूप या स्तोम कहते हैं, तथा आलाप के उपयोगी निरर्थक शब्दों को स्तोभ कहते हैं। इस प्रकार मन्त्रों के नित्यस्वरूप और गेयस्वरूप में भेद हो जाता है। इन गेयस्वरूपों को स्तोम कहते हैं।

व्याख्या—अश्विना=अश्विनौ, अर्थात् वर के माता-पिता। निरुक्त १२।१।१ में कहा है कि "**अश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके ।** तथा अथर्व० १४।२।७१ में कहा है कि "**द्यौरहं पृथिवी त्वम् । ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै**"। अर्थात् वर वधू को कहता है कि मैं द्यौः हूं, तू पृथिवी है। हम दोनों इकट्ठे हों और सन्तानोत्पादन करें। इस द्वारा वर द्यौः के गुणों वाला और वधू पृथिवी के गुणों वाली कही गई है। इसी प्रकार मन्त्र १४।१।१ में पति को सूर्य, तथा १४।१।२३,२४ में वधू को चन्द्रमा द्वारा वर्णित किया है। इस द्वारा भी वर और वधू के गुणों पर प्रकाश डाला है। वर के माता-पिता वधू के चुनाव में वर के सहायक होते हैं, परन्तु अन्तिम फैसला वर-वधू ने स्वयं करना है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में भी कहा है कि "**सुहृदः समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात्**" (पटल २, खण्ड ४, सू० १), अर्थात् इकट्ठे हुए या परस्पर एक से विचार वाले तथा विद्वान् मित्रों को वररूप में अर्थात् कन्या का चुनाव करने के लिए भेजे। इस सूत्र में भी, विवाहेच्छु व्यक्ति को, वरणकर्म में सहायता देने वालों को "वरान्" कहा है। अतः मन्त्र ८ में वरा=वरौ द्वारा वर के माता-पिता का ही ग्रहण समझना चाहिये। वर-वधू के चुनाव में माता-पिता के परामर्श को आवश्यक समझा गया है।

विवाहार्थ सूर्या के चुनाव में, सूर्या में प्रकट हुई अग्नि का होना अनिवार्य है। अभिप्राय यह है कि युवति की अग्निशक्ति में जब विवाह की उग्र[1] इच्छा उत्पन्न हो, तभी सूर्या के माता-पिता सूर्या के लिए सदृश

१. "सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीम्" (अथर्व० १४।१।९)।

पति का वरण करें, उस से पूर्व नहीं। सूर्या ब्रह्मचारिणी है। इस ने पर्याप्त आयु संयम में बिताई है। यदि यह जीवन भर ब्रह्मचारिणी रहना चाहे तो इसे विवाह के लिए बाधित न करना चाहिये। युवति के मासिक-धर्म को मन्त्र में अग्नि कहा है। मासिक-धर्म का वर्ण लाल होता है जो कि अग्नि का वर्ण है। मासिकधर्म प्रेरक है गृहस्थधर्म का या गृहस्थ भावना का। युवति की अग्नि में विवाहेच्छा, विवाह का पुरोगव रूप है; अग्रगामी रूप है। मासिकधर्म वाली युवति को रजस्वला कहते हैं। रजस् को व्याख्येय मन्त्र में अग्नि कहा है। रजस्वलावस्था में रजोगुण की भावना जागरित हो जाती है। मासिकधर्म के प्रकट होते भी सूर्या में जब तक विवाहेच्छा प्रकट न हो, तब तक उस का विवाह न करना चाहिये। आयुर्वेद में सोम अर्थात् वीर्य को शुक्र और ऋतुधर्म को आग्नेय कहा है, (देखो मन्त्र १ की व्याख्या)। इस लिये मन्त्र ८ में अग्नि द्वारा ऋतुधर्म का ग्रहण किया है।

विवाह में प्रेरक भाव

९. सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत् पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥९॥

(सोमः) वीर्य या वीर्यवान् ब्रह्मचारी (वधूयुः) वधू की कामना वाला (अभवत्) हुआ, (अश्विना=अश्विनौ) तब उस के माता-पिता (उभा=उभौ) दोनों (वरा=वरौ) कन्या का वरण, चुनाव करनेवाले (आस्ताम्) हुए, (यत्) जब कि (पत्ये) पति के लिए (शंसन्तीम्) चाहना करती हुई (सूर्याम्) सूर्या-ब्रह्मचारिणी को, (सविता) उत्पादक पिता ने (मनसा) मन से अर्थात् मनन करके, विचारपूर्वक, तथा प्रसन्नतापूर्वक (अददात्) कन्या प्रदान किया।

[सोमः=सोम का अर्थ वीर्य है [मन्त्र १]। जैसे मन्त्र ८ में अग्नि पद द्वारा रजस्वला ब्रह्मचारिणी का वर्णन हुआ है, वैसे मन्त्र ९ में सोम पद द्वारा वीर्यवान् वर का वर्णन हुआ है। वधूयुः=वधू+क्यच् (इच्छा)+उ (वाला)। वधू की इच्छा वाला। शंसन्तीम्=शंस् To praise, approve (आप्टे)। सविता=षु प्रसवे; षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अर्थात् उत्पादक पिता। अददात्=डुदाञ् दाने (जुहोत्यादि)]

१. षूङ् प्राणिगर्भविमोचने।

व्याख्या- आदित्य ब्रह्मचारी की सोमशक्ति में जब वधू की कामना जागरित हो तब उस के लिये सदृश पत्नी का चुनाव होना चाहिये, उस से पूर्व नहीं। सर्वोत्तम है यदि आदित्य ब्रह्मचरी की सोमशक्ति सदा सात्त्विक बनी रहे, और उस में वधू के लिए इच्छा जागरित न हो। ऐसे सात्त्विक ब्रह्मचारियों द्वारा जगत् का कल्याण हो जाता है। प्राणिजगत् रजस् और वीर्य के अर्थात् अग्नि और सोम के संयोग द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये प्राणिजगत् "अग्नीषोमीय" है।

पतिगृह की ओर सूर्या के प्रस्थान का रथ

१०. मनो॑ अस्या॒ अन॑ आसी॒द् द्यौरा॑सीदु॒तच्छ॒दिः॑ ।
शु॒क्राव॑न॒ड्वाहा॑वास्तां॒ यदया॑त् सू॒र्या पति॑म् ॥१०॥

(अस्याः) इस सूर्याब्रह्मचारिणी का (अनः) रथ (मनः) मन था (उत), और (छदिः) छत्त (द्यौः) सिर दिमाग, विचार शक्ति (आसीत्) थी, अनड्वाहौ) मनरूपी रथ का वहन करने वाले दो बैल (शुक्रौ) बलशाली ज्ञानेन्द्रियवर्ग तथा कर्मेन्द्रियवर्ग (आस्ताम्) थे, (यद्) जबकि (सूर्या) सूर्या ब्रह्मचारिणी (पतिम्) पति की ओर (अयात्) गई।

व्याख्या—मन्त्र में सूर्या ब्रह्मचारिणी के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। सूर्या जब पति की ओर चली तब इस का मन ही रथरूप था। विना मनोवाञ्छा के किसी चेतन का चलना नहीं हो सकता। सूर्या निज इच्छापूर्वक पति की ओर चली,—यह अभिप्राय "मनः, अनः" द्वारा प्रकट किया है।

मनरूपी रथ की छत्त थी द्यौः। वेदों में आध्यात्मिक दृष्टि में शीर्ष अर्थात् सिर को द्यौः कहा है। यथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१। १३) अर्थात् सिर द्युलोक का प्रतिनिधि है। सिर या दिमाग विचार का केन्द्र है। मन तो इच्छा का द्योतक है, और द्यौः या सिर अथवा दिमाग विचार का द्योतक है। सूर्या के मनरूपी रथ पर अर्थात् उसकी मनोवाञ्छा पर द्यौः अर्थात् विचार की छत्त थी। अभिप्राय यह कि सूर्या की इच्छा, उसके विचार द्वारा सुरक्षित थी, प्रेरित थी। सूर्या की इच्छाशक्ति के रथ पर सुविचार की छदिः अर्थात् छत्त थी। छदिः का काम है रथ को धूप, सरदी और वर्षा आदि से बचाना। छद अपवारणे। इसी प्रकार सुविचार

की छदिः, सूर्या को मनोवाञ्छा को कुमार्ग से बचाने वाली हुई। विचार-रहित अनियन्त्रित इच्छा कुमार्गगामिनी हो सकती है। सूर्या की इच्छा जो पति की ओर जाने की हुई वह उस के सुविचारपूर्वक हुई,—यह अभिप्राय है।

[अनड्वाहौ=अनस्=रथ, वाहौ=वहन करनेवाले दो बैल। मन्त्र १४।१।११ में अनड्वाहौ के स्थान में "गावौ" पठित है। वेद में गो शब्द इन्द्रिय वाचक भी है। गौः का अर्थ महर्षि दयानन्द ने "इन्द्रिय" भी किया है (उणा० २।६८)। इसीलिये इन्द्रियों के विषयों को "गोचर कहते हैं। अर्थात् जिन में गौएं अर्थात् इन्द्रियां विचरती हैं। इन्द्रियां अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां मनरूपी रथ को विषयों की ओर खींचे ले जाती हैं। सूर्या के विवाह में, सूर्या की इन्द्रियां,[1] सूर्या के मनरूपी रथ का वहन करने वाली बनीं]

तथा

आधिभौतिक दृष्टि में मन्त्र सूर्या के भौतिक-रथ का भी वर्णन करता है। विवाह के पश्चात् सूर्या जब पतिगृह की ओर चली तब सूर्या का रथ "मनः" अर्थात् मननीय था, मनोरम था। इस रथ की छत्त "छदिः" द्युलोक के सदृश थी, अर्थात् द्युलोक जैसे सितारों से सजा हुआ है, वैसे रथ की छत्त कृत्रिम सितारों द्वारा सुसज्जित थी या होनी चाहिये। अथर्व० १४। १।६१ में सूर्या के रथ को "सुकिंशुक" कहा है, टेसु अर्थात् ढाक के फूलों से सजा हुआ कहा है। तथा इस भौतिक रथ के वहन करने वाले दो बैल थे जोकि वीर्यवान् अर्थात् बलशाली थे (शुक्रौ, अनड्-वाहौ)।

सूर्या के प्रस्थान का रथ

११. ऋ॒क्सा॒माभ्या॑म॒भिहि॑तौ॒ गावौ॑ ते साम॒नावै॑ताम् ।
श्रोत्रे॑ ते च॒क्रे आ॑स्तां दि॒वि पन्था॑श्चराच॒रः ॥११॥

हे सूर्या ब्रह्मचारिणी! (ऋक् सामाभ्याम्) ऋग्वेद के ज्ञान और

१. इन इन्द्रियों को शुक्रौ कहा है। शुक्र का अर्थ होता है,—वीर्य। सूर्या के ब्रह्मचर्य के कारण सूर्या की इन्द्रियां वीर्यवती। अर्थात् बलवती थीं। शुक्र= शुक्र+अच् (अर्शआदिभ्योऽच्; अष्टा० ५।२।१२७)। अतः शुक्र=शुक्रवान्।

सामवेद की उपासना द्वारा (अभिहितौ) प्रेरित हुए (ते) तेरे (गावौ) ज्ञानेन्द्रिय वर्ग तथा कर्मेन्द्रिय वर्ग (सामनौ) शान्तिसम्पन्न हुए-हुए (ऐताम्) विचरे हैं। (ते) तेरे (चक्रे) मनरूपी रथ के दो पहिये (श्रोत्रे) वेद प्रतिपादित अभ्युदय और निःश्रेयस (आस्ताम्) रहे हैं, (दिवि) द्युलोक में (पन्थाः) जैसे मार्ग (चराचरः) चालु है [जिस में कि असंख्य तारे विचर रहे हैं] वैसे तेरा गृहस्थ जीवन का भी (पन्थाः) मार्ग है, जो कि (चराचरः) अनादिकाल से चलता आया है।

व्याख्या—मन्त्र ११ में गावौ शब्द द्विवचनान्त है, मन्त्र १० में अनड्वाहौ शब्द भी द्विवचनान्त है। ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञानेन्द्रियवर्ग और कर्मेन्द्रियवर्ग इन द्वारा अभिप्रेत हैं। गौः शब्द इन्द्रियार्थक भी है,—यह मन्त्र १० में दर्शाया जा चुका है। अनड्वाहौ शब्द भी मनरूपीरथ के वाहनों का निदर्शक होने से, "गावौ" अर्थ का द्योतक है।

सूर्या की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां सात्त्विक थीं, क्योंकि ये ऋग्वेद के ज्ञान, और सामवेद की उपासना द्वारा प्रेरित होती रही हैं। इसीलिये इन्हें "**सामनौ**" कहा है। साम सान्त्वप्रयोगे।

[श्रोत्र शब्द वेदवाचक है। इसी लिये वेदाध्येता को श्रोत्रिय कहते हैं। जो श्रोत्र अर्थात् वेद का अध्ययन करता है, उसे श्रोत्रिय कहते हैं। **श्रोत्रियंश्छन्दोधीते** (अष्टा० ५।२।८४), अर्थात् जो छन्दोमयी वेदवाणि का अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय[1] है। श्रोत्रे पद द्विवचनान्त पठित है। वेद अभ्युदय-और-निःश्रेयस का वर्णन करते हैं, इस दृष्टि से श्रोत्रे पद द्विवचनान्त पठित है। ये दो सूर्या के मनरूपी रथ के दो पहिये हैं। पहिये रथ के संचालन में हेतु होते हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस सूर्या के मनरूपी रथ के संचालक थे,—यह मन्त्र में सूचित किया गया है। साथ ही मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि गृहस्थ पथ कोई हेय या बुरा पथ नहीं। यह पथ चराचर रहा है, सदा से यह चलता आया है। ऋषिमुनि भी इस पथ पर चलते रहे हैं। समग्र प्राणि जगत का यही पथ रहा है। अतः इस इस पथ पर चलना सांसारिक नियम है]

१. व्याकरण की दृष्टि से "छन्दस्" शब्द को "श्रोत्र" भाव निपात प्रयुक्त है, (अष्टा० ५।१।८४) की टिप्पणी, द्वारा ज्ञानेन्द्र सरस्वती, कौमुदी। छन्दस् का भी अभिप्राय छन्दोमयी वेदवाणी ही है।

तथा

मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ यह है कि "सूर्या के रथ के दो बैल स्तुति तथा सान्त्वना से चलाए गये शान्तिपूर्वक चले। रथ के दो पहिये श्रवणीय अर्थात् श्रवण[1] सुभग थे, और रास्ता दिन में चला गया, जिस पर कि लोग दिन में चलते फिरते हैं। अर्थात् रात्रि के समय चराचर के अभाव में सूर्या का प्रस्थान न करना चाहिये।

सूर्या के प्रस्थान का रथ

१२. शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥१२॥

हे सूर्या ब्रह्मचारिणि ! (यात्याः) पतिगृह की ओर जाती हुई के (ते) तेरे (चक्रे) मनरूपी रथ के दो पहिये अर्थात् प्राण और अपान वायु (शुची) तुझे पवित्र करने वाले थे, और उन में (व्यानः) व्यान वायु (अक्षः) धुरी रूप में (आहतः) लगी हुई थी। (पतिम्) पति की ओर (प्रयती) प्रयाण करती हुई (सूर्या) सूर्या ब्रह्मचारिणी (मनस्मयम्) मनोमय (अनः) रथ पर (आरोहत्) चढ़ी।

व्याख्या—मन्त्र में दो पहियों के सम्बन्ध में नई कल्पना की गई है। ११ वें मन्त्र में दो श्रोत्रों को दो पहिये कहा है। मन्त्र १२ वें में व्यान वायु के वर्णन के कारण, तत्सम्बन्धी प्राण-और-अपान को "शुचि" कहा है। शुचि का अर्थ है पवित्र करने वाले। प्राण-और-अपान शरीर और मन को पवित्र करते हैं, इसलिये वैदिक साहित्य में इन्हें "पवित्रे" कहा है। यथा "**प्राणापानौ पवित्रे**" (तै० ब्रा० ३।३।४।४; तथा ३।३।६।७)। प्राण फेफड़ों में प्रविष्ट होकर रक्त को शुद्ध करता और अशुद्ध वायु को शरीर से बाहर निकालता है, तथा अपान मल-मूत्र को निकाल कर शरीर की शुद्धि करता है। सूर्या ब्रह्मचारिणी गुरुकुल के शुद्ध वायु में रह कर, तथा शुद्ध वायु में प्राणायामों द्वारा अपने शरीर और मन को पवित्र किये हुए है। प्राण-और-अपान को मनोमय रथ के दो पहिये कहा है, क्योंकि मन की गति प्राण-और-अपान पर निर्भर है।

१. अर्थात् रथ के पहियों की ध्वनि सुनने में मधुर थी।

प्राण-और-अपान रूपी दो पहियों को परस्पर सम्बद्ध रखने के लिये इन में व्यान की धुरी लगी हुई है। व्यान के सम्बन्ध में वाचस्पत्य कोष में कहा है कि "देहस्थे सर्वशरीरव्यापके प्राणादिमध्ये वायुभेदे। व्यानो विष्वक् अननवाम् वायुः", अर्थात् सब शरीर में व्याप्त होकर शरीर के अङ्ग-अङ्ग में प्राणशक्ति का संचार करने वाला व्यान है। जो व्यान वायु समग्र शरीर को चला रही है वही प्राण और अपान रूपी पहियों में धुरी रूप होकर प्राणापान को समगति में चला रही है। व्यान की क्षमता के कारण ही प्राण और अपान परस्पर सम्बद्ध हुए दिन-रात अक्षुण्णरूप में चलते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारिणी के प्राणापान और व्यान जब बलिष्ठ हो जाएं और प्राणापान की शुद्धि के कारण जब वह स्वस्थ हो तभी उस का विवाह होना चाहिये।

तथा

भौतिक अर्थ यह कि "हे सूर्या ब्रह्मचारिणी! तू जब पति की ओर चली, तब तेरे रथ के दोनों पहिये साफ-सुथरे थे, पहियों में मजबूत धुरी लगी हुई थी, और रथ मनस्मय अर्थात् विचारपूर्वक निर्मित तथा मनोहारी था"। व्यानः=वि+अन (प्राणने), अर्थात् विशिष्ट प्राणशक्ति वाला=मजबूत।

वाग्दान तथा विवाहकाल

१३. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥१३॥

(सूर्यायाः) सूर्या ब्रह्मचारिणी का (वहतुः) विवाह (प्र, अगात्) समीप आ गया है, (यम्) जिस की कि (सविता) उत्पादक पिता ने (अवासृजत्) स्वीकृति[1] दी है, या जिसका सर्जन किया है। (मघासु) मघा नक्षत्रों अर्थात् माघमास में (गावः) विवाह सम्बन्धी वचन (हन्यन्ते)[2] प्रेषित किये जाते हैं, और (फल्गुनीषु) फल्गुनी नक्षत्रों अर्थात् फाल्गुनमास में (व्युह्यते)[2] सूर्या विवाहित होती है।

---

१. अवसृज्, अवसर्ग=Allawing one to follow one's inclination; स्वीकृति देना (आप्टे)।

२. तथा माघ मास में "गावः" आदित्य की रश्मियां, "हन्यन्ते" मृतप्राय हो जाती हैं, और फाल्गुनमास में रश्मिसमूह "व्युह्यते" आदित्य द्वारा विशेषतया पुनः

[वहतुः=विवाह। यथा "**यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव**" (अथर्व० १०।१।१) में "वहतु" का अर्थ विवाह ही है। गावः; गौः वाङ् नाम (निघं० १।११)। हन्यन्ते=हन् हिंसा और गतिः। यहां गति अर्थ में "हन्" का प्रयोग हुआ है। अर्थात् माघ में विवाह सम्बन्धी वचन भेजे जाते हैं, प्रेषित किये जाते हैं। माघमास शीत प्रधान होता है, इसलिये इस मास में वाग्दान कर देना, और फाल्गुनमास में विवाह करना श्रेष्ठ माना गया है। फाल्गुनमास में शीत कम हो जाता है। वाग्दान और विवाह में लम्बे समय का अन्तर न होना चाहिये। आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में "**मघाभिः गावो गृह्यन्ते", "फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते**" पाठ मिलता है। आपस्तम्ब ने हन्यन्ते के स्थान में गृह्यन्ते पद पढ़ा है। इससे भी प्रतीत होता है कि हन्यन्ते में हन् का अर्थ "वध करना" नहीं है। महर्षि दयानन्द का, वाग्दान तथा विवाह के सम्बन्ध में, निम्नलिखित विचार है। "जब कन्या और वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष या छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्यापूर्ण होने में शेष रहें तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिस को फोटोग्राफ कहते हैं, अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस जिस का रूप मिल जाय उस उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्म चरित का पुस्तक जो हो उस को अध्यापक लोग मंगवा कर देखें। जब दोनों के गुण कर्म स्वभाव सदृश हों तब जिस जिस के साथ जिस जिस का विवाह होना योग्य समझें उस उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो तो हम को विदित कर देना, जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाए तब वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में, विवाह योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत शास्त्रार्थ

प्राप्त कर लिया जाता है। "सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते" (निरु० २।२।७)। इस अर्थ में हन्=वध। व्युह्यते=वि+उह् (वह् प्रापणे) अभिप्राय यह रश्मियों के मृतप्राय होने पर शैत्याधिकता में केवल वाग्दान ही हो, विवाह नहीं। फाल्गुनमास में, ऋतुराज वसन्त के कारण, प्रकृति सुहावनी हो जाती है, और शैत्य का भी प्रकोप नहीं रहता।

कराना, और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिख कर एक दूसरे के हाथ में दे कर प्रश्नोत्तर कर लेवें" (सत्यार्थप्रकाश)।

महर्षि ने विवाह सम्बन्ध में गुरुओं को विशेष महत्ता दी है। गुरु भी "सविता" कहे जा सकते हैं। वे विद्या के गर्भ से जन्म देकर व्यक्ति को द्विजन्मा बनाकर जन्म के कारण होते हैं। विशेष:—मन्त्र में "मघासु" शब्द पठित है। ऋग्वेद (१०।८५।१३) में "अघासु" पाठ है। अघासु में "अ+घा+सु द्वारा "अ" निषेधार्थक है, और "घा" हन् धातु का रूप प्रतीत होता है। इस से स्पष्ट होता है कि "अघा" नक्षत्रों में प्राणिगौओं का हनन निषिद्ध किया है। इस दृष्टि से मघासु को हम "म (मा)+घा (हन्)" समझ सकते हैं। इस का भी अभिप्राय यह होगा कि मघा नक्षत्रों में प्राणिगौओं का वध निषिद्ध है]।

विवाह में ३ परिक्रमाएं

१४. यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१४॥

(त्रिचक्रेण) तीन चक्रों, तीन चक्करों अर्थात् तीन परिक्रमाओं द्वारा (सूर्यायाः) सूर्या ब्रह्मचारिणी के (वहतुम्) विवाह के निमित्त, (यत्) जब (अश्विना) हे वर के माता-पिता! तुम दोनों (पृच्छमानौ) कन्या के सद्गुणों या विवाह के सम्बन्ध में परस्पर पूछते हुए, बातचीत करते हुए (अयातम्) वधू के घर पहुंचो, तब (वाम्) तुम दोनों के तीन चक्करों, तीन परिक्रमाओं में से (एकम्, चक्रम्) एक चक्कर, एक परिक्रमा (क्व) किस में या किस स्थान में (आसीत्) होगी, तथा (देष्ट्राय) आदेश, निर्देश उपदेश, या दान देने के समय (क्व) किस स्थान में (तस्थतुः) तुम दोनों स्थित होगे। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" द्वारा लुङ् आदि सर्व कालों में होते हैं।

[त्रिचक्रेण=इस का सामान्यतः अर्थ किया जाता है, "तीन चक्रों वाले रथ द्वारा"। देष्ट्राय, दिश्=To direct; To teach; To grant (आप्टे)। आसीत् तथा तस्थतुः का प्रयोग भविष्यदर्थ में हुआ है। अश्विना=अश्विनौ=वर के माता-पिता (मन्त्र ८, ९)]

व्याख्या—वर के माता-पिता ने तीन चक्रों अर्थात् परिक्रमाओं की

विधि द्वारा सूर्या को विवाहित करना है। वर के माता-पिता से पूछा गया है कि तुम्हारे तीन चक्रों में एक चक्र किस में आश्रित होगा, अर्थात् एक परिक्रमा वर-वधू में से किस ने करनी है, तथा किस समय या किस स्थान में करनी होगी? शेष दो चक्रों के सम्बन्ध में भी प्रश्न स्वभावतः समझ लेना चाहिए। सम्भवतः इन दोनों अर्थात् एक पृष्ट और दो अपृष्ट चक्रों का स्पष्टीकरण मन्त्र १६ में किया गया है।

देष्ट्राय पद "दिश्" धातु से व्युत्पन्न है। दिश् का अर्थ है "अतिसर्जन" अर्थात् दान। अतः देष्ट्राय का मुख्यार्थ है "दान के लिये। कन्यादान तथा गोदान के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है कि इन दानों के समय, हे वर के माता-पिता! तुम कहां अर्थात् किस स्थान में स्थित होगें।

श्वशुर को, वर, पिता समझे

१५. यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥

(शुभस्पती) हे शोभायुक्त वरयात्रा के, या शुभकर्मों के स्वामी वर के माता-पिता! तुम दोनों (यत्) जो (सूर्याम्, उप) सूर्या ब्रह्मचारिणी के समीप या उस के विवाहार्थ (वरेयम्) वर द्वारा गमनीय वधूगृह को (अयातम्) पहुंचे हों, और जो (वाम्) आप दोनों के (पूषा) परिपुष्ट (पुत्रः) पुत्र ने, (पितरम्) श्वशुर को पितृरूप में (अवृणीत) वरण किया है, (तत्) उन दोनों कर्मों को (विश्वे देवाः) दोनों ओर के सम्बन्धी सब विद्वानों तथा दिव्यजनों ने (अनु) अनुकूलरूप में (अजानन्) जाना है।

[सूर्याम्, उप (समीप या उपयन्तुम्)। वरेयम्=वर+एयम् (इण गतौ)। अनु, अजानन्=अथवा अनुज्ञा दी है। अयातम्=अ+या (प्रापणे)। ऋग्वेद १०।८५।१५ में "पितरौ" पाठ है, अर्थात् माता-पिता दोनों को]

व्याख्या—वर के माता-पिता वरयात्रा अर्थात् बरात को शोभायुक्त करें, और यह ध्यान रखें कि विवाह में सब कार्य शुभ हों, इस मौके पर कोई अशुभ काम न होना चाहिये।

विवाह के सम्बन्ध के निर्धारण में, तथा विवाह कार्यों में, दोनों सम्बन्धियों के दिव्य लोगों, बुजुर्गों तथा विद्वानों की अनुमति, स्वीकृति, वर तथा उस के माता-पिता के साथ होनी चाहियें ।

वर परिपुष्ट होना चाहिये, निर्बल नहीं । वर, सूर्या के पिता को पितृ-रूप में स्वीकार करे, और उस की माता को माता जाने । इसी प्रकार सूर्या के अन्य सम्बन्धियों को भी अपने सम्बन्धी जाने]

तीन चक्र या परिक्रमाएं

१६. द्वे ते चुक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चुक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः ॥१६॥

(ते) उन प्रसिद्ध (द्वे) दो (चक्रे) चक्रों को (ब्रह्माणः) वेदवेत्ता (सूर्ये) सूर्य में, (ऋतुथा) वसन्त ऋतु के अनुसार (विदुः) जानते हैं, (अथ) और (एकम्, चक्रम्) एक चक्र (यद्) जो कि (गुहा) घर में अज्ञात रूप में होता है (तद्) उसे (अद्धातयः, इत्) सतत सत्यानुगामी विद्वान् ही (विदुः) जानते हैं ।

[ते="तद्" का द्वितीया विभक्ति का द्विवचन, नपुंसकलिङ्ग । सूर्ये ="सूर्य" का सप्तम्येक वचन । अद्धातयः=अद्धा सत्यनाम (निघं० ३।१०) +अत् (सततगमने) । ब्रह्माणः, ब्रह्म=ईश्वरः, "वेदः" तत्त्व, तपो वा (उणा० ४।१४७) महर्षि दयानन्द । अथवा ब्रह्मवेद=अथर्ववेद । मन्त्र १४ में त्रिचक्र का वर्णन है । मन्त्र १६ में उन तीन चक्रों का विभाग दर्शाया है कि दो चक्र तो सूर्य में हैं, और एक चक्र गुहा में है, अर्थात् गुफा में स्थित अज्ञात वस्तु के सदृश अज्ञातरूप है । सूर्य में दो चक्र स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं । (१) एक दैनिक गति का चक्र अर्थात् चक्कर, पूर्व से पश्चिम तथा पश्चिम से पुनः पूर्व तक । यह दिन रात की ऋतु का निर्माण करता है । (२) दूसरा चक्र अर्थात् चक्कर है उत्तरायण सीमान्त से दक्षिणायन सीमान्त, और दक्षिणायन सीमान्त से पुनः उत्तरायण सीमान्त तक । यह दूसरा चक्र=चक्कर, ऋतुओं का निर्माण करता है । मन्त्र में "ऋतुथा" शब्द द्वारा वसन्त ऋतु का ग्रहण है । सूर्य दक्षिणायन से लौट कर जब भूमध्य रेखा पर आता है तब वसन्त ऋतु यौवन में होती है । मन्त्र १३ के अनुसार विवाह फाल्गुन में होना चाहिये, और फाल्गुन के प्रारम्भ के

लगभग वसन्तु-ऋतु का प्रारम्भ हो जाता है । इस लिये "ऋतुथा" शब्द द्वारा सूर्या के ऋतुधर्म का सम्बन्ध मन्त्र में अभिप्रेत नहीं प्रतीत होता ।

विवाह के इन मन्त्रों में द्यौः[1] और पृथिवी का वर-और-वधू के रूप में सम्बन्ध दर्शाया है । यथा मकर अथर्व: [१४।२।७१] द्यौः[1] अर्थात् सूर्य में स्थित दो चक्रों का वर्णन मन्त्र के पूर्वार्ध में हुआ है । उत्तरार्ध में पृथिवी के एक चक्र का वर्णन है जिसे कि गुहा पद द्वारा अज्ञात स्वरूप दर्शाया है । पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है । यह पृथिवी का चक्र है । पृथिवीस्थ प्राणियों को पृथिवी का यह चक्र अनुभूयमान नहीं होता । अतः इस चक्र का वर्णन "यद् गुहा" द्वारा हुआ है । सूर्यारूपी पृथिवी का यह एक चक्र या परिक्रमा है । सूर्य मानो पृथिवी की ऋतुओं के सम्बन्ध में, दो परि-क्रमायें करता है, और पृथिवी सूर्य की एक परिक्रमा करती है । यह वर्णन यथादृष्ट तथा यथानुभूत वर्णन है । वैदिक सिद्धान्त में पृथिवी ही सूर्य की परिक्रमा करती है, सूर्य पृथिवी की परिक्रमा नहीं करता । यथा:—**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥** (यजु० ३।६) ।

अथवा

(सूर्ये) हे सूर्याब्रह्मचारिणी ! (ते) तेरे (द्वे) दो (चक्रे) चक्कर अर्थात् परिक्रमायें (ब्रह्माणः) वेदवेत्ता विद्वान् (ऋतुथा) वसन्त ऋतु के विवाहानुसार (विदुः) जानते हैं । (अथ) तथा (एकम्) एक (चक्रम्) चक्कर अर्थात् परिक्रमा (यद्) जो कि (गुहा) अज्ञात सी होती है, (तत्) उसे (अद्धातयः) सतत सत्यानुगामी विद्वान् ही (विदुः) जानते हैं ।

व्याख्या मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि सूर्या के विवाह के समय सूर्या दो परिक्रमाएं करती है विवाहमण्डप में, जहां कि विवाह में निमन्त्रित देव-देवियां बैठी होती हैं । और सूर्या एक परिक्रमा करती है, घर के भीतर । इस परिक्रमा के साक्षी सत्यमय जीवनों वाले विद्वान् ही होते हैं, सर्व साधारण निमन्त्रित व्यक्ति नहीं । घर के भीतर हुई इस परिक्रमा के सम्बन्ध में "गुहा" शब्द का प्रयोग हुआ है । ऐसी ही वैदिक विधि मन्त्र

१: मन्त्र में द्यौः द्वारा सूर्य अभिप्रेत है, न कि द्युलोक । सौरमण्डल में सूर्य और पृथिवी का परस्पर सम्बन्ध वर-वधू के रूप में प्रकट किया है, न कि द्युलोक और पृथिवी का । सूर्य को द्यौः कहा है "द्योतनात्" । द्योतन के कारण, द्यौः का अर्थ अन्तरिक्ष भी है (उणा० २।६८) महर्षि दयानन्द ।

द्वारा प्रतीत होती है। सूर्या की दो मण्डप-परिक्रमाओं और एक गुहा-परिक्रमा के साथ साथ वर भी परिक्रमाएं करता है। इन तीन परिक्रमाओं का निर्देश "त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः" द्वारा हुआ है (अथर्व० १४।१।१४)। अथवा सूर्य अर्थात् वर की, विवाह मण्डप में, दो परिक्रमाओं के साथ सूर्या भी, तथा सूर्या की एक गुहा-परिक्रमा के साथ वर भी परिक्रमा करता है। इन मन्त्रों द्वारा परिक्रमाओं का स्वरूप ऐसा ही प्रतीत होता है. चाहे पद्धतिकारों ने इन परिक्रमाओं के स्वरूप भिन्न प्रकार के कहे हैं। पद्धतिकारों ने भी विवाह की विधियां दो प्रकार की कही हैं। कुछ विधियां तो वधू के घर में होती हैं, और कुछ विवाहमण्डप या सभामण्डप में होती हैं। घर में होने वाली विधियों को गुहा-विधियां कह सकते हैं, जिन में कि, मन्त्रनिर्देशानुसार, सूर्या की एक परिक्रमा भी गुहा-परिक्रमा है।

धर्मपुत्र को धर्मपिता के वचन

१७. अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥१७॥

(अर्यमणम्) न्यायकारी, (सुबन्धुम्) सर्वोत्तम बन्धु, (पतिवेदनम्) पति प्राप्त कराने वाले परमेश्वर का (यजामहे) हम यजन अर्थात् पूजा संगति तथा उसके प्रति आत्मदान करते हैं। (बन्धनात्) बन्धन से (इव) जैसे (उर्वारुकम्) बेर, ककड़ी या खरबूजा स्वभावतः छूट जाता है, वैसे सूर्या या कन्या को (इतः) इस पितृगृह से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं, (अमुतः) उस पतिगृह से (न) नहीं।

[अर्यमा="सत्यन्याय के करने हारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम अर्यमा है", (सत्यार्थ प्रकाश समु० १)। सुबन्धुम्="स नो बन्धुर्जनिता" (यजु० ३२।१०)। यजामहे= यज् देवपूजा संगतिकरणदानेषु]

व्याख्या—कन्या पक्ष के लोग कन्या को पतिगृह में भेजने से पूर्व, अर्यमा अर्थात् न्यायकारी परमेश्वर को हृदय का साक्षी तथा अन्तर्यामी जान कर यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ के किये विना वधू पत्नी नहीं बन सकती। "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (अष्टा० ४।१।१३३) द्वारा पति के साथ पत्नी का सम्बन्ध यज्ञ पूर्वक होता है।

अर्यमा का विशेषण है, पतिवेदनम्। इस शब्द द्वारा विवाह सम्बन्ध को पवित्र जतलाया है। वेदों में परमात्मा को भी सद्गृहस्थ कहा है। प्रकृतिरूपी पत्नी का वह पति है। इस पत्नी द्वारा वह समग्र संसार को उत्पन्न करता है। परमात्मा ने ही वेदों द्वारा पति-पत्नी के सम्बन्ध की घोषणा की है। यह सम्बन्ध संसार को उत्तम सन्तानें देने के लिए है। संसार में उत्तम सन्तानें तभी उत्पन्न हो सकती हैं जब कि मनुष्य-समाज शुभ और पवित्र भावनाओं से प्रेरित हो कर विवाहसम्बन्ध करें। पति-पत्नी के सम्बन्ध में काम वासना का उच्छृंखल राज्य न होना चाहिये। इसीलिये वैदिक धर्म में यह सम्बन्ध परमात्म-यजन से प्रारम्भ होता है।

कन्या का पिता उद्घोषित करता है कि मैं अपने गृह के प्रेमबन्धनों से इसे छुड़ाता हूं, परन्तु पतिगृह के प्रेमबन्धनों से इसे नहीं छुड़ाता। नवविवाहिता को पतिगृह में स्थिर करने के लिये माता-पिता के सदुपदेश अधिक प्रभावशाली होते हैं। इसी लिये विवाह-यज्ञ के समय कन्या का पिता अपने धर्मपुत्र को विश्वास दिलाता है कि मैं सर्वथा यत्न करूंगा कि कन्या पतिपक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद न करे। विवाह के अनन्तर न पति सम्बन्ध त्याग करे पत्नी का, और न पत्नी सम्बन्ध त्याग करे पति का। दोनों ही पारस्परिक पति पत्नी भाव के दृढ़-सूत्र में बंधे रहें।

मन्त्र के पितृगृह के त्याग में "उर्वारुक" का दृष्टान्त दिया है। यह फल जब पक जाता है तब उस का अपने आश्रय से सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाता है। इसी प्रकार पितृगृह से सम्बन्ध त्याग का भी वह समय उचित है जब कि वधू की आयु पक जाय और वह विवाहसम्बन्ध के योग्य आयु वाली पूर्णयुवति हो जाए। इस से ज्ञात होता है कि वैदिक दृष्टि में अपरिपक्व आयु में कन्या का विवाह न होना चाहिये।

धर्मपुत्र को धर्मपिता के वचन

१८. प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥१८॥

(इतः) इस पितृगृह से (प्र मुञ्चामि) मैं इस कन्या को छुड़ाता

हूं, (अमुतः) उस पतिगृह में (सुबद्धाम्) सुदृढ़ बद्ध (करम्) करता हूं। (यथा) ताकि (मीढ्वः, इन्द्र) हे वीर्यवान् इन्द्र ! अर्थात् वीर्यशक्ति और आत्मिक शक्ति से सम्पन्न हे धर्मपुत्र ! (इयम्) यह कन्या (सुपुत्रा) उत्तम पुत्रों वाली, (सुभगा) सौभाग्यवती (असति) हो।

[मीढ्व=मिह् सेचने, वीर्यसेचन में समर्थ]

व्याख्या - मन्त्र में कन्या का पिता निज धर्मपुत्र को विश्वास दिलाता है कि मैं पितृगृह के साथ जुड़े हुए कन्या के प्रेमबन्धनों को ढीला करता हूं ताकि कन्या पतिगृह में स्थिर हो सके।

इन्द्र का अर्थ आत्मिक शक्ति से सम्पन्न पति है, और मीढ्वः का अर्थ है "सींचने वाला" या वीर्यशक्ति वाला। इसी दृष्टि से मन्त्र १५ में वर को "पूषा" कहा है। यदि पति वीर्यवान् न हो तो गृहस्थधर्म सफल नहीं हो सकता, तथा पारस्परिक पतिपत्नीसम्बद्ध ढीला पड़ सकता है, और पत्नी सुपुत्रा नहीं हो सकती।

सुभगा का अर्थ है उत्तम भगों वाली। भग के ६ अर्थ होते हैं, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। गृहस्थ में माता का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इन ६ भगों का यथाशक्ति उपार्जन करती रहे, ताकि सन्तानें सुसन्तानें हो सकें।

वर द्वारा वधू को आश्वासन

१९. प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः
ऋतस्य योनौ सुकतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ।१९।

(वरुणस्य) वरण करने योग्य श्रेष्ठ परमेश्वर सम्बन्धी (पाशात्) प्रेम-बन्धन से (त्वा) हे वधु ! तुझे (प्र मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं, (येन) जिस प्रेम-बन्धन द्वारा (सुशेवाः) उत्तम सुखदाता (सविता) जन्मदाता पिता ने (त्वा) तुझे (अबध्नात्) बांधा हुआ था। (ऋतस्य) सत्यनियमों के (योनौ) मेरे गृह में, तथा (सुकृतस्य) सुकर्मियों के (लोके) समाज में, (सहसम्भलायै, ते) सम्यग्भाषी पति के साथ वर्तमान तेरे लिए (स्योनम्) सदा सुख (अस्तु) हो।

[सुशेवाः=सु+शेवम् सुखनाम (निघं० ३।६)। योनिः गृहनाम(निघं० ३।४) संभल=सम् (सम्यक्)+भल (परिभाषणे), अर्थात् सम्यग्भाषी,

प्रेमपूर्वक भाषण करनेवाला पति (मन्त्र २१)। स्योनम् सुखनाम (निघं० ३।६)। सहसंभलायै=संभलेन सह वर्तते इति सहसंभला, तस्यै]

व्याख्या—वरुण अर्थात् संसार के सम्राट् परमेश्वर के पाश, संसार को बांधे हुए हैं। माता-पिता और सन्तानों का, पति और पत्नी का पारस्परिक प्रेमबन्धन भी एक पाश है जिस की कि रचना प्रभु ने सृष्टि में की हुई है। इस प्रेमपाश की सत्ता पशुओं, पक्षियों तथा कीट-पतङ्गों में भी दृष्टिगोचर हो रही है, जिस से प्राणिसृष्टि का सर्जन हो रहा है। वर कहता है कि हे वधु ! अभी तक तो इस प्रेमपाश द्वारा तेरे सुखद माता-पिता ने तुझे बांधा हुआ था, परन्तु अब से मैं तुझे अपने प्रेमपाश द्वारा बांधता हूं। इस प्रकार वर अपने हार्दिक प्रेम का विश्वास वधू को दिलाता है।

साथ ही वर कहता है कि इस नए घर में सत्य का राज्य है। इस घर में तू सदा सुखपूर्वक रहेगी, और मैं सदा सम्यग्भाषी हो कर तुझे सुखदायी होऊंगा।

पिता का पुत्री को उपदेश

२० भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२०॥

(भगः) ६ भगों से सम्पन्न पति (त्वा) हे पुत्रि ! तुझे (हस्तगृह्य) तेरा हाथ पकड़ कर (नयतु) ले चले, (अश्विना) वर के माता-पिता (त्वा) तुझे (रथेन) रथ द्वारा (प्रवहताम्) सुखपूर्वक घर पहुंचाए। हे पुत्रि ! (गृहान्) पति के गृहवासियों की ओर (गच्छ) तू जा, (यथा) ताकि (गृहपत्नी) पतिगृह की स्वामिनी (असः) तू हो सके, (वशिनी) पुत्रों और भृत्य आदि को वश में रखने वाली हो कर (त्वम्) तू (विदथम्) उन्हें कर्त्तव्यज्ञान का (आ वदासि) निरन्तर कथन किया कर।

[भगः=मन्त्र १८; सुभगा पद की व्याख्या में। प्र वहताम्=प्र+वह (प्रापणे)। गृहान्=गृहाः दाराः, तथा अन्य गृहवासी]

व्याख्या - पिता पुत्री को कहता है कि हे पुत्रि ! तेरा यह पति भग-स्वरूप या भगों वाला है (अर्श आद्यच्) यह प्राकृतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों से सम्पन्न है, धर्मात्मा तथा यशस्वी है, ज्ञानी तथा वैराग्यवान्

है। इस कथन द्वारा पुत्री को पिता पति के सद्‌गुणों का परिज्ञान देता है, ताकि पति पर कन्या भरोसा, विश्वास, तथा श्रद्धा कर सके।

पत्नी को पति, पितृगृह से,हाथ पकड़ कर रथ तक ले चले, तत्पश्चात् पति के माता-पिता की सुरक्षा में पत्नी, पतिगृह को रथ द्वारा जाए।

कन्या का पिता पुत्री को यह भी उपदेश देता है कि तू पति के घर जा कर अपने सद्‌गुणों के कारण पतिगृह की स्वामिनी बन। पत्नीगृह की तथा गृहवासियों की सच्ची स्वामिनी तभी बन सकती है जब कि वह अपने सेवाभाव तथा कर्त्तव्यभावना से सब गृहवासियों के मनों को मोह ले। गृहपत्नी का एक और भी अभिप्राय है। वह यह है कि विवाह के समय ही पत्नी,पतिगृह की स्वामिनी अर्थात् उत्तराधिकारिणी उद्‌घोषित कर दी गई है। मानो यह पत्नी का कानूनन हक उद्‌घोषित किया गया है।

पिता का पुत्री को उपदेश

२१. इह प्रिय प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥२१॥

(इह) इस पतिगृह में (ते) तेरे लिये (प्रजायै) तथा तेरी सन्तानों के लिये (प्रियम्) प्रिय वस्तुओं की (सम्, ऋध्यताम्) सम्यक् वृद्धि हो। (अस्मिन्, गृहे) इस पतिगृह में (गार्हपत्याय) गृहपति अर्थात् निजपति के कार्यों के सम्पादन के लिये (जागृहि) हे वधु! तू जागरूक रह। (एना, पत्या) इसी पति के साथ (तन्वम्) तनू का (संस्पृशस्व) स्पर्श किया कर, (अथ) तथा (जिर्विः) जीर्णावस्था वाली होकर अर्थात् बुढ़ापे में (विदथम्) ज्ञानविज्ञान का (आ वदासि) सर्वत्र उपदेश करते रहना।

[जिर्विः=यो जीर्यति। इसी प्रकार पुरुष के सम्बन्ध में कहा है कि **"अथ जिर्विर्विदथमा वदासि"** (अथर्व० ८।१।६)। जिव्रिः=**यो जीर्यति** (उणा० ५।४९) तथा जीर्विः (४।५५) महर्षि दयानन्द। "जिर्विः का ही रूपान्तर लौकिक संस्कृत में "जिव्रिः" तथा जीर्विः प्रतीत होता है। विदथम्=**विदथा वेदनेन** (निरु० ३।२।१२); **विदथे वेदने** (निरु० १।३।७); **विदथानि वेदनानि** "ज्ञानानि" (निरु० ६।२।७)]

व्याख्या—मन्त्र में पिता अपनी पुत्री को पहिले आशीर्वाद देता है कि तेरे तथा तेरी सन्तान के लिये पतिगृह में सदा सुखों की वृद्धि हो,

और तदनन्तर उपदेश देता है कि पतिगृह में गृहस्थ धर्म के पालन तथा पति के कार्यों के सम्पादन में सदा सावधान रहना। तथा यह भी कि पति से भिन्न अन्य किसी पुरुष के साथ प्रसंग नहीं करना, और वृद्धावस्था में ज्ञान विज्ञान का सर्वत्र प्रचार करना। वैदिक धर्म में वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को ही ज्ञानोपदेश का अधिकार है। स्त्रियां भी वृद्धावस्था में ज्ञानोपदेश देने के अधिकार से वञ्चित नहीं। स्त्रियां गृहजीवन में ही निज जीवन यात्रा की समाप्ति न समझें।

कन्या के पिता का वर-वधू को आशीर्वाद

२२. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥२२॥

(इह) इस गृहस्थजीवन में (एव) ही (स्तम्) रहो, (मा) न (वियौष्टम्) परस्पर वियोग को प्राप्त होओ। (पुत्रैः) पुत्रों के साथ, (नप्तृभिः) पौत्रों और दौहित्रों के साथ (क्रीडन्तौ) खेलते हुए, (मोदमानौ) आनन्द प्रसन्न होते हुए, (स्वस्तकौ) घर के जीवन को उत्तम बनाते हुए, (विश्वम्, आयुः) पूर्ण आयु को (व्यश्नुतम्) भोगो या प्राप्त करो।

व्याख्या—कन्या का पिता वर-वधू दोनों को आशीर्वाद देता हुआ कहता है कि (१) तुम दोनों गृहस्थ जीवन में पति-पत्नीभाव से बने रहो। (२)परस्पर पति-पत्नीभाव के सम्बन्ध का विच्छेद न करो,न परस्पर तलाक दो, और न एक दूसरे से चिरकाल तक अलग रहो। (३) गृहस्थ में जीवनों को नियमपूर्वक रखो ताकि तुम अपनी १०० वर्षों की पूर्ण आयु भोग सको। (४) पुत्रों, पौत्रों, दौहित्रों के साथ खेला करो, और परस्पर आनन्द-प्रसन्न रहो। (५) घर को शिष्टाचार आदि द्वारा उत्तम बनाओ तथा उसे साफ-सुथरा और रम्य बनाओ।

आश्रम व्यवस्था

२३. पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥२३॥

(एतौ) ये दोनों पति और पत्नी (मायया) प्रज्ञापूर्वक (पूर्वापरम्) पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम की ओर, गृहस्थाश्रम से वान-

प्रस्थाश्रम की ओर, वानप्रस्थाश्रम से संन्यासाश्रम की ओर (चरतः) विचरते हैं, और (शिशू) शिशुओं के सदृश (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (अर्णवम्) गृहस्थ-समुद्र को (परि) परित्याग करके (यातः) अगले आश्रम में चले जाते हैं। (अन्यः) एक अर्थात् पति (विश्वा भुवना) सभी गृहस्थ-भुवनों की (विचष्टे) देख-भाल करता है, और (अन्यः) दूसरी तू हे पत्नि ! (ऋतून्) ऋतुधर्मों को (विदधत्) प्रकट करती हुई (नवः) नवीन नवीन रूप में (जायसे) प्रकट होती रहती है ।

[**माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३।९)। परि (अर्णवम्) **"अपपरी वर्जने"** (अष्टा० १।४।८८); तथा "परिर्वचने वा वचनम्" द्वारा परि[1] अर्णवम् यातः=अर्णवं गृहस्थाश्रमं परित्यज्य यातः । अर्णवम्=समुद्रम् । मनुस्मृति में गृहस्थ को सागर अर्थात् समुद्र से उपमित किया है ।

"यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्" (मनु ६।९०)]

व्याख्या—मन्त्र में पति और पत्नी का वर्णन सूर्य और चन्द्र के दृष्टान्त द्वारा किया है। सूर्य और चन्द्र के सम्बन्ध में कहा है कि ये परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा अर्णव अर्थात् अन्तरिक्ष में पूर्व से पश्चिम तक विचरते हैं। सूर्य और चन्द्र परमेश्वर द्वारा दृढ़ नियम में गतियां कर रहे हैं, इनकी नियमबद्ध गतियों से इन के एक बुद्धिमान् नियन्ता का अनुमान होता है। उसी बुद्धिमान् की प्रज्ञा द्वारा प्रेरित हुए हुए ये पूर्व से पश्चिम की ओर नियमित गतियां कर रहे हैं।

ये दोनों मानों परमेश्वरीय माता के शिशु हैं, जोकि अन्तरिक्ष की क्रीडाभूमि में खेल रहे हैं। इन में एक अर्थात् सूर्य मानो चलता हुआ निज सौर मण्डल के भुवनों का निरीक्षण करता हुआ उन्हें नियमों में चलाता है, और दूसरा अर्थात् चन्द्रमा ऋतुओं अर्थात् तिथि, सप्ताह, पक्ष और मासरूपी काल का निर्माण कर रहा है। चन्द्रमा की बढ़ती और घटती हुई कलाएं काल के परिज्ञान में स्पष्ट सहायक हैं। तथा यह चन्द्रमा कलाओं के क्षय तथा वृद्धि द्वारा नवीन नवीन रूप धारण करता हुआ मानो प्रतिमास पुनः पुनः पैदा होता है।

---

१. "परि अर्णवम्" प्रयोग में "परित्रिगर्तं वृष्टो देवः" के सदृश वर्जनार्थक परि के योग में द्वितीया विभक्ति है। यद्यपि वर्जनार्थक "परि" के योग में पञ्चमी विभक्ति भी होती है।

पति सूर्य स्थानापन्न है और पत्नी चन्द्र स्थानापन्न। कारण यह है कि सूर्य शक्ति देता है और चन्द्रमा शक्ति लेता है। इसी प्रकार पति शक्ति प्रदान करता है और पत्नी शक्तिग्रहण करती है। पति और पत्नी ब्रह्मचर्याश्रमरूपी पूर्वसमुद्र से गृहस्थाश्रमरूपी अपर समुद्र में आते हैं, और प्रज्ञा, अर्थात् निज बुद्धिमत्ता से गृहस्थाश्रम में विचरते हैं। प्रज्ञा और बुद्धिमत्ता के विना ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में विचरना दुष्कर है। प्रज्ञावान् ही निज प्रज्ञा-नौका के द्वारा सफलतापूर्वक इन आश्रमसमुद्रों से पार हो सकता है। मन्त्र में ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम जाने का विधान पति-पत्नी के लिए किया है। यही विधि अगले आश्रमों के सम्बन्धों में भी जाननी चाहिये ।

गृहस्थाश्रम में आकर, शिशू रूप से परस्पर हंसते-खेलते और आनन्दित तथा प्रसन्न होते हुए, पति और पत्नी को गृहस्थ जीवन बिताना चाहिये। गृहस्थ में तरह तरह के कष्टों और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। हंसी-खेल की तबियत वाले पति-पत्नी ही इन कष्टों तथा आपत्तियों का मुकाबिला बहादुरी के साथ कर पाते हैं।

पति का गृहस्थ जीवन में सामान्य निरीक्षण होना चाहिये। पत्नी ऋतुओं अर्थात् ऋतुधर्मों को प्रकट करती हुई, ऋतुमती होती हुई, पुत्रों तथा पुत्रियों के रूप में नवीन नवीन रूपों में प्रकट होती रहती है। सन्तानों का निर्माण माता ही करती है। १० मास माता के पेट में रह कर बच्चा माता के संस्कारों से ही प्रभावित होता रहता है। जन्म के पश्चात् भी बाल्यावस्था में माता का ही प्रभाव बच्चों पर अधिकतर होता है, मानो माता ही पुत्रों तथा पुत्रियों के रूप में समय पर प्रकट होती रहती है। **"आत्मा वै पुत्रनामासि"**।

चन्द्र नाम से पत्नी का वर्णन

२४. नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥२४॥

(चन्द्रमः) हे चन्द्र समान शीतल स्वभाव वाली पत्नि ! तू (नवः नवः) नवीन नवीन रूपों में (जायमानः) प्रकट (भवसि) होती रहती है, (अह्नाम्) दिनों का तू (केतुः) झण्डा है, (उषसाम्) उषा कालों के (अग्रम्) आगे-

आगे अर्थात् उन से पहिले (एषि) तू आती है। (आयन्) आती हुई तू (देवेभ्यः) देवों के लिए (भागम्) भाग का (विदधासि) विधान करती है, (चन्द्रमः) हे चन्द्र सदृश पत्नि ! तू (आयुः) आयु (दीर्घम्) लम्बी (प्र तिरसे) बढ़ाती है, या करती है।

व्याख्या—मन्त्र में चन्द्रमा की दृष्टि से जायमानः,आयन में पुंल्लिंगता है। चन्द्रमा के पक्ष में चन्द्रमा प्रति अमावस्या के पश्चात् मानो जन्म लेकर नए नए रूपों में प्रकट होता रहता है। वह दिनों अर्थात् तिथियों का केतु अर्थात् ज्ञापक है। [केतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९); केतुम्=**प्रज्ञानाम** (निरु० १२।१।७)], कृष्णपक्ष के अन्तिम दिनों में चन्द्रमा पूर्व में उषा के आगे आगे चलता है। अमावस्या तथा पूर्णिमा के यज्ञों में, वायु आदि देवों को मानों यज्ञ का भाग प्रदान करता है, और आयु बढ़ाता है। चन्द्रमा के कारण समुद्रों में ज्वार-भाटा होते, ओषधियों में रससंचार होता, तथा प्राणिशरीरों में रक्त संचार बढ़ता है,—इस कारण चन्द्रमा आयु को बढ़ाता है।

विवाहसूक्त में चन्द्रमा का वर्णन निरर्थक है यदि चन्द्र के दृष्टान्त द्वारा चन्द्रसमशीतल स्वभाव वाली सूर्या का वर्णन मन्त्र में अभिप्रेत न हो। इसी भावना की दृष्टि से मन्त्र २३ में सूर्य-चन्द्र के दृष्टान्त द्वारा पति-पत्नी का वर्णन किया गया है। मन्त्र में पत्नी के निम्न लिखित गुणों का वर्णन हुआ है। (१) पत्नी चन्द्र के सदृश नवीन-नवीन रूपों में प्रकट होती रहती है। भिन्न भिन्न गुणों, आकृतियों वाली सन्तानें माता के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। माता ही मानों इन भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हो रही होती है। यथा "**आत्मा वै पुत्र नामासि सं जीव शरदः शतम्**" (शत० ब्रा० १४।९।८।२६)। (२) पत्नी दिन का मानो झण्डा है। राजा के महल पर झण्डा यदि लगा है तो ज्ञात होता है कि महल में राजा की उपस्थिति है। दिन के चढ़ते नई आशाओं और उमङ्गों का उदय होता है जिन की सफलता में पत्नी सहायक होती है। इस झण्डे के अभाव में गृहजीवन सूना है। (३) पत्नी को उषा काल से पूर्व ही जाग कर गृहकार्यों में व्यापृत हो जाना चाहिये। (४) पत्नी के होते ही देवों अर्थात् मातृदेव, पितृदेव, तथा अतिथि देव को उन उन का नियत खाद्य आदि का भाग मिल सकता है। पञ्चमहायज्ञों का विधान, जिन द्वारा कि अतिथि आदि देवों का सत्कार किया जाता है, पत्नीरहित पुरुष के लिए सम्भव नहीं। इसलिये

पत्नीरूपी चन्द्र का गृह के नभोमण्डल में प्रवेश आवश्यक माना गया है। (५) गृहस्थ में पत्नी यदि प्रेममयी हो तो वह पति की आयु के बढ़ाने में सहायक होती है।

पति में शान्ति और दानभाव

२५. परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥२५॥

(एषा) यह (जाया) पत्नी जब मानो (पद्वती) पैरों वाली (कृत्या) कृतिशक्ति (भूत्वा) हो कर (पतिम्) पति [के घर में या हृदय] में (विशते) प्रवेश करती है, तब हे पति ! तू (शामुल्यम्) शान्तिदाहक व्यवहारों को (परादेहि) त्याग दे, और (ब्रह्मभ्यः) वेद-तथा-ब्रह्म के ज्ञाताओं के प्रति (वसु) धन का (विभजा) विभाग किया कर।

[शामुल्यम्=शम् (शान्ति)+उल् (दाहे)। कृत्या=Action, Deed (आप्टे)।

व्याख्या—पत्नी को गृहकार्यों में कृतिशक्तिरूप होना चाहिये। गृहकार्यों में सुस्ती और आलस्य न होने चाहियें। तभी वह पति के हृदय में प्रवेश पा सकती है। पतिगृह में पत्नी के आ जाने पर पति को चाहिये कि वह शान्तिदाहक व्यवहारों को सर्वथा त्याग दे, ताकि पति-पत्नी में प्रेम बढ़ता जाए। कटुभाषण, असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार, तथा कठोर शासन आदि व्यवहार से गृहस्थ जीवन में शान्ति दग्ध हो जाती है। ऐसे व्यवहारों की अधिकतर सम्भावना पति की ओर से हुआ करती है। इस लिये मन्त्र में यह उपदेश पति को दिया है।

गृहस्थ जीवन में पति, वेदवेत्ताओं तथा ब्रह्मज्ञानियों का सत्कार धन द्वारा किया करे। इस निमित्त पति, निज आय का यथोचित भाग, सत्पात्रों की सेवा के निमित्त विभक्त कर दिया करे। यह सामाजिक धर्म है।

पत्नी के प्रेम का प्रकाशन

२६. नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥२६॥

जब (कृत्यासक्तिः) कृतिशक्तिरूप पत्नी की आसक्ति पति के प्रति (व्यज्यते) अभिव्यक्त हो जाती है, तब (नील लोहितम्) पति नीला भी लाल (भवति) हो जाता है। तब (अस्याः) इस पत्नी के (ज्ञातयः) पितृ-गृह के सम्बन्धी (एधन्ते) वृद्धि को प्राप्त करते हैं, और (पतिः) पति (बन्धेषु) पत्नी के प्रेमबन्धनों में (बध्यते) बंध जाता है।

व्याख्या—पत्नी मानो कृतिशक्ति का अवतार होनी चाहिये। अर्थात् कर्मशीला होनी चाहिये। पति के प्रति उसे अपनी प्रेमासक्ति भी निज व्यवहारों द्वारा अभिव्यक्त करनी चाहिये। इससे पति सदा प्रसन्न रह कर निर्बल भी परिपुष्ट हो जाता है। कमजोरी के कारण शरीर का लालरक्त नीला पड़ जाता है। मुख का लाल होना स्वास्थ्य का चिह्न है। मुख पर नीलापन कमजोरी तथा रोग का सूचक है।

पत्नी के पितृगृह के सम्बन्धी इस खुशी से बढ़ते हैं कि हमारी कन्या पतिगृह में बस गई है, और उस ने पति को निज-प्रेम-वश कर लिया है। पति भी पत्नी के प्रेमबन्धनों में बंध कर पत्नी के प्रति अनुराग प्रकट करने लगता है।

ऋतुमती का सहवास

२७. अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥२७॥

(रुशती) पति की चमकती हुई (तनूः) देह, (अमुया) उस (पापया) पापिन या ऋतुमती के साथ प्रसङ्ग द्वारा (अश्लीला) श्री रहित (भवति) हो जाती है, (यद्) जब कि (पतिः) पति (वध्वः) वधू के (वाससः= वाससा, ऋ० १०।८५।३०) वस्त्र या सहवास द्वारा (स्वम्) अपने (अङ्गम्) अङ्गों को (अभ्यूर्णुते) आच्छादित करता है।

व्याख्या—मन्त्र २६वें में पत्नी द्वारा प्रदर्शित पति के प्रति सच्चे अनुराग के लाभ दर्शाए हैं। परन्तु पत्नी यदि परपुरुष के साथ सहवास द्वारा पापकर्म करती है, तो वह पतिधर्म से च्युत हुई समझी जानी चाहिये, और उस के साथ गृहस्थधर्म का पालन न करना चाहिये।

तथा पत्नी जब ऋतुमती हो तब भी पत्नी सहवास के लिए वर्जित है। ऐसी अवस्था में किया गया सहवास, पति के नीरोग शरीर को दूषित

तथा रुग्ण कर देता है। ऋतुमती को भी पापा कहा है। इस अर्थ में पापा का अभिप्राय पापिन नहीं। अपितु "पा+अप" द्वारा ऋतुमती के साथ सहवास से पा (रक्षा)+अप (अपगत) हो जाती है। इसलिये ऋतुमती "पापा" है। ऐसी अवस्था में सहवास द्वारा शरीर रक्षारहित हो जाता है, तथा ऋत्ववस्था में पत्नी असुरक्षित[1] रहती है। मन्त्र का एक और अभिप्राय भी सम्भव है, "उस पापमयी रीति द्वारा पति की सुन्दर तथा चमकती देह भी श्रीरहित हो जाती है जब कि पति स्त्रियों के से वस्त्रों द्वारा निज देह को ढांपता है, उन वस्त्रों को पहनता है। पुरुष की पौरुष-पूर्ण देह मानो एक सुन्दर तथा चमकती हुई देह है। पौरुषशक्ति सम्पन्न पुरुष यदि स्त्रियों के से कपड़े पहने तो यह रीति पापमयी है, दूषित है। पुरुषों के लिये सिर में मांग निकालना भी स्त्री वेशभूषा का ग्रहण करना है ["रुशत् इति वर्णनाम, रोचते ज्वंलतिकर्मणः (निरु० ६।३।१३)]

सूर्या का पति ब्रह्मा

२८. आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥२८॥

(आशसनम्) आशामय जीवन, (विशसनम्) विशेष प्रशस्त जीवन, (उत) तथा (अधिविकर्तनम्) अधिकार पूर्वक कपड़े को विविध प्रकार से काटने तथा कातने का कर्म, (सूर्यायाः) सूर्या ब्रह्मचारिणी के (रूपाणि) इन रूपों को (पश्य) तू देख। (तानि) उन रूपों को (ब्रह्मा) वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी (शुम्भति) सुशोभित करता है।

[आशसनम्=आशा। यथा "यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे" (अथर्व० ७।५७।१); अर्थात् आशापूर्वक बोलते हुए जो मेरा विक्षुब्ध हुआ है। विशसनम्=वि (विशेष)+शस् (प्रशस्ति, प्रशस्त) अर्थात् प्रशंसित जीवन। शस्त=graised (आप्टे)। अधि+विकर्तनम् यथा "या अकृन्तन्नवयन्" (अथर्व० १४।१।४५)]

---

१. पापा=पा+अप=अपगता ऋत्ववस्था में सरदी आदि लग जाने तथा रोगाक्रमण के भय से स्त्री, "पा" अर्थात् रक्षा से अपगता अर्थात् असुरक्षित होती है, अतः ऐसी अवस्था में सहवास वर्जित है।

व्याख्या—मन्त्र में सूर्या ब्रह्मचारिणी के रूपों अर्थात् स्वरूपों या गुणों का वर्णन हुआ है। पत्नी को सदा आशामय जीवन व्यतीत करना चाहिये। आपत्तियों तथा कष्टों में भी पत्नी को अपना आशामय जीवन बनाने का अभ्यास करना चाहिये।

आशामय जीवन के साथ साथ पत्नी को अपना जीवन विशेषतया शस्त अर्थात् प्रशस्त बनाना चाहिये। निराशा में भी प्रशस्त कर्म, तथा सदा प्रशस्त व्यवहार करने चाहियें, इस आशा से कि सब दिन एक समान नहीं रहते।

अधिकार पूर्वक वस्त्रों को काटना-सीना, कातना तथा बुनना पत्नी का गृहशिल्प होना चाहिये। कन्या की शिक्षा का यह एक विशेष अङ्ग होना चाहिये। इस सम्बन्ध में कन्याओं को विशेष दक्षता प्राप्त करनी चाहिये ताकि वे अधिकार पूर्वक उक्त कार्यों को कर सकें। सूर्या ब्रह्मचारिणी ने ब्रह्मचर्यकाल में वैदिक शिक्षा पाई है और तदनुसार निज जीवन को ढाला है, इसलिये इस के योग्य पति भी वेदज्ञ विद्वान् ही होना चाहिये। वह ही विदुषी सूर्या के सद्गुणों में शोभारूप बन सकता है, और सूर्या के सद्गुणों की शोभा बढ़ा सकता है। ब्रह्मा-कोटि के वर, तथा सूर्या-कोटि की वधू का, परस्पर विवाह "ब्राह्मविवाह" कहलाता है। ब्राह्मविवाह के सम्बन्ध में मनुस्मृति का श्लोक निम्न लिखित है,—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥

अर्थात्—"कन्या के योग्य, सुशील तथा [वेदों] के विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्र आदि से अलङ्कृत करके, उस उत्तम पुरुष को बुला कर, अर्थात् जिस को कन्या ने भी प्रसन्न [पसन्द] किया हो, उस को कन्या देना, वह ब्राह्मविवाह कहाता है"। (संस्कारविधि, महर्षि दयानन्द)।

सूर्या और पाकविद्या

२९. तृष्टमेतत्कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति॥२९॥

(एतत्) यह [अन्नम्] अन्न (तृष्टम्) तृषाजनक है, अधिक प्यास लगाने वाला तथा दाहजनक, है (कटुकम्) यह अन्न परिणाम में कटु है, (अपाष्ठवत्) यह अन्न निःसार है, (विषवत्) यह अन्न विषैला है, (अत्तवे, न) यह अन्न खाने योग्य नहीं है,—इस प्रकार के अन्नविज्ञान वाली (सूर्याम्) सूर्या ब्रह्मचारिणी को, (यः) जो (ब्रह्मा) वेदवित् तथा ब्रह्मज्ञ विद्वान् (वेद) जानता, अर्थात् उस के इन गुणों से परिचित है, (सः, इत्) वह ही (वाधूयम्) सूर्या के साथ वधूकर्म या विवाह के (अर्हति) योग्य होता है।

[**तृष्टम्=तृषा पिपासायाम्, तथा दाहजनकम्** (वाचस्पत्य कोष)। कटुकम्=यो जिह्वाग्रं बाधते, उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते, नासिकां स्रावयति सः कटुकः (सुश्रुत)। sharp, sungenr, hot, disageeable, u pleasent (आप्टे)। अपाष्ठवत्=अपगता आस्था यस्मात् तद्वत्, जिस में से सार निकल गया हो एसा अन्न]

व्याख्या—सूर्या ब्रह्मचारिणी को आध्यात्मिक, मानसिक तथा सदाचार की शिक्षा के साथ साथ वस्त्र सम्बन्धी दस्तकारी, अन्नों के गुणावगुणों का ज्ञान, तथा उन की पाकविद्या की शिक्षा भी देनी चाहिये। वर्तमान में इसे गृह विज्ञान (Home-science) कहते हैं। जो ब्रह्मा सूर्या के इन गुणों को पसन्द करता है वही ब्रह्मा सूर्या के साथ विवाह का अधिकारी है।

सूर्या विवाहार्थ ब्रह्मा की अन्य योग्यता

३०. स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति॥३०॥

(सः) वह (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञ (इत्) ही (तत्) उस (स्योनम्) सुखकारिणी (सुमङ्गलम्) तथा उत्तम मङ्गलमयी, (वासः) वस्त्राच्छादित वधू को, (हरति) निज गृह में ले जाता है, (यः) जोकि (प्रायश्चित्तिम्) प्रायः, विज्ञान का (अध्येति) अध्ययन करता रहता है (येन) जिस विज्ञान से कि (जाया) पत्नी (रिष्यति, न) दुःख, कष्ट और विनाश को प्राप्त नहीं होती।

[**स्योनम् सुखनाम** (निघं० ३।६)। वासः=वासस्=वस्त्राच्छादित वधू। प्रायश्चित्तिम्=प्रायः+चित्तिम् (चिती संज्ञाने)+क्तिन्। अध्येति=अध्ययनं करोति। अथवा "वासः"=वस्त्र। विवाहानन्तर वधू के

वस्त्रों को ले जाने के साथ साथ वधू को भी ब्रह्मा ले जाता है, इसलिये वासः शब्द के द्वारा वधू भी अभिप्रेत है, इसीलिये मन्त्र में जाया शब्द का प्रयोग हुआ है।

व्याख्या—जो पति, गृहस्थ जीवन में आने वाले कष्टों की निवृत्ति के उपायों को जानता और उन का अध्ययन करता रहता है, वह स्वयं भी तथा उस की पत्नी भी सुखी रहती है।]

कमाई, तथा सत्य-मीठी वाणी

३१. युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥३१॥

(ऋतोद्येषु) सत्य ही जिन में बोलना चाहिये उन व्यवहारों में (ऋतम्) सत्य (वदन्तौ) बोलते हुए (युवम्) तुम दोनों (समृद्धम्) पुष्कल (भगम्) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य का (सं भरतम्) सम्पोषण तथा संग्रह करो। (ब्रह्मणस्पते) हे वेदों के पति परमेश्वर! या वेदज्ञ विद्वन्! (अस्यै) इस वधू के लिए (पतिम्) पति को (रोचय) रुचि कर बना, ताकि यह (संभलः) सम्यग्भाषी हो कर (चारु) सुचारुरूप में पत्नी के प्रति (एताम्, वाचम्) इस वाणी को बोला करे।

[भगम्=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**"। भरतम्=भृ पोषणे। संभलः=सम्(सम्यक्)+भल परिभाषणे]

व्याख्या—(१) पति और पत्नी को सभी व्यवहारों में सदा सत्य ही बोलना चाहिये। (२) गृहस्थ जीवन में ये दोनों भर्गों का सम्यक् संग्रह करें। (३) गृह जीवन में भी वैराग्य की आवश्यकता है। गृहजीवन को कर्त्तव्य की दृष्टि से निभाएं, राग से नहीं। विना वैराग्य के गृहजीवन में लम्पटता का राज्य हो जाता है। (४) वेदों के विद्वान् पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह समय-समय पर नव विवाहितों को उपदेश देता रहे जिस से कि पति-पत्नी में पारस्परिक प्रेम बढ़ता रहे, जिस से कि ये दोनों परस्पर में रुचिकर बने रहें, और सदा परस्पर में मधुर तथा प्रिय वाणी बोला करें। मन्त्र में पति को "संभल" कहा है, अर्थात् सम्यग्भाषी। कटुभाषण की सम्भावना प्रायः पतियों की ओर से होती है, पत्नियों की ओर से नहीं।

गृह में गोपालन

३२. इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥३२॥

(गावः) हे गौओ! (इह) इस घर में (असाथ, इत्) सदा रहो, (परः) इस घर से परे (न, गमाथ) न जाओ। (प्रजया) सन्तानों द्वारा (इयम्) इस गृहपति को (वर्धयाथ) बढ़ाती रहो। (शुभम्) शोभायुक्त गोशाला में (यतीः) हे गौओ! तुम जाओ, (उस्रियाः) सूर्य की किरणों के सदृश शुद्ध, तथा (सोमवर्चसः) दुग्धरूपी तेज वाली तुम होओ। (विश्वे देवाः) घर के सब देव अर्थात् मातृदेव, पितृदेव आदि (इह) इस घर में (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (क्रन्) प्रसन्न करें।

[उस्रियाः, उस्रः=वसतीति उस्रः=रश्मिः (उणा० २।१३, महर्षि दयानन्द)। **उस्रिया इति गोनाम** (निरु० ४।३।१९); तथा "**वीतं पातं पयः उस्रियायाः**" (ऋ० १।१५३।४) उस्रा=**उस्राविणोऽस्यां भोगाः** (निरु० ४।३।१९)=उत्+स्रु गतौ, जिस से कि दूध स्रवित होता है। सोम=दूध। यथा "**अनुपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः**" (ऋ० ९।१०७।९) में, दोही गई गौओं से सोम अर्थात् दूध क्षरित होता है, ऐसा कहा है]

व्याख्या—गृहस्थों को घर में गौएं रखनी चाहियें। दूध से छुटी गौओं को पराये हाथ बेचना न चाहिये। गौएं निज सन्तानों अर्थात् बछड़े-बछड़ियों द्वारा गृहपति को और गृहपति की सन्तानों को दूध, घृत देकर बढ़ाती हैं। गौओं की गोशाला सुन्दर और शोभायुक्त होनी चाहिये। इस से गौएं स्वस्थ तथा प्रसन्न रहती हैं। उन्हें स्नान आदि द्वारा शुद्ध और साफ रखना चाहिये जैसे कि सूर्य की किरणें शुद्ध और साफ होती हैं। घर के बुजुर्गों को चाहिये कि सेवा द्वारा गौओं के मनों को सदा प्रसन्न रखें।

गोपालन और देवयज्ञ

३३. इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥३३॥

(गावः) हे गौओ! (इमम्) इस घर में (प्रजया) बछड़ा या बछड़ी

समेत (सं विशाथ) मिलकर प्रवेश करो, ताकि (अयम्) यह गृहपति (देवानाम्, भागम्) देवों के भाग को (न मिनाति) नष्ट या विलुप्त न करे। (पूषा) परिपुष्ट गृहपति, (सर्वे मरुतः) सब मानसून[1] वायुएं, या यज्ञशील गृहवासी, (धाता) पृथिवी या धारणपोषण करने वाला गोपाल अर्थात् ग्वाला, तथा (सविता) गृहपत्नी का या पति का उत्पादक पिता (वः) हे गौओ ! तुम्हें (अस्मै) इस घर के लिए (सुवाति) प्रेरित करे।

[पूषा] पूषा पुत्रः, विवाहित गृहपति (मन्त्र १५)। मरुत;=मानसून वायुएं। यथा "**अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति**......(अथर्व० ४।२७।४)। तथा **मरुतः ऋत्विजः** (निघं० ३।१८) अर्थात् ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाले यज्ञशील गृहवासी। धाता=धा धारण पोषणयोः, या पृथिवी[2]। "**इयं (पृथिवी) वै धाता** (तै० ब्रा० ३।८।२३।३)। सविता=पत्नी का पिता (मन्त्र ९, १९); या पति का पिता]

व्याख्या—गौएं ऐसी खरीदनी चाहियें जिन के साथ बछड़े-बछड़ियां हों, ताकि वे दूध दे सकें। अतः प्रजा समेत गौओं का गृहपति के घर प्रवेश करना चाहिये।

गौएं घर में होने पर उन के दूध, घृत द्वारा देवयज्ञ करने चाहियें, ताकि देवों को उन का भाग मिलता रहे। अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास आदि देवयज्ञ हैं। इसी प्रकार दूध, दही, घृत आदि द्वारा अतिथि देव, मातृ-देव, पितृदेव, आचार्य देव आदि का सत्कार करना भी देवयज्ञ है।

मन्त्र ९ में पूषा द्वारा परिपुष्ट वर का वर्णन हुआ है। अपनी परि-पुष्टि को बनाए रखने के लिए उसे चाहिये कि वह घर में गौएं सदा रखे। सविता पिता है वधू का। वैदिक विवाह विधि में सविता, वर को गोदान करे ऐसा विधान है, जोकि इस मन्त्र द्वारा अनुमोदित हुआ है। प्रकरणा-नुसार पतिगृह में सविता है, पति का पिता।

१. मानसून वायु जल के अभाव को दूर करती, तथा खेती के लिए उपकारी है।

२. गौओं के चारे के लिए पृथिवी की भी आवश्यकता है, ताकि गौओं के चारे की कमी अनुभव न हो। गावः में बहुवचन है, ताकि दुग्ध-घृत प्रभूत मात्रा में, तथा बछड़े-बैल कृषि कर्म के लिए प्राप्त हो सकें।

गौओं को चराने के लिए ग्वाले की भी आवश्यकता होती है। तथा गौओं के चारे के लिए कृषियोग्य भूमि भी चाहिये। इन दोनों के लिए "धाता" शब्द का प्रयोग मन्त्र में हुआ है। इसी प्रकार मानसून वायु कृषि-कर्म में सहायक है, जिस से कि गौओं को चारा मिल सके। गौओं के होते गृहवासियों को यज्ञशील होना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है, यथा—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

ऋ० ३।५३।१४॥

हे परमेश्वर ! कृपण लोगों में स्थित तेरी गौएं किस प्रयोजन को सिद्ध करती हैं, जो कि न तो स्तनपक्व दूध ही देती हैं, और न उन के दूध द्वारा उन के स्वामी यज्ञाग्नि को ही तपाते हैं......। आशिरम्= आ+श्रीञ् पाके+क्विप्; श्री को शिर आदेश (अष्टा० ६।१।३६)। **घर्मः यज्ञनाम** (निघं० ३।१७)।

सखाओं का सत्कार

३४. अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
स भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥३४॥

(अनृक्षराः) काटों अर्थात् कष्टों से रहित (ऋजवः) तथा सीधे (पन्थानः) मार्ग (सन्तु) हों, (येभिः) जिन मार्गों द्वारा कि (सखायः) हमारे मित्र (नः) हमारे (वरेयम्) श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा आने योग्य घर में (यन्ति) आते-जाते हैं। (धाता) विधाता परमेश्वर (नः) हमारा (भगेन) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के साथ (सं सृजतु) संसर्ग करे, (अर्यम्णा)[1] अर्य=स्वामी अर्थात् जगत् के स्वामी को जानने वालों

१. अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानाति, इति अर्यमा (उणा० १।१५९, महर्षि दयानन्द)। अर्यः=ईश्वरः (निरु० १३।१।४), तथा आर्यः=ईश्वर पुत्रः(निरु० ६।५।२६)। निरुक्त और महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अर्यमा=स्वामी अर्थात् ईश्वर को जानने वाला।

के साथ (सम्) हमारा संसर्ग करे, (वर्चसा) तेज के साथ (सम्) हमारा संसर्ग करे।[1]

[वरेयम्=वर (श्रेष्ठ मनुष्य)+एयम् (उन द्वारा आने योग्य)।

पत्नी के तीन गुण

३५. यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥३५॥

(अक्षेषु) रथों की धुराओं में (यत्) जो (वर्चः) तेज (आहितम्) निहित है, (च) और (सुरायाम्) जल में (यद्) जो तेज निहित है, (च) और (यत्) जो (वर्चः) तेज, (अश्विना) हे वर के माता-पिता ! (गोषु) गौओं में निहित है, (तेन) उस उस (वर्चसा) तेज द्वारा (इमाम्) इस वधू को (अवतम्) दीप्ति सम्पन्न करो।

[सुरा उदकनाम (निघं० १।१२) अवतम्=अव गति, रक्षण, कान्ति, दीप्ति आदि। आहितम्=अथवा "कथितम्"। यथा "**ब्राह्मणे इदमाहितम्**"। अक्ष=Axis Axle (आप्टे)]

व्याख्या—"अश्विना" द्वारा वर के माता-पिता का निर्देश हुआ है। (मन्त्र ८, १४, २०)। वर के माता-पिता वधू में ३ तेज स्थापित करें। (१) रथ की धुरा का तेज। (२) जल का तेज। (३) गौओं का तेज।

रथ के दो चक्रों या पहियों में लगे दण्ड को अक्ष [मन्त्र १२] अर्थात् धुरा कहते हैं। इस धुरा पर सम्पूर्ण रथ अवलम्बित रहता है, धुरा सम्पूर्ण रथ का आधार होती है। अतः धुरा में तेज है "आधार-रूपी गुण"। नववधू को शिक्षा देनी चाहिये कि तू ही इस गृहस्थ-रथ का आधार है।

जल का स्वभाव है शीतलता। शीतलता जल का तेज है। नववधू को जल के दृष्टान्त द्वारा शीतलता, क्षमा, शान्ति का उपदेश देना चाहिए।

---

१. अथर्ववेद का अंग्रेजी में अनुवादक "William wight \ hitr ey" इस मन्त्र के सम्बन्ध में लिखता है कि "Text is a foolish and inconsistant"। अर्थात् मन्त्र रचना मूर्खता पूर्वक है, और असङ्गत है। अनुवादक मन्त्र के अभिप्राय को समझ नहीं सका।

गौ सात्विक दूध द्वारा मातृवत् पालन-पोषण करती है। अतः गौओं में तेज है "मातृवत् पालकतारूपी गुण। पत्नी भी पालन-पोषण की दृष्टि से गोरूप वाली होनी चाहिये।

गौ अवध्या है

३६. येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥३६॥

(येन) जिस (वर्चसा) तेज द्वारा (महानघ्न्याः) महा-अवध्या गौ का (जघनम्) ऊधस् सींचा गया है, (वा) तथा (येन) जिस तेज द्वारा (सुरा) जल सींचा गया है, (येन) जिस तेज द्वारा (अक्षाः) रथों की धुराएं (अभ्यषिच्यन्त) सींची गई हैं, (अश्विना) हे वर के माता-पिता ! (तेन) उस तेज द्वारा (इमाम्) इस वधू को तुम (अवतम्) कान्तिमती करो या सींचो।

[महाघ्न्याः[1]=महा+न+घ्नी (अघ्नी)। अघ्न्या गोनाम (निघं० २।११)। अवतम्=अव् कान्तौ। ह्विटनी ने अथर्ववेद के अंग्रेजी अर्थों में "महानघ्न्याः जघनम्" का अर्थ किया है "Back sides of courteugan" अर्थात् 'वैश्या का नितम्ब भाग"। कितना भ्रष्ट अर्थ है। क्या नववधू को वैश्या बनने का उपदेश वर के माता-पिता देंगे? जघनम् द्वारा यदि गौ की उत्पादक इन्द्रिय भी अभिप्रेत हो तो इस द्वारा केवल यह अभि-प्राय सम्भव है कि नववधू सात्विक सन्तानों की जननी हो, गौ की तरह। मन्त्र ३५ की दृष्टि से 'महानघ्नी' द्वारा गौ का ही ग्रहण समझना चाहिये]

व्याख्या—वेदों में गौ का नाम "अघ्न्या" भी है। अघ्न्या का अर्थ है "न हनन करने योग्या"। इस से स्पष्ट है कि वेदों में गौ की हत्या का निषेध है। इसी प्रकार बैल के लिए "अघ्न्यः" शब्द वेदों में पठित है। यथा "**गवां यः पतिरघ्न्यः**" (अथर्व० ६।४।१७)। इस द्वारा बैल की हत्या का भी निषेध किया है। मन्त्र में गौ के लिए "महानघ्नी" शब्द का प्रयोग हुआ है, इस से गौ को "महा-अवध्या" कहा है, क्योंकि गौ दूध आदि द्वारा महोपकारिणी है।

गौ के ऊधः स्थल में दूधरूपी तेज होता है, जिस द्वारा गौ अपने बच्चे

---

१. सम्भवतः वेद में, गौ के लिए, नघ्नी=अघ्नी और अघ्न्या दोनों प्रयुक्त हुए हैं।

को तेजस्वी बनाती है। नववधू माता बन कर अपने उत्तम और सात्विक दूध द्वारा अपने बच्चों को तेजस्वी बनाया करे,—यह उपदेश मन्त्र द्वारा नववधू को दिया गया है।

सुरा अर्थात् जल, और अक्ष अर्थात् धुरा, के तेज से जो उपदेश नववधू को लेना चाहिये उस का वर्णन मन्त्र ३५ वें में किया गया है।

आस्तिकता और वीर्यशक्ति

३७. यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु ।
अपांनपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्या३वान् ॥३७॥

(यः) जो परमात्माग्नि (अनिध्मः) विना इन्धन के (अप्सु अन्तः) रक्त तथा वीर्यरूपी जलों के भीतर (दीदयत्) प्रदीप्त होता है, (यम्) जिस की (विप्रासः) मेधावी लोग (अध्वरेषु) हिंसारहित ध्यान यज्ञों में (ईडते) स्तुति-उपासना करते हैं। (अपां नपात्) हे वीर्यरूपी जलों का न पतन होने देने वाले परमेश्वर! (मधुमतीः) मधुसदृश (अपः) वीर्यरूपी जल (दाः) हमें प्रदान कर, (याभिः) जिन वीर्यरूपी जलों द्वारा (इन्द्रः) इन्द्र (वीर्यावान्) वीर्यवाला हो कर (वावृधे) बढ़ता है।

[अप्सु=वैदिक साहित्य में आपः का अर्थ रक्त तथा वीर्य भी होता है। बाह्य जगत् के जल का प्रतिनिधि, आध्यात्मिक अर्थों में, शरीरगत रक्त है। यथा "**को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः**" (अथर्व० १०।२।११)। अथर्व० १६।१।१-१३ में वीर्य का भी वर्णन आपः शब्द द्वारा हुआ है। दीदयत्=**दीदयति** ज्वलतिकर्मा (निघं० १।१६)। अपांनपात्=अपां+न+पात् (पत्) वीर्यरूपी जलों का न पतन होने देने वाला। इन्द्रः=आत्मा, अर्थात् आत्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति। वीर्यावान्=वीर्य सम्पन्न इन्द्र। इसी भावना से कहा है कि "**वीर्यं वा इन्द्रः**" (तै० ब्रा० ६।७।५।८); "**शिश्नमिन्द्रः**" (शत० ब्रा० १२।६।१।१६); "**रेत इन्द्रः**" (शत० ब्रा० १२।६।१।१७)]

व्याख्या—वेदों में परमात्मा को अग्नि भी कहा है "**तदेवाग्निस्तदा-दित्यः**" (यजुः ३२।१)। परमात्मा प्रकाशस्वरूप है, अतः अग्नि है। वह भक्तों के पापों को भस्मीभूत कर देता है, अतः अग्नि है। परमात्माग्नि पार्थिव अग्नि जैसा नहीं जो कि इन्धन से प्रदीप्त होता है (अनिध्मः)।

परमात्माग्नि जलों में प्रकट होता है। उपनिषदों में हृदय को परमात्माग्नि का स्थान कहा है। हृदय में रक्तरूपी जल का निवास है, और रक्त में वीर्य का निवास है। अतः मन्त्र में कहा है कि परमात्माग्नि जलों में प्रदीप्त होती है, और वीर्यवान् व्यक्ति ही योग के अष्टाङ्ग उपायों द्वारा परमात्मा का साक्षात् कर सकता है। योगदर्शन में वीर्य को योग-सिद्धि में कारण कहा है। यथा "**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**" (योग १।२०)।

वैदिक यज्ञ अध्वर हैं, हिंसा से रहित हैं। ऐसे यज्ञों में विप्र अर्थात् मेधावी जन ही परमात्मा की स्तुति उपासना तथा पूजा करते हैं।

परमात्मा की कृपा वीर्यरूपी जल का पतन नहीं होने देती। जिस पुरुष में परमात्माग्नि का प्रकाश हुआ है वह गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्य विधि से रहता है। उस का वीर्य कामवासना से प्रेरित हो कर पतित नहीं होता।

"मधु" वर्णमाला वीर्य उत्तम गिना गया है। वीर्य द्वारा मनुष्य वीर्यवान् हो कर दीर्घायु होता है। गृहस्थ में उत्तम वीर्य की आवश्यकता होती है। इसलिये मन्त्र में उत्तम वीर्य की पहिचान, उस की रक्षा, उस का पतन न होने देना, और उस के लाभों का वर्णन हुआ है। विशेष:—आधिदैविक दृष्टि से मन्त्र का अर्थ अन्तरिक्षस्थ विद्युत् भी है। परन्तु गृहस्थ प्रकरण में विद्युत्-सम्बन्धी वर्णन अनुपयोगी है।

कामग्रह और भद्रकाम

३८. इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥३८॥

(इदम्) अब या यहीं (अहम्) मैं (रुशन्तम्) हिंसाकारी (तनूदूषिम्) और शरीर को दूषित करने वाले (ग्राभम्) कुकामरूपी ग्राह को (अपोहामि) त्याग देता हूं, (यः) और जो (भद्रः) सुखकारी और कल्याणकारी (रोचनः) और शरीर की कान्ति या दीप्ति करने वाला (ग्राहः) ग्राह है (तम्) उसे (उद् अचामि) उत्कृष्ट हो कर प्राप्त होता हूं।

[रुशन्तम्=रुश हिंसायाम्। तनूदूषिम्=यथा (अथर्व० १६।१।७)। ग्राभम्=ग्राह=पकड़ लेने वाला, नक्र, नाका, मगरमच्छ। हृग्रहोर्भः

छन्दसि (वार्तिक ८।२।३२) द्वारा "ह को "भ" हुआ। भद्रम्=भद् कल्याणे सुखे च]

व्याख्या—काम[1] भाव को सर्वथा त्याग देने से गृहस्थधर्म का पालन नहीं हो सकता। परन्तु काम के उग्ररूप में गृहस्थधर्म अधर्म में परिणत हो जाता है। अतः गृहस्थधर्म के पालन के लिए न तो काम उग्ररूप में होना चाहिये, और न इस का सर्वथा त्याग ही।

मन्त्र में उग्र-काम को ग्राह कहा है। ग्राह है नक्र या नाका। जैसे नाका प्राणी को पकड़ कर उस का विनाश कर देता है, वैसे उग्रकाम भी विनाशक है, हिंस्र है, हिंसाकारी है। तथा शरीर को दूषित कर देता है। परन्तु गृहस्थधर्मोपयोगी काम का श्रेयरूप भी है। इसे भद्र और रोचन कहा है। सद्गृहस्थी इस श्रेयरूप वाले काम को स्वीकार करें। परन्तु यह भद्र ग्राह भी है ग्राहरूप। इसी लिये सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ब्रह्मचर्य से ही संन्यासग्रहण कर श्रेयरूप काम का भी त्याग ही करते हैं। श्रेयरूप ग्राह भी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के ह्रास में कारण होता है।

परन्तु श्रेयरूप काम का स्वीकार करना भी तब तक सम्भव नहीं जब तक कि मनुष्य उच्च तथा उत्कृष्ट भावनाओं का अवलम्ब नहीं लेता। मन की उत्कृष्टावस्था के विना काम का श्रेयरूप होना असम्भव है। इस भाव को मन्त्र में "उद्-अचामि" द्वारा प्रकट किया है।

स्नान तथा गर्भाधान

३९. आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥३९॥

(अस्यै) इस वधू के लिए, (ब्राह्मणाः) वेदों के विद्वान् वैद्य, (स्नपनीः) स्नान के योग्य (आपः) जलों को (आहरन्तु) लाएं, (अवीरघ्नीः) और वीर पुत्रों का हनन न करने वाले जलों को (उद् अजन्तु) उत्कृष्ट बना कर लाएं। (अर्यम्णः) ईश्वर को जानने वाले पति के (अग्निम्)[1] तेज को, वीर्य को (पर्येतु) यह वधू प्राप्त करे। (पूषन्) हे पुष्टपति! (श्वशुरः, देवरः, च) वधू के श्वशुर, देवर आदि (प्रतीक्षन्ते) इस की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

---

१. काम आदि अग्नियों के लिए देखो, अथर्व० (१६।१।१-१३)।

[ब्राह्मणाः=वैद्य ब्राह्मणवृत्ति के होने चाहियें, धनलोलुप नहीं। यथा **"ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि"** ॥ (यजु० १२।९६), अर्थात् ओषधियों ने अपने राजा सोम के साथ संवाद में कहा कि हमें जब ब्राह्मण कोटि का निरोह व्यक्ति चिकित्सा के लिए प्रयुक्त करता है, तो हम रोगी को कष्टों से पार कर देती हैं। अर्यम्णः=**अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति अर्यमा** (उणा० १।१५९, महर्षि दयानन्द)।

स्नपनीः=गर्भाधान-संस्कार में गर्भाधान से पूर्व स्नाने की विधि है। पारस्कर गृह्यसूत्रों में कहा है कि **अथ गर्भाधानं स्त्रियः पुष्पवत्याः, चतुरहादूर्ध्वं स्नातया विरजायाः तस्मिन्नेव दिवा,—आदित्यं गर्भमिति"**। इस की व्याख्या में महर्षि दयानन्द संस्कार विधि में लिखते हैं कि "इस के अनन्तर जब स्त्री रजस्वला हो कर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रजरोग रहित हो उसी दिन **"आदित्यं गर्भम्"** इत्यादि मन्त्रों से आहुति देनी"। "तथा इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को वधू लेके, स्नान के घर में जा कर, उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन कर के स्नान करे" (संस्कार-विधि)]

व्याख्या ब्राह्मण अर्थात् वेदज्ञ वैद्य, गर्भाधान के दिन, ऋतुमती होने के चौथे दिन, वधू के लिए स्नानयोग्य जल को लाए। यह जल नानाविध ओषधियों द्वारा उत्कृष्ट बना कर वधू के स्नान के निमित्त लाना चाहिये। गर्भाधान के समय तथा तत्पश्चात् भी वधू ऐसे उत्कृष्ट जलों द्वारा स्नान करती रहे। इस से गर्भ स्थापन हो जाता है। तथा गर्भस्थ बच्चे का नाश नहीं होता। इस स्नान द्वारा बच्चे पुष्ट और स्वस्थ होकर संसार में आते हैं। चरक में 'गर्भस्थापनीय प्रकरण" में लिखा है कि "गर्भवती स्त्री इन्द्रायण, ब्राह्मी, सुफेद दूब, नीली दूब, पाटला, गिलोय, हरड़, नीम, खरेटा, शतमूली इन सब ओषधियों के साथ सिद्ध किये हुए दुग्ध और घृत का पान करे। तथा इन ओषधियों के साथ सिद्ध किये गए जल से स्नान करे" (चरक, शरीर स्थान, अ० ८)

स्नान के पश्चात् ईश्वरज्ञ-पति की अग्नि अर्थात् तेज को, वधू अपने गर्भाशय में धारण करे। मन्त्र में पति को अर्यमा कहा है। गर्भाधान के समय पति परमेश्वर का ध्यान करता हुआ सात्विक भावना से गर्भाधान

करे, वैषयिक भावना से नहीं। गर्भाधान के समय विचारों का प्रभाव गर्भस्थ बच्चे पर अत्यधिक पड़ता है। इस समय पति को ध्यान करना चाहिये कि परमेश्वर जिस प्रकार प्रकृति में निज कामना रूपी गर्भ का धारण करता है इसी प्रकार मैं भी पत्नी में गर्भाधान करूं।

पति के वीर्य को अग्नि अर्थात् तेज कहा है। अग्नि अर्थात् तेज को वीर्य भी कहते हैं। यथा **"स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजः"** (रघुवंश १४।६५) में सीता ने कवि की उक्ति द्वारा राम के वीर्य को तेजः कहा है। तथा तेजः =Semen, Seed, Semen Virile (आप्टे)।

"अर्यम्णो अग्निं पर्येतु" का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि गर्भाधान के निमित्त गर्भाधान-संस्कार रचाकर, अर्यमा नाम वाले पति द्वारा प्रदीप्त की गई अग्नि की परिक्रमा, पत्नी करे।

मन्त्र में श्वशुर और देवर आदि सम्बन्धियों द्वारा जिस प्रतीक्षा का वर्णन हुआ है वह गर्भाधान के सम्बन्ध में प्रतीत होता है।

गर्भाधान के समय शान्त भावना

४०. शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥४०॥

(ते) तेरे लिए हे वधु! (हिरण्यम्) गर्भस्थवीर्य (शम्) सुखप्रद हो, (आपः) सप्त प्राण (उ) निश्चय से (शम्) सुखप्रद (सन्तु) हों, (मेथिः) तुम दोनों की प्रज्ञा (शम्) सुखप्रद हो, (युगस्य) तुम दोनों की (तर्द्म) पारस्परिक हिंसा तथा अनादर भाव (शम्) शान्त हो जाए। (ते) तेरे लिए (शतपवित्रा आपः) सैकड़ों प्रकार की ओषधियों द्वारा पवित्र किये गए स्नानार्थ जल (शम्) सुख-शान्ति प्रद (भवन्तु) हों, (उ) तथा (पत्या) पति के साथ (शम्) शान्तिपूर्वक (तन्वम्) निज शरीर का (सं स्पृशस्व) स्पर्श कर।

[हिरण्यम्=**शुक्रं हिरण्यम्** (तै० ब्रा० १।७।६।६)। आपः=**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ** ॥ (यजु० ३४।५५) पर "सप्त आपः" के लिए निरुक्त में कहा है कि **"सप्त आपनानि इमानि एव षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी"** (निरु० १२।४।३८)। मेथिः=प्रज्ञा (भ्वादि);

मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः, थान्ताविमाविति स्वामी(भट्टो जी दीक्षित)। उ= अथवा पादपूर्णः। यथा **"कम् ईम् इत्, उ,—इति पदपूरणाः"** (निरु० १।३।१०)। तर्द्म=तृद् हिंसानादरयोः। पारस्परिक शारीरिक यातनाएं, तथा मानसिक कष्ट देने हिंसारूप हैं, कटुभाषण भी वाचिक हिंसा है,— गृहस्थ-जीवन में ये शान्त हो जाने चाहियें, इसी प्रकार पारस्परिक अनादर की भावनाओं का भी परित्याग कर देना चाहिये]

पत्नी की पवित्रता के तीन प्रकार

४१. खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥४१॥

(शतक्रतो) हे सौ वर्षों की आयु में कर्मशील, यज्ञशील तथा उत्तम संकल्पों वाले! तथा (इन्द्र) हे आत्मिक शक्ति सम्पन्न पति! तूने (रथस्य) शरीर-रथ के (खे) आनन्द में, (अनसः) अन्न के (खे) आनन्द में, (युगस्य) पति-पत्नी के जोड़े के (खे) आनन्द में, (अपालाम्) तेरे बिना अन्य जिस का पालक नहीं,—ऐसी पत्नी को, (त्रिः) इन तीन प्रकारों से (पूत्वा) पवित्र करके, (सूर्यत्वचम्) सूर्य की त्वचा अर्थात् किरणों के सदृश चमका दिया है, पवित्र कर दिया है। [रथस्य=**"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"** (कठ, उप० ३।३)। खे=आनन्दे, Happiness, pleasure (आप्टे)। अनस्=अन्न (उणा० ४।१९०, महर्षि दयानन्द); **"अनिति जीवति येनेति अनः, ओदनं पक्वान्नं वा"**। क्रतुः=**कर्म** (निघं० २।१); प्रज्ञा (३।९)। प्रज्ञा, यज्ञ (उणा० १।७६) महर्षि दयानन्द]

व्याख्या—पति का कर्त्तव्य है कि वह पत्नी को ऐसा उपदेश दिया करे ताकि पत्नी तीन प्रकार के आनन्दों में पवित्र हो जाए। वे तीन आनन्द हैं शारीरिक आनन्द, अन्न का आनन्द, तथा पति-पत्नी के जोड़े का आनन्द। पत्नी अपने शारीरिक आनन्द को अपवित्र न होने दे। दैनिक स्नान, उद्यम और निरालसता, तथा विषय वासना का नियन्त्रण शारीरिक पवित्रता है। अन्न को दोषरहित, स्वादु, तथा पुष्टिकारक बनाना, और राजस तथा तामस अन्नों का सेवन न करना अन्न सम्बन्धी पवित्रता है। पति और पत्नी के पृथक् पृथक् हो जाने से, परस्पर लड़ाई और मनमुटावों से, दोनों के सहवास जन्य आनन्द में तथा पवित्रता में अन्तर आ जाता है।

पत्नी की पवित्रता में सूर्यत्वचा अर्थात् सूर्य की किरणों का दृष्टान्त दिया है। सूर्य की किरणें स्वयं सदा पवित्र, तथा अन्य अपवित्र पदार्थों तथा स्थलों को भी पवित्र कर देती हैं। पत्नी भी पवित्रता में सूर्य की किरणों के सदृश स्वयं पवित्र होनी चाहिये। उस के स्वयं पवित्र होने पर, उस के संपर्क से अन्य अपवित्र भी पवित्र हो जाते हैं।

पत्नी में इन तीन पवित्रताओं का डालने वाला पति भी स्वयं पवित्र होना चाहिये। इस लिये पति को शतक्रतु और इन्द्र कहा है। जो उत्तम कर्मों वाला, यज्ञशील, उत्तम संकल्पों वाला, तथा आत्मशक्ति सम्पन्न है,—वह अपवित्र हो ही नहीं सकता।

पत्नी को मन्त्र में अपाला कहा है। विवाह के पश्चात् पत्नी और सन्तानों को पालना पति का कर्त्तव्य है। पत्नी का कर्त्तव्य है गृहव्यवस्था तथा सन्तानों की देखभाल तथा सुशिक्षा। पति और पत्नी दोनों ही नौकरी में लगे रहें तो न गृहव्यवस्था रह सकती है, और न सन्तानों की देखभाल और न सुशिक्षा ही हो सकती है।

पत्नी की विभूतियां तथा मोक्षकामना

४२. आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम् ॥४२॥

(सौमनसम्) मन की प्रसन्नता, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (सौभाग्यम्) उत्तम भगों की सत्ता (रयिम्) तथा धन को (आशासाना) चाहती हुई हे वधु! तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता) अनुकूल व्रतों तथा कर्मों को करने वाली (भूत्वा) हो कर (अमृताय) मोक्ष या अनश्वर परमेश्वर की प्राप्ति के लिए (सं नह्यस्व) संनद्ध हो जा, तय्यार हो जा।

[अनुव्रता; व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१), अथवा सत्याचरणादि व्रत। आशासाना=आङः शासु इच्छायाम् (अदादिः)]

व्याख्या—परस्पर की प्रसन्नता और खुशी का राज्य, गृह में पत्नी पर अधिक निर्भर करता है। यदि पत्नी कलह प्रिया और कटुभाषिणी होगी तो गृहजीवन में सदा दुःख और क्लेश का ही राज्य होगा। अतः पत्नी सदा सौमनस चाहा करे।

पत्नी सदा उत्तम सन्तानें चाहे। जाः अपत्यम् (निरु० ६।२।९); प्रजाः=प्रकृष्ट अपत्य। माता के विचारों, व्यवहारों तथा संस्कारों का प्रभाव बच्चों पर अधिक हुआ करता है। इसलिये माता अपने मन में बच्चों को प्रकृष्ट बनाने की भावना सदा जागरित रखे। बच्चा जब गर्भ में हो हो तब भी माता के मन में यह भावना सदा जागरित रहे। तथा बच्चा जब जन्म पा ले तब और भी माता के मन में यह भावना जागरित रहनी चाहिये।

पत्नी उत्तम भगों को सदा चाहे। उत्तमऐश्वर्य, उत्तमधर्म, उत्तमयश, उत्तमश्री, उत्तमज्ञान और उत्तमवैराग्य,—इन की प्राप्ति सौभाग्य है। ऐश्वर्य आदि उत्तम भी होते हैं और अनुत्तम भी। सुपथ द्वारा उपार्जित ऐश्वर्य आदि उत्तम है और कुपथ द्वारा उपार्जित अनुत्तम। श्रद्धापूर्वक किया गया धर्म उत्तम है और लोक प्रशंसा के लिए किया गया अनुत्तम। त्याग, तपस्या, परोपकार, दान आदि द्वारा प्राप्त यश उत्तम है, और पर-निन्दा, धोखेबाजी द्वारा प्राप्त अपयश अनुत्तम। ज्ञानवृद्धि के लिए प्राप्त ज्ञान उत्तम है, विवाद के लिए प्राप्त ज्ञान अनुत्तम। मोह-ममता विहीन वैराग्य उत्तम है छद्मवेषी वैराग्य अनुत्तम। भद्रवस्त्रों में श्री अर्थात् शोभा उत्तम है, और चित्ताकर्षक वेशभूषा में अनुत्तम।

पति और पत्नी के व्रतों और कर्मों में यदि परस्पर अनुकूलता हो तो गृहजीवन अधिक सुखी हो जाता है। इस लिये मन्त्र में "पत्युरनुव्रता भूत्वा" कहा है।

पत्नी गृहस्थजीवन में, गृहस्थ के ऐहलौकिक कृत्यों के साथ साथ मोक्षकृत्यों के लिए भी प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न करती रहे। गृहस्थधर्म में प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन यदि भक्ति, श्रद्धा और निःस्पृहता तथा फलत्याग की भावना से किया जाये तो इस से पत्नी मोक्ष की ओर अग्रसर हो जाती है।

पत्नी सम्राज्ञी है, गृह में

४३. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥४३॥

(यथा) जैसे (वृषा) वर्षा करने वाले (सिन्धुः) समुद्र ने (नदीनाम्)

नदियों का (साम्राज्यम्) सम्राट् होना (मुषुवे) प्राप्त किया है, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (त्वम्) हे वधु ! तू (पत्युः) पति के (अस्तम्) घर (परेत्य) जाकर, (सम्राज्ञी) राणी (एधि) बन।

व्याख्या—समुद्र का साम्राज्य नदियों पर है। नदियां अपनी जल सम्पत्ति समुद्र को भेंट करती हैं, चूंकि समुद्र नदियों का राजा है। इसी प्रकार गृहवासियों को चाहिये कि वे अपनी समग्र कमाई इस नववधू के प्रति भेंट कर दिया करें। क्योंकि नववधू पतिगृह की सम्राज्ञी है, राणी है।

परन्तु समुद्र नदियों द्वारा दी गई भेंट को निज स्वार्थ के लिए नहीं रख लेता। वह वृषा है, वर्षा का कारण है। नदियों द्वारा भेंट ले कर समुद्र, वर्षारूप में उस भेंट को पुनः नदियों तथा पृथिवी के अन्य पदार्थों के प्रति सौंप देता है। पत्नी को भी चाहिये प्राप्त कमाई को वह गृहवासियों की समुन्नति में व्यय करे। तथा समुद्र जल की वर्षा करता हुआ भी सदा भरा सा रहता है, इसी प्रकार पत्नी भी धन का व्यय इस विधि से करे कि वह व्यय करती हुई भी धन-सम्पत्ति से सदा परिपूर्ण रहे (देखो मन्त्र ७ की व्याख्या)। परन्तु पत्नी को यह ध्यान में रखना चाहिये कि गृह-साम्राज्य में पत्नी सम्राज्ञी है, तो गृह-साम्राज्य में पति सम्राट् है। शेष गृहवासी इन दोनों द्वारा पालनीय तथा रक्षणीय हैं। सम्राज्ञी सम्राट् के परामर्श द्वारा ही व्यय करे, अन्यथा नहीं।

मन्त्र में राजा-प्रजा के पारस्परिक लेन-देन पर भी प्रकाश डाला है। राजा समुद्र के सदृश, प्रजा से कर लेकर, उस का व्यय प्रजा की भलाई के लिए करे, केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं।

पत्नी का साम्राज्य

४४. सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥४४॥

हे वधु ! (श्वशुरेषु) अपने ससुरों में तू (सम्राज्ञी) राजेश्वरी (एधि) हो, (उत) और (देवृषु) देवरों में (सम्राज्ञी) राजेश्वरी हो। (ननान्दुः) ननान्द के सम्बन्ध में (सम्राज्ञी) राजेश्वरी (एधि) हो, (उत) और (श्वश्र्वाः) सास के सम्बन्ध में (सम्राज्ञी) राजेश्वरी हो।

व्याख्या—सम्राज्ञी का अर्थ है, सम्यक् राज्य करने वाली। ससुर, सास, देवर, ननान्द आदि पर तथा अन्य गृहवासियों पर सम्राज्ञी, सेवा-वृत्ति से राज्य करे। यह ही सम्यक्-राज्य है। श्वशुरेषु में बहुवचन पति के पिता, चचा, ताऊ आदि का सूचक है। वर्तमान में विवाह के अनन्तर प्रायः नववधू का अपने पति के सम्बन्धियों के साथ कलह रहता है। कारण यह है कि पति के सम्बन्धी, नववधू को वह अधिकार नहीं देना चाहते, जिस अधिकार की कि यह मन्त्र वकालत कर रहा है। सास और ननान्दें आदि नववधू को अपनी दृष्टि से चलाना चाहती हैं जिस से कि वधू उन के नियन्त्रण में रहे।

हाथ के कते-बुने वस्त्र

४५. या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥४५॥

(याः) जिन (देवीः) देवियों ने (अकृन्तन्) सूत काता है, (अवयन्) और उसे बुना है, (याः च) और जिन देवियों ने (अभितः) वस्त्र के चारों ओर (अन्तान्) किनारे (अददन्त) दिये हैं, (ताः) वे देवियां (त्वा) तुझे, हे वधु ! (जरसे) जरावस्था तक के लिये (संव्ययन्तु) हाथ से कते-बुने वस्त्रों द्वारा ढांपती रहें। (आयुष्मती) प्रशस्तायु वाली तू (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (परिधत्स्व) पहिना कर।

व्याख्या—मन्त्र में सूत कातना, वस्त्र बुनना, वस्त्रों के किनारे बनाना,—देवियों का गृह कौशल दर्शाया है। नववधू को यह उपदेश भी दिया है कि तू हाथ से कते बुने वस्त्रों को धारण किया कर, और आयु भर ऐसे वस्त्र ही धारण किया कर। गृह-उद्योग का यह एक दृष्टान्त है।

भोग जीवन का दुष्परिणाम

४६. जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६॥

(ये) जिन्होंने (इदम्) यह सिद्धान्त (समीरिरे) प्रेरित किया है कि (पतिभ्यः) पतियों के लिए तथा (जनये) जननी अर्थात् पत्नियों के लिए

(परिष्वजे) परस्पर आलिङ्गन में ही (मयः) आनन्द और सुख है, (ते) वे (नरः) नर-नारियां (जीवम्) यावज्जीवन (रुदन्ति) रोते हैं, (अध्वरम्) और हिंसारहित गृहस्थ यज्ञ को (वि नयन्ति) धर्मविरुद्ध मार्ग में ले जाते हैं, (दीर्घाम्) दीर्घ अर्थात् लम्बे (प्रसितिम्) प्रबन्धों का (अनु) निरन्तर (दीध्युः) ध्यान अर्थात् चिन्तन करते रहते हैं, तथा (पितृभ्यः) बुजुर्गों के प्रति (वामम्) वामाचार अर्थात् उल्टे आचार-व्यवहार (समीरिरे) प्रेरित करते हैं।

[समीरिरे=सम्=ईट् (गतौ)। प्रसितिम्=प्र+षिञ् बन्धने=प्रबन्ध]

व्याख्या—गृहस्थ जीवन को भोगस्थली समझना नितान्त भूल है। जो गृहस्थी यह समझते हैं कि गृहस्थ जीवन परस्परालिङ्गन जन्य आनन्द के लिए है उन की अवस्था निम्नलिखित हो जाती है:—

ऐसे व्यक्ति आरम्भ में क्षणिक आनन्द में मरताने तो हो जाते हैं, परन्तु परिणाम में जीवन भर रोते रहते हैं।

वे गृहस्थधर्म के यज्ञियांश को हटा कर गृहस्थ को धर्मविरुद्ध दिशा में ले जाते हैं, और उसे अयज्ञमय बना देते हैं।

वे दीर्घ दीर्घ प्रबन्धों की चिन्ता ही करते रहते हैं, परन्तु धैर्य और साहस के अभाव के कारण सफलता उन्हें प्राप्त नहीं होती।

वे माता-पिता और अन्य वृद्धों के प्रति ऐसे व्यवहार करते रहते हैं जो कि शिष्टाचार के विरुद्ध होते हैं।

आदर्श सन्तानें

४७. स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे। तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

हे वधु ! (ते) तेरी (प्रजायै) भावी सन्तान के लिए [आदर्शरूप में,], (पृथिव्याः) पृथिवी के (उपस्थे) इस समीप-स्थान में (ध्रुवम्) सुदृढ़ (अश्मानम्) पत्थर (धारयामि) मैं स्थापित करता हूं, जोकि (देव्याः) तुझ देवी की (उपस्थे) गोद में मानो (स्योनम्) सुखदायक और (ध्रुवम्) सुदृढ़ [पुत्र का रूप है]। (तत्) उस पत्थर पर (आ तिष्ठ) आ खड़ी हो, तथा उस पुत्र पर तू अपनी "आस्था", अर्थात् आशा तथा विश्वास रख।

(अनुमाद्या) तू धर्मानुसार मुझ द्वारा प्रसन्न रखने योग्य है, (सुवर्चाः) तू बड़ी तेजस्विनी है। (सविता) जगदुत्पादक परमेश्वर (ते) तेरी (आयुः) आयु (दीर्घम्) लम्बी (कृणोतु) करे।

[**स्योनम् सुखनाम** (निघं० ३।६)। अनुमाद्या=विवाहधर्मानुसार, विवाह हो जाने पर पत्नी को सदा प्रसन्न रखना,—यह विवाहधर्म है। अनुमाद्या=अनु (विवाह धर्मानुसार)+माद्या]

व्याख्या—विवाहपद्धति के अनुसार वधू को शिलारोहण कराया जाता है। शिलारोहण के लिए वर इस मन्त्र द्वारा वधू को प्रेरित करता है, ताकि वह परख सके कि शिला कितनी दृढ़ तथा मजबूत है। वर वधू को अनुभव कराता है कि जैसे पृथिवी-माता की गोद में यह शिला दृढ़ तथा मजबूत है इसी प्रकार तेरी गोद में भी दृढ़ तथा मजबूत सन्तान होनी चाहिये।

वर वधू को "देव्याः" द्वारा देवी कहता है। देवी का अर्थ है दिव्यगुणों वाली। माता के देवी होते सन्तानें भी देव और देवी बन सकती हैं।

वैदिक साहित्य में आदर्श शरीर को पत्थर द्वारा उपमित किया है। यथा "**अश्मानं तन्वं कृधि**" (अथर्व० १।२।२), तथा "**अश्मा भवतु ते तनूः**" (अथर्व० २।१३।४)। अर्थात् तू शरीर को पत्थर बना, तथा तेरा शरीर पत्थर हो। शरीर का मोटा होना स्वास्थ्य की निशानी नहीं। अपितु शरीर का मजबूत तथा कठोर होना स्वास्थ्य की निशानी है। ऐसी सन्तानें ही सुख पा सकतीं (स्योनम्) तथा माता-पिता को सुखी कर सकती हैं।

भाष्यकारों ने स्योनम् पद को अश्मानम् का विशेषण माना है। परन्तु यह समझ नहीं आ सकता कि पत्थर सुखकारी कैसे हो सकता है। यदि अश्मानम् पद को पुत्र का रूपक मान लिया जाए तो स्योनम् शब्द रुचिकर हो जाता है, अर्थात् अश्मा सदृश सुदृढ़ हो कर सुखदायक पुत्र।

मन्त्र में "आ तिष्ठ" द्वारा वधू को कहा है कि तू अश्मा सदृश सुदृढ़ सन्तान की प्राप्ति में आस्था तथा विश्वास रख। वधू की इस आशा और विश्वास के अनुकूल, जीवनचर्या हो जाने पर सन्तानें तदनुरूप हो सकती हैं।

"सुवर्चाः" द्वारा वधू को यह निर्देश दिया है कि गृहस्थधर्म का इस तरह तू पालन कर जिस से तेरा शारीरिक तेज कम न होने पाये, ताकि तू दीर्घायु हो सके ।

पाणिग्रहण तथा पत्नी-आश्वासन

४८. येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च॥

(येन) जिस उद्देश्य से (अग्निः) अग्रणी ने (भूम्याः) भूमिसदृश उत्पादक वधू के (दक्षिणम्) उत्साही दाहिने (हस्तम्, जग्राह) पाणि का ग्रहण किया है, (तेन) उस उद्देश्य से हे वधु ! (ते हस्तं गृह्णामि) तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूं। (मया सह:) मेरे साथ वर्तमान तू (प्रजया च, धनेन च) प्रजा से और धन से (मा व्यथिष्ठाः) व्यथा को प्राप्त न हो ।

[अग्निः **अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४) । तेन=उद्देश्य है प्रजा अर्थात् उत्तम सन्तानें, तथा उन के पालन पोषणार्थ धन । वर कहता है वधू को कि मेरे कुल के अग्रणी पुरुष जिस उद्देश्य से पाणिग्रहण करते रहे हैं उसी उद्देश्य से मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूं ताकि प्रजा और धन के अभाव द्वारा तू व्यथा को प्राप्त न हो ।

पाणिग्रहण तथा पति के गुण

४९. देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥४९॥

(देवः) दिव्य गुणों वाला (सविता) तेरा प्रेरक प्रेरणाएं देने वाला वर (ते) तेरा (हस्तं गृह्णातु) पाणिग्रहण करे, (सोमः) वीर्यवान् (राजा) तेरे भावी गृह का राजा यह वर (सु प्रजसम्) तुझे उत्तमप्रजा से सम्पन्न (कृणोतु) करे । (अग्निः) जगदग्रणी (जातवेदाः) तथा उत्पन्न जगत् में विद्यमान परमेश्वर (पत्नीम्) तुझ पत्नी को (पत्ये) पति के लिए (सुभगाम्) सौभाग्यवती तथा (जरदष्टिम्) जरावस्था तक पहुंचने वाली अर्थात् दीर्घायु (कृणोतु) करे ।

[सविता=षू (सू) प्रेरणे, तथा **"सविता प्रसविता"** (निरु० १०।३।३१) । सोमः=**वीर्यं** (अथर्व० १४।१।२-५) । मन्त्र में सोम=वीर्यवान् (अर्श आद्यच्) । अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४) । जातवेदाः= **जाते जाते विद्यत इति वा** (निरु० ७।५।१९) । मन्त्र, पुरोहित द्वारा उक्त है]

पाणिग्रहण के साक्षी

५०. गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥

हे वधु ! (सौभगत्वाय) अपने सौभाग्य के लिए (ते) तेरा (हस्तम्, गृह्णामि) पाणिग्रहण मैं करता हूं, (मया, पत्या) मुझ पति के साथ (यथा) ताकि (जरदष्टिः) जरावस्था तक पहुंचने वाली (असः) तू हो । (भगः) मैं ६ भगों से सम्पन्न हूं, (अर्यमा) जगत् के स्वामी का ज्ञाता, श्रेष्ठों का मान करने वाला, श्रेष्ठ मन वाला तथा न्यायकारी हूं, (सविता) तेरा प्रेरक हूं, (पुरंधिः) तथा बहुत बुद्धिमान् हूं । (देवाः) उपस्थित देवों और देवियों ने (गार्हपत्याय) गृहपति के कर्त्तव्यों के पालन के लिए, (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) तुझे (अदुः) दिया है ।

[भग ६ हैं (अथर्व० १४।१।४२) । पुरंधिः=**बहुधीः** (निरु० ६।३।१३) । मन्त्र ५१ में भग-और-सविता पाणिग्रहण करने वाला कहा है । तदनुसार भग, अर्यमा[1], सविता, और पुरंधि के अर्थ पतिपरक किये हैं । देवाः= देवाश्च देव्यश्च, एक शेष "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा० १।२।६७)]

व्याख्या—वर वधू को कहता है कि मैं अपने सौभाग्य के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूं । विना पत्नी के पुरुष का सौभाग्य नहीं बनता । वर्तमान रीतिरिवाज में पति के कारण पत्नी को सौभाग्यवती कहा जाता है । मन्त्र के अनुसार पत्नी के विना पति भी सौभाग्यवान् नहीं होता, पति उत्तम भगों का निवास नहीं बनता । "गार्हपत्याय" द्वारा सूचित किया है कि पत्नी के विना पति गृहस्थाश्रमसम्बन्धी धर्मकृत्यों के अनुष्ठान के योग्य नहीं होता। पञ्चमहायज्ञ, दर्शपौर्णमास आदि कर्म पतिपत्नी के

१. अर्यमा (अथर्व० १४।१।३९) ।

सहयोग द्वारा ही होते हैं। अन्त में पति कहता है कि इन देवों और देवियों ने जोकि हमारे विवाह के साक्षी हैं-- मेरे प्रति तुझे दिया है।

पाणिग्रहण में धार्मिक सम्बन्ध

५१. भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥५१॥

हे वधु ! (भगः) भगों से सम्पन्न मैं अर्थात् वर ने (ते) तेरा (हस्तम्, अग्रहीत्) पाणिग्रहण किया है, (सविता) उत्पादनशक्ति से सम्पन्न तथा तेरे प्रेरक ने (हस्तम्, अग्रहीत्) तेरा पाणिग्रहण किया है। (त्वम्) तू (धर्मणा) वैदिक धर्म के अनुसार (पत्नी, असि) मेरी पत्नी हुई है, और (अहम्) मैं (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहरक्षक पति हुआ हूं।

[सविता=सु, सू=प्रसवे, प्रेरणे च। वर अपने-आप को गृहपति कहता हुआ वधू को विश्वास दिलाता है कि मैं तेरे नवगृह में तेरा रक्षक हूंगा। तू और तेरी सन्तानें मेरे रहते अरक्षित अनुभव न करेंगी।

पत्नी का भरण-पोषण

५२. ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥५२॥

(इयम्) यह वधू (मम) मेरी (पोष्या) पोषणीया (अस्तु) हो, हे वधु ! (बृहस्पतिः) वेदों के विद्वान् पुरोहित ने या महाब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (मह्यम्) मेरे प्रति (त्वा) तुझे (अदात्) दिया है। (मया पत्या) मुझ पति द्वारा (प्रजावति) हे उत्कृष्ट सन्तानों से सम्पन्न होने वाली ! तू (सम्) मेरे साथ (शतम्, शरदः) सौ वर्षों की आयु पर्यन्त (जीव) जीवित रह।

[बृहस्पतिः=बृहस्पति वै देवानां पुरोहितः (ऐत० ब्रा० ८।२६)]

व्याख्या—मन्त्र के प्रथमार्ध द्वारा वर विवाहमण्डप में उपस्थित जनता के प्रति कहता है कि यह वधू मुझ द्वारा पोष्या होगी। मैं सदा इस का भरण-पोषण करता रहूंगा। तथा उत्तरार्ध द्वारा वधू को कहता है कि मुझ से भिन्न किसी परपुरुष द्वारा तूने प्रजावती नहीं होना।

पत्नी और सन्तानों के वस्त्र

५३. त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥५३॥

(बृहस्पतेः) वेदों के विद्वान् पुरोहित के तथा (कवीनाम्) विद्वानों के (प्रशिषा) प्रशासन अर्थात् आज्ञा या निर्देश द्वारा, (त्वष्टा) कारीगर ने (शुभे) शोभा के लिए (कम्) सुखदायक (वासः) वस्त्र (व्यदधात्) निर्मित किया है, (तेन) उस वस्त्र द्वारा (सविता) वधू का उत्पादक पिता, (च) और (भगः) भगों से सम्पन्न वर; अर्थात् ये दोनों, (सूर्याम्, इव) सूर्या को जैसे, वैसे (इमाम्, नारीम्) इस विवाहित नारी को (प्रजया) सन्तानों समेत (परि धत्ताम्) ढांपा करें।

व्याख्या—वधूपक्ष और वरपक्ष के पुरोहितों तथा विद्वानों के निर्देशानुसार वधू के वस्त्रों के निर्माण करने की आज्ञा कारीगरों को देनी चाहिये।

वधू का पिता, तथा वधू का वर, दोनों उन वस्त्रों को वधू और उस की भावी सन्तानों को पहनने के लिए दिया करें।

वस्त्र शोभाजनक होने चाहियें, तथा सुखदायक भी। केवल शोभाजनक नहीं। सूर्यामिव=मन्त्रों में आदित्य-ब्रह्मचारी तथा सूर्या-ब्रह्मचारिणी के विवाह का वर्णन मुख्यरूप में हुआ है। यह आदर्श विवाह है। "सूर्यामिव" द्वारा निचली कोटि की ब्रह्मचारिणियों तथा निचली कोटि के ब्रह्मचारियों के विवाह भी वेदाभिमत दर्शाए हैं। ये वर-वधू रुद्र तथा वसु कोटि हैं।

नारी स्वास्थ्य के साधन

५४. इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥५४॥

(इन्द्राग्नी) विद्युत् और अग्नि, (द्यावापृथिवी) चमकता सूर्य तथा विस्तृत भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षीय वायु, (मित्रावरुणा) दिन और रात, (भगः) ऐश्वर्य आदि छः, (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा, (बृहस्पतिः) वेदों का विद्वान् पुरोहित, (मरुतः) मानसून वायुएं,

(ब्रह्म) वेदस्वाध्याय, (सोमः) वीर्यरक्षा तथा सोम आदि ओषधियों का सेवन,—(इमाम्, नारीम्) इस नारी को (प्रजया) प्रजासमेत (वर्धयन्तु) बढ़ाएं।

[इन्द्रः=**इन्द्रः अन्तरिक्षस्थानः** (निरु० ७।२।५), अर्थात् इन्द्र का स्थान है अन्तरिक्ष। अतः इन्द्र=विद्युत्। मातरिश्वा=**वायुः; "मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्याश्वनितीति वा"** (निरु० ७।७।२६)। मित्रावरुणा=**अहोरात्रौ** (तां० २५।१०।१०)। भगः—ऐश्वर्य, धर्म, ज्ञान, वैराग्य। अश्विना=**सूर्याचन्द्रमसावित्येके** (निरु० १२।१।१)। मरुतः=मानसून वायु। यथा **"अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिव्यामभि ये सृजन्ति। अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति..."** (अथर्व० ४।२७।४) ब्रह्म=**वेदस्वाध्याय** (अथर्व० १४।१।१।६४)। सोमः=**उत्पादक वीर्य, रजस्** (अथर्व० १४।१।१।२-५), तथा सोम ओषधि]

व्याख्या—स्वास्थ्य-वर्धन के लिए पहला साधन दर्शाया है इन्द्र अर्थात् विद्युत्। विद्युत् द्वारा चिकित्सा तथा गृह्यप्रयोगों में इस का उपयोग।

दूसरा साधन है अग्नि। अग्निहोत्र और ऋतुयज्ञों द्वारा, तथा गार्हपत्याग्नि द्वारा घर तथा बाहर के वायुमण्डल की शुद्धि।

तीसरा साधन है द्यौः, अर्थात् कमरों में प्रकाश का होना अर्थात् सूर्य की किरणों का प्रवेश।

चौथा साधन है पृथिवी। स्वास्थ्यवर्धन के लिए मकान की भूमि विस्तृत होनी चाहिये, तथा घर स्वास्थ्यकारी पृथिवी पर बनाना चाहिये। पृथिवी=प्रथ विस्तारे।

पांचवा साधन है मातरिश्वा अर्थात् वायु। मकानों का इस विधि से निर्माण करना जिस से कमरों में वायु का संचार हो सके।

छटा साधन है दिन और रात का नियमपूर्वक होना। लम्बे दिनों तथा लम्बी रातों वाले प्रदेशों में स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। जैसे कि उत्तरध्रुव, दक्षिणध्रुव तथा इन के समीप के प्रदेश।

सातवां साधन है भग अर्थात् ऐश्वर्य का होना, धर्मानुसार जीवन, स्वास्थ्य की विधियों का परिज्ञान, और गृहजीवन में भी वैराग्य अर्थात् अतिभोग से विराम।

सूर्य और चन्द्र के प्रकाशों का सेवन भी स्वास्थ्यवर्धक है। इसी प्रकार पुरोहित-प्रथा का जारी रखना, अर्थात् पुरोहितों द्वारा घरों में धार्मिक कृत्यों, यज्ञों तथा संस्कारों को कराते रहना।

मानसून वायु चित्त को प्रसन्न करती, ग्रीष्म ऋतु की गरमी को कम करती, कृषिकर्म को बढ़ाकर, अन्न और ओषधियों को पैदा करती, जिन के सेवन से स्वास्थ्य बढ़ता है।

इसी प्रकार ब्रह्मोपासना, तथा वैदिक स्वाध्याय द्वारा स्वास्थ्यवर्धक साधनों के परिज्ञान से स्वास्थ्यवृद्धि होती है। सोमशक्ति का संयमपूर्वक प्रयोग तथा सोम आदि ओषधियों के सेवन से भी स्वास्थ्यवृद्धि होती है।

वधू के केशों को सजाना

५५. बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत्।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥५५॥

(प्रथमः) अनादिकाल से विद्यमान (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड तथा महती वेदवाणी के पति परमेश्वर ने, (सूर्यायाः) इस सूर्या ब्रह्मचारिणी के (शीर्षे) सिर पर (केशान्) केशों का (अकल्पयत्) निर्माण किया था। (अश्विना) हे वर के या वधू के माता-पिता! (तेन) उस केशकलाप द्वारा (इमाम्, नारीम्) इस नारी को, (पत्ये) पति के लिये, (सम्, शोभयामसि) हम सम्यक् प्रकार से शोभायमान करते हैं।

[बृहस्पतिः=परमेश्वर बृहती वेदवाणी का पति है यथा **"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः"** (ऋ० १०।७१।१) में वाणियों में अग्रवाणी अर्थात् वेदवाणी का सम्बन्ध बृहस्पति के साथ दर्शाया है] विवाह के समय बृहस्पति अर्थात् पुरोहित के निर्देशानुसार कन्या के सम्बन्धी कन्या के केशों को संवार कर कन्या की शोभा को बढ़ाए ताकि पति का अनुराग उस पर हो सके।

वधू की रूपसम्पत् तथा मननशक्ति

५६. इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥

(इदम्) यह (तद्, रूपम्) वह रूप-सौन्दर्य है (यद्) जिसे कि (योषा) स्त्री जाति (अवस्त) वस्त्र आदि द्वारा धारण करती है। (मनसा) मनन-शक्ति से विचरने वाली, विचार-शीला (जायाम्) जाया अर्थात् पत्नी का (जिज्ञासे) मैं जिज्ञासु हूं। (नवग्वैः) प्रशंसनीय चाल-चलन वाले (सखिभिः) अपने मित्रों के साथ (ताम्) उस जाया के (अनु) अनुकूल (अर्तिष्ये) मैं चलूंगा, या उस का अनुवर्ती हूंगा। विद्वान्) ज्ञानी (कः) प्रजापति ने (इमान्) इन (पाशान्) प्रेमपाशों को (वि चचर्त) विशेषतया ग्रथित किया है, दृढ़बद्ध किया है।

[अन्वर्तिष्ये=अनु+ऋत्[1] (वृत्) अनुवर्तिष्ये। नवग्वैः=नव (नु स्तुतौ)+गु (गति)। कः=को वै नाम प्रजापतिः (ऐ० ब्रा० ३।२१)। वि चचर्त=चृती ग्रन्थने (तुदादि)]

व्याख्या - केशसंवारण तथा शोभाजनक वस्त्रों द्वारा उत्पन्न हुए नारी के रूपसौन्दर्य का ख्याल कर वर कहता है कि यह सम्पत् भी एक वास्तविक सम्पद् है जिस का कि नारी में होना आवश्यक है।

परन्तु केवल इसी एक शारीरिक सम्पत् द्वारा गृहस्थ जीवन सुखमय नहीं बन सकता। इस के लिए यह आवश्यक है कि पत्नी में मानसिक विचार शक्ति भी हो, वह मननशीला और विचारशीला भी हो, ताकि गृह्य तथा सामाजिक कर्त्तव्यों को वह विचारपूर्वक निभा सके। वेद के अनुसार वर ऐसी ही वधू का जिज्ञासु है। वर कहता है कि ऐसी वधू का तो मैं अनुवर्ती हो जाऊंगा। क्यों कि विचारशीला वधू अपने हार्दिक प्रेम तथा उत्तम विचारों के कारण पति को अपने अनुकूल बना लेती है।

पत्नी को सामाजिक जीवन से वञ्चित नहीं करना चाहिये। पति के मित्रों के साथ भी पत्नी का परिचय करा देना चाहिये।

पति के मित्र ऐसे होने चाहियें जोकि स्तुत्य आचार-विचार वाले अर्थात् सदाचारी हों। दुराचारी मित्रों के सङ्ग से दुराचार के पंक में फंसने का भय होता है। और न दुराचारी परिचितों के साथ परिचय ही पत्नी का कराना चाहिये।

---

१. सम्भवतः गत्यर्थक "ऋत्" वैदिक धातु हो।

अन्त में वर प्रेमबन्धनों की स्वाभाविकता की ओर दृष्टिपात करता है, और इन प्रेमबन्धनों की गरिमा को अनुभव कर कहता है कि वास्तव में इन प्रेमबन्धनों में बान्धने वाला स्वयं प्रजापति परमेश्वर है जोकि विद्वान् अर्थात् इन रहस्यों का तत्त्ववेत्ता है।

वर अनुभव करता है कि प्रजापति ने इन प्रेमबन्धनों को निष्प्रयोजन नहीं बांधा। इन प्रेमबन्धनों के विना गृहस्थ जीवन तथा सामाजिक जीवन निःसार हो जाते हैं, रूखे-सूखे हो जाते हैं।

पति-पत्नी का प्रेमबन्धन

५७. अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्।५७।

(अहम्) मैं पति (अस्याः) इस पत्नी के (रूपम्) स्वरूप को (मयि) अपने में (विष्यामि) बान्ध लेता हूं, (मनसः) अपने मनरूपी पक्षी का (कुलायम्) घोंसला (वेदत्) इस पत्नी को जानता हुआ, (पश्यन्) और देखता हुआ। (स्तेयम्) पत्नी से चुराकर (न अद्मि) मैं नहीं खाता। (मनसा) मन से अर्थात् स्वेच्छापूर्वक (उद् अमुच्ये) चोरी से खाना मैं छोड़ देता हूं, इस प्रकार (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर के (पाशान्) प्रेम-बन्धनों को (स्वयम्) अपने-आप अर्थात् स्वेच्छापूर्वक (श्रथ्नानः)[1] मैं दृढ़बद्ध करता हूं।

[विष्यामि=वि (विशेषतया)+षिञ् (बन्धने)। (श्रथ्नानः=श्रथन=Tying, Binding (आप्टे)]

व्याख्या—पति कहता है कि मैं पत्नी के दोनों स्वरूपों को,—शारीरिक तथा मानसिक स्वरूपों को, निज हृदय में बांध लेता हूं। अभिप्राय यह कि मैं इन स्वरूपों का सदा ध्यान करता हुआ पत्नीव्रत के मार्ग से विचलित न हूंगा। पति यह भी कहता है कि मैं अपने मनरूपी पक्षी का घोंसला इस पत्नी को जान रहा हूं, और साक्षात् देख रहा हूं। घोंसले में

---

१. भाष्यकारों ने श्रथ्नानः का अर्थ किया है, शिथिल करता हुआ, ढीला करता हुआ। यह अर्थ मन्त्रोक्त भावनाओं के विपरीत है। पत्नी के स्वरूपों को चित्त में बांधना उसे अपने मन का घोंसला जानना, तथा पृथक् अन्नग्रहण का विचार भी न करना,—इस से प्रेमपाश दृढ़ होते हैं, न कि शिथिल।

पक्षी अपने आप को सुरक्षित तथा निश्चिन्त पाता है, इसी प्रकार पति कहता है कि विचारशीला और सौन्दर्य की प्रतिमारूप पत्नी को पा कर मेरा मन भटकेगा नहीं ।

पति यह भी प्रण करता है कि वह पत्नी से छिप कर कोई अन्नभोग न करेगा, अपितु हम दोनों का खान-पान इकट्ठा हुआ करेगा । छिप कर खान-पान के मानसिक विचार को भी त्याग देने का प्रण पति करता है । "मनसोदमुच्ये"—का यह अभिप्राय है ।

अन्त में पति कहता है कि इस प्रकार स्वयं मैं गृहस्थ जीवन में परमेश्वरीय प्रेमपाशों को दृढ़ बद्ध करता रहूंगा, ताकि हम में पारस्परिक अनुराग बढ़ता जाए, और हमारे गृहस्थजीवन में विराग, द्वेष तथा परस्परोपेक्षा का लेशमात्र भी न रहे ।

पत्नीप्रेम तथा गृहाधिकार

५८. प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥५८॥

(वधु) हे वधु ! (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर के (पाशात्) उस प्रेम-पाश से (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चामि) मैं वर प्रमुक्त करता हूं, छुड़ाता हूं, (येन) जिस-पाश द्वारा (सुशेवाः) उत्तम-सुखदायक (सविता) जन्मदाता तेरे पिता ने (त्वा) तुझे (अबध्नात्) अपने साथ बांधा था । हे वधु ! (सहपत्न्यै) पति के साथ रहने वाली (तुभ्यम्) तेरे लिए (उरुम्) विस्तृत (लोकम्) तथा दर्शनीय अपने घर को और (अत्र) इस घर में (पन्थाम्) आने-जाने के मार्ग को (सुगम्, कृणोमि) मैं पति सुगम अर्थात् बाधारहित करता हूं ।

[सुशेवाः=सु (उत्तम)+शेवम् सुखनाम (निघं० ३।६) । लोकम्=लोकृ दर्शने (भ्वादि)]

व्याख्या—सन्तान के साथ माता-पिता का प्रेम स्वाभाविक होता है । यह प्रेम परमेश्वर द्वारा स्वाभाविक बनाया गया है । यह प्रेम परमेश्वरीय पाश है, बन्धन है, जिस के द्वारा गृहस्थ व्यक्ति परस्पर बंधे रहते हैं । सभी माता-पिता स्वभावतः अपनी सन्तानों के साथ प्रेम करते हैं । यही कारण

है कि सन्तानें भी माता-पिता के प्रेमपाश में बंधी रहती हैं । विवाह के बाद कन्या जब पतिगृह में जाती है तब उसे अपने माता-पिता का स्वाभाविक प्रेमबन्धन ढीला करना पड़ता है । इस क्षति की पूर्ति, पति द्वारा डाले नए प्रेमपाश से ही हो सकती है । पति इसलिये अपनी पत्नी से कहता है कि जिस तेरे पिता ने तुझे अपने स्वाभाविक प्रेमपाश द्वारा अपने साथ बांधा हुआ था उस से मैं तुझे छुड़ाता हूं, और अपने प्रेमपाश में तुझे बांधता हूं ।

बुजुर्गों तथा पति के कर्त्तव्य

५९. उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात ।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥

(उद् यच्छध्वम्) उद्यम करो, (रक्षः) राक्षस को (अप हनाथ) अपगत करो, दूर करो, या उस का हनन करो, (इमाम्) इस (नारीम्) नारी को (सुकृते) सुकर्मों में (दधात) लगाओ । (विपश्चित्) मेधावी (धाता) विधाता ने (अस्यै) इस नारी के लिए (पतिम्) पति (विवेद) प्राप्त कराया है, (भगः) ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न (राजा) इस सम्राज्ञी का सम्राट् अर्थात् पति (प्र जानन्) गृहस्थधर्म के कर्त्तव्यों को जानता हुआ (पुरः) कर्त्तव्यपथ पर आगे-आगे (एतु) आए, चले ।

[रक्षः=कामग्राभ (ग्राह) रूपी राक्षस [अथर्व० १४।१।३८] । हनाथ=हन् गतौ । निघण्टु में हन् धातु का प्रयोग "गति" के लिए हुआ है । यथा हनति, हन्तात्, हन्ति,=गति कर्माणः (२।१४) । परन्तु हन् का अर्थ हिंसा भी होता है । विपश्चित् मेधाविनाम (निघं० ३।१५)]

व्याख्या—गृहस्थजीवन में माता-पिता आदि बुजुर्गों को उद्यमी होना चाहिये, तभी उन की सन्तानें भी उद्यमी होंगी ।

गृहस्थधर्म पालन करते हुए भी कामग्राह को नियन्त्रण में रखना चाहिये । अनियन्त्रित कामग्राह राक्षस है ।

गृहस्थ के बुजुर्गों का कर्त्तव्य है कि वे अपने आप को सुकर्मों में लगावें, तभी वे नवागत नारी को भी सुकर्मों में लगा सकेंगे । अर्थात् अपने जीवनों के दृष्टान्त द्वारा वे नववधू को भी उद्यमी तथा अपने राक्षसी भावों और राक्षसी कर्मों का नाश करने वाली बनाएं ।

पति गृहस्थ के कर्त्तव्यपथ को जाने । उस पर पति स्वयं पहिले चले । इस से पत्नी भी कर्त्तव्यपथ पर अग्रसर होगी । गृहस्थ में पति के जीवन का प्रभाव पत्नी के जीवन पर पड़ता है ।

मन्त्र में पति को राजा कहा है । अतः पत्नी राज्ञी है । मन्त्र ४३,४४ में पत्नी को सम्राज्ञी कहा है, इस लिये पति सम्राट् है । गृहस्थ के राज्य में ये दोनों सम्राट् तथा सम्राज्ञी हैं ।

मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि ईश्वर ने पत्नी को पति प्रदान किया है । वैदिक विवाहपद्धति में पति और पत्नी के हृदयों में यह भावना सदा जागरूक रहनी चाहिये कि पति का पत्नी को मिलना, तथा पत्नी का पति को मिलना,—इस में परमेश्वरीय इच्छा काम करती है ; अतः पति-पत्नी परस्पर प्रेम को बढ़ाते हुए गृहस्थधर्म का पालन करते रहें, एक दूसरे से पृथक् होने तथा परस्पर सम्बन्ध विच्छेद का ख्याल भी न करें ।

चार पुरुषार्थ, चार आश्रम

६०. भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥

(भगः) समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य से सम्पन्न परमेश्वर ने (चतुरः) पुरुषार्थ के चार (पादान्) पादों को (ततक्ष) निर्मित किया है, (भगः) उसी परमेश्वर ने (चत्वारि, उष्पलानि) जीवन के चार पलों को (ततक्ष) निर्मित किया है । (त्वष्टा) रूप भरने वाले कारीगर परमेश्वर ने (मध्यतः) बीच बीच में (अनु) लगातार (वर्ध्रान्) दृढ़ बन्धनों को (पिपेश) रूप दिया है, अर्थात् जीवन में सुन्दर सुन्दर बन्धन लगा दिये हैं । (सा) वह पत्नी (नः) हमारे लिये (सु मङ्गली) उत्तम मङ्गलमयी (अस्तु) हो ।

[ततक्ष=त्वक्ष् तनुकरणे । त्वक्षा का अर्थ है बढ़ई । बढ़ई लकड़ी को काट कर, उसे तनूकृत कर के कुर्सी आदि का निर्माण करता है । मन्त्र में ततक्ष शब्द द्वारा केवल निर्माण अर्थ अभिप्रेत है । उष्पलानि=वस्+क्विप्+पलानि=उस्+पलानि (**वचिस्वपियजादीनां किति**, अष्टा० ६।१।१५) द्वारा वस् (निवासे) के "व" को "उ" सम्प्रसारण हुआ । तदनन्तर (**शासिवसिघसीनां च**, अष्टा० ८।३।६० द्वारा "उस्" के "स्"

को "ष्" हुआ । अतः उष् (निवास) । उष्पलानि=निवास के पल । त्वष्टा=रूपकृत । यथा "**य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा । तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्**" (ऋ० १०।११०।९) । वर्ध्रान्=वर्ध्र A leather, strap (आप्टे) । पिपेश=पिश् अवयवे । पेशः रूपनाम (निघं० ३।७)]

व्याख्या—पूर्व के मन्त्रों में भग द्वारा, छः ऐश्वर्य आदि गुणों से सम्पन्न वर या पति का ग्रहण हुआ है [मन्त्र २०, ५१,५९], परन्तु इस मन्त्र में भग द्वारा भगवान परमेश्वर का वर्णन है । परमेश्वर ने पुरुषार्थ के चार पाद निश्चित किये हैं,—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । परमेश्वर ने जीवन के भी चार भाग निश्चित किये हैं,—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । ये चार आश्रम हैं । इसी रचयिता कारीगर ने जीवनयात्रा में सुन्दर सुन्दर बन्धनों की भी रचना कर रखी हैं । जो इन बन्धनों में फंस गया वह जीवनयात्रा के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है । पत्नी यदि इस यात्रा के लिए सुमङ्गली हो, गृह्य मंगलकार्यों का सम्पादन करनेवाली हो तो पति-पत्नी दोनों अपनी जीवनयात्रा में सफल हो सकते हैं । मन्त्र में जीवनसम्बन्धी प्रत्येक आश्रम को पल कहा है । चार आश्रम जीवन के चार पल हैं । जो व्यक्ति किसी आश्रम में भी रहते हुए यह समझ लेते हैं कि "समय पर्याप्त" है, और अपने कर्त्तव्यों में प्रमादी हो जाते हैं वे अपने आश्रमजीवन में सफलता से वञ्चित हो जाते हैं । मृत्यु न जाने कब आ घेरे । तभी कहा है कि '**गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्**" । वस्तुतः जीवन को पल सदृश क्षणिक जानकर निज कर्त्तव्यों को नियतकाल के अनुसार करते रहना चाहिये ।

वधू का रथारोहण, तथा पिता का उपदेश

६१. सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥

(सुकिंशुकम्) पलाश=अर्थात् ढाक के सुन्दर फूलों से सुसज्जित, या सुन्दर सुसज्जित, प्रकाशमान, (विश्वरूपम्) नानाविधरूपों वाले, (हिरण्यवर्णम्) सुवर्ण की नक्काशी वाले, (सुवृतम्) सुघड़ या उत्तम रीति से चलने वाले (सुचक्रम्) उत्तम पहियों वाले (वहतुम्) रथ के सदृश वर्तमान (वहतुम्) गृहस्थ-रथ पर (सूर्ये) हे सूर्या-ब्रह्मचारिणी ! तू (आ रोह) आरूढ़ हो, यह

गृहस्थ-रथ (अमृतस्य लोकम्) अमृत का स्थान है, इस गृहस्थ-रथ को (त्वम्) तू (पतिभ्यः) पति और अन्य अपने रक्षकों के लिए (स्योनम्) सुखकारी (कृणु) कर।

[सुकिंशुकम्=सुन्दर किंशुक अर्थात् ढाक, टेसु, पलाश के फूलों द्वारा सुसज्जित। ढाक के फूलों को किंशुक कहते हैं। आकृति में ये फूल "शुक" अर्थात् तोतों जैसे होते हैं, इन्हें देखते ऐसा प्रतीत होता है कि मानो छोटे-छोटे तोते डालियों पर बैठे हैं। ये फूल वसन्त काल में खिलते हैं। ऋ० १०।८५।२० में सुकिंशुकम् के साथ शल्मलिम् पाठ भी है। शल्मलि का अर्थ है सिम्बल। सिम्बल के फूल भी लालवर्ण और सुन्दर होते हैं, और वसन्त में खिलते हैं। अथर्व० १४।१।१३ में "फल्गुनीषु व्यूह्यते" द्वारा विवाह के लिए आदर्श काल फाल्गुन-मास माना है, जो कि वसन्तकाल है। इसी वसन्तकाल की परिपुष्टि सुकिंशुकम्, तथा शल्मलिम् शब्द कर रहे हैं। (निरु० १२।१।८) में सुकिंशुक और शल्मलि के अर्थ निम्नलिखित दिये हैं सुकाशनम् अर्थात् सुन्दर-प्रकाश वाला, तथा शल्मलिम् अर्थात् शल्नमलम्, नष्टमल, निर्मल। निरुक्त में "अपि वोपमार्थे स्यात्" द्वारा "सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति" को उपमार्थक कहते हुए "किंशुक" का वृक्षरूप तथा पुष्परूप होना भी स्वीकृत किया है। इसी प्रकार "शल्मलिः सुशरो भवति, शरवान् वा" द्वारा शल्मलि का वृक्षरूप तथा पुष्परूप होना भी स्वीकृत किया है। स्योनम् सुखनाम (निघं० ३।६)]

व्याख्या—पत्नी जब पितृगृह से पतिगृह की ओर जाने लगे तब पत्नी जिस रथ पर आरूढ़ हो वह पुष्पमालाओं द्वारा सुसज्जित होना चाहिए, तथा विविध रूपों से रूपित, सुघड़, तथा सुन्दर और साफ पहियों वाला होना चाहिये।

सूर्या ब्रह्मचारिणी विवाह के अनन्तर पतिगृह को जाने के लिए जब रथ पर आरोहण करे तब उसे कहना चाहिये कि अब तू इस रथ पर आरूढ़ होती हुई मानो गृहस्थ रथ पर आरूढ़ हुई है। यह गृहस्थरथ अमृत का स्थान है (अथर्व० १४।१।४२), इसे नरक धाम न बनाना। तथा गृहस्थ में ऐसा व्यवहार करना जिस से कि तेरा पति इस गृहस्थ को सुखधाम अनुभव कर सके। तथा पतिगृह में रहने वाले जो तेरे अन्य रक्षक हैं,—यथा सास, श्वशुर, देवर आदि उन के साथ भी सद्व्यवहार द्वारा उन्हें भी सुखी रखना। वेदों के अनुसार यतः पत्नी गृह की सम्राज्ञी है, और गृह

का प्रबन्ध इसी के हाथ में है, इस लिये सम्भावित हो सकता है कि बुजुर्गों आदि के साथ व्यवहार में कहीं यह उच्छृङ्खल न हो जाए, इस लिये पिता का सदुपदेश समयोचित प्रतीत होता है।

पति और पत्नी के चार चार गुण

६२. अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते।
इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥६२॥

(वरुण) हे श्रेष्ठ तथा पत्नी का वरण करने वाले! (बृहस्पते) तथा बृहती वेदवाणी के विद्वन्! (इन्द्र) हे आत्मिक शक्तिसम्पन्न! (सवितः) और उत्पादनशक्ति से सम्पन्न पुत्र! तू (अभ्रातृघ्नीम्) भाईयों का हनन न करने वाली, (अपशुघ्नीम्) पशुओं का हनन न करने वाली, (अपतिघ्नीम्) पति का हनन न करने वाली, (पुत्रिणीम्) पुत्र-पुत्रियों के उत्पादन में समर्थ वधू को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ वह) ला।

[वरुणः=वृणोतीति (उणा० ३।५३) उत्तमः; महर्षि दयानन्द)]

व्याख्या—वरण करने वाले वर को उस के सम्बन्धी कहते हैं कि तू ऐसी वधू हमारे लिए ला जोकि

(१) घर में आकर भाई बहिन आदि को कष्ट न पहुंचाए (अभ्रातृघ्नीम्)।

(२) जो पशुहत्या कर के मांस भक्षिका न हो, तथा गौ आदि की पालना करे (अपशुघ्नीम्)।

(३) जो पतिघातिनी न हो, पति को कष्ट न पहुँचाए (अपतिघ्नीम्)।

(४) जो वन्ध्या न हो, सन्तानोत्पादन में सक्षम हो (पुत्रिणीम्)। ये चार गुण पत्नी के हैं।

पति के चार गुण निम्नलिखित हैं:—

(१) पति वरुण हो, आचार-विचार में श्रेष्ठ हो (वरुण), निर्गुणी, दुर्गुणी न हो।

(२) पति बृहस्पति हो, वेदों का विद्वान् हो (बृहस्पते)। यथा—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्" (मनु० ३।२)।

(३) पति इन्द्र हो, अर्थात् आत्मिकशक्ति से सम्पन्न हो (इन्द्रः आत्मा, इन्द्रियाणां स्वामी), ताकि वह गृहस्थ को भोगस्थल न बना दे।

(४) वह सन्तानोत्पादनशक्ति से सम्पन्न हो, निर्वीर्य, नपुंसक न हो (सवितः), ताकि वंश परम्परा चल सके।

देवपथगामिनी पत्नी का अधिकार

६३. या हिंसिष्टं कुमार्य१ं स्थूणे देवकृते पथि ।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥६३॥

(स्थूणे) हे घर के दो स्तम्भो ! अर्थात् वृद्ध माता-पिता ! (देवकृते) देवों द्वारा निश्चित किये हुए (पथि) गृहस्थमार्ग पर या सुपथ पर वर्तमान (कुमार्यम्) कुमारी नववधू को (मा हिंसिष्टम्) तुम दोनों कष्ट न पहुंचाओ। (देव्याः शालायाः) दिव्य शाला के (स्योनम्) सुखदायक (द्वारम्) दरवाजे को, (वधूपथम्) वधू के आने-जाने का मार्ग (कृण्मः) हम अबाधित करते हैं।

[शालायाः—शाला का अभिप्राय है विशाल कोठी। देखो वैदिक शाला (अथर्व० ९।३।१-३१)। इसमें एक कमरा चाहिये हविः रखने के लिये (हविर्धानम्); एक (अग्निशाला) अर्थात् यज्ञशाला; घर में जितनी पत्नियां अर्थात् पुत्रों की पत्नियां हों प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् कमरा (पत्नीनाम् सदनम्); तथा बैठक (सदः) अतिथि देवों के लिए पृथक् कमरा (देवानां सदः) (अथर्व० ९।३।७); गौओं तथा अश्वों के लिए गोशाला तथा अश्वशाला (९।३।१३); यज्ञशाला (९।३।१४); शाला के मध्यभाग में शेवधि अर्थात् Savings की निधिरूप, दृढ़निर्मित कमरा विमानम् **उदरं शेवधिभ्यः** (९।३।१५); रसद रखने का कमरा (विश्वान्नं बिभ्रती ९।३।१६)। रसोई तथा जल के कमरे(९।३।२२)। इस सूक्त में शाला के अन्य भेद भी दर्शाए हैं। यथा द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टापक्षा, दशपक्षा आदि शाला (९।३।२०, २१)। पक्ष=Side Room]

व्याख्या—वर अपने माता-पिता से प्रार्थना करता है कि आप दोनों इस घर के स्तम्भ हो, आधार हो। माता-पिता के आशीर्वाद तथा उन की देखभाल में नवयुवक पति-पत्नी गृहस्थजीवन को आनन्दमय तथा समुन्नत कर सकते हैं। इस लिये पति-पत्नी को चाहिये कि वे माता-पिता को अपने गृहजीवन के आधार-स्तम्भ समझा करें।

वर माता-पिता से यह भी प्रार्थना करता है कि दिव्यगुणी लोगों द्वारा निश्चित किये गए कर्त्तव्यपथ पर चलती हुई इस कुमारी को आप किसी प्रकार भी कोई कष्ट न पहुंचाइये। कुमारी देवनिश्चित कर्त्तव्यपथ से भ्रष्ट हो कर यदि आसुरपथ या राक्षसपथ पर चलने लगे तो इसे समझाने और सुपथ पर लाने का अधिकार बुजुर्गों को अवश्य प्राप्त है। वे समझा कर, सान्त्वना दे कर, सामविधि तथा दण्ड विधि द्वारा इसे देव-मार्ग पर लाने का सदा यत्न करते रहें।

पति अपने गृह को देवी-शाला अर्थात् देवगृह कहता है। पति इस देवगृह के सुखदायक द्वार में प्रवेश का अबाधित अधिकार; देवपथ पर चलने वाली इस पत्नी को स्वयं भी देता है, और अपने माता-पिता से भी इस अधिकार को देने की प्रार्थना करता है।

देवपुरी में वेदध्वनियां

६४. ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥६४॥

(ब्रह्म) वेद (अपरम्) शाला के पश्चिम के पक्ष में (युज्यताम्) प्रयुक्त हो, (ब्रह्म) वेद (पूर्वम्) शाला के पूर्व के पक्ष में, (ब्रह्म) वेद (अन्ततः) शाला के अन्त के पक्ष में, (ब्रह्म) वेद (मध्यतः) शाला के मध्यवर्ती पक्ष में, (ब्रह्म) वेद (सर्वतः) शाला के सब पक्षों में प्रयुक्त हो। (अनाव्याधाम्) सब प्रकार की व्याधियों या रोग क्रिमियों की सब प्रकार की चोटों से रहित (देवपुराम्) इस देवपुरी अर्थात् दिव्यशाला को (प्र पद्य) प्राप्त होकर, (शिवा) हे वधु ! कल्याण रूपा तथा (स्योना) सुख दायिनी, तू (पतिलोके) पति के गृह में (विराज) विराजमान हो, या राज्यकर।

[मन्त्र ६३ में दिव्यशाला का वर्णन, और अथर्व० ९।३।२३ में शाला के पक्षों अर्थात् कमरों का वर्णन हुआ है। देवपुराम्=अथवा देवों की नगरी में प्रवेश कर के पतिगृह में विराजमान हो

व्याख्या—घर के बुजुर्ग नववधू के प्रति कहते हैं कि—हे देवी ! तेरी सत्ता से इस देवपुरी या देवगृह के पूर्व के, पश्चिम के, अन्त के, मध्य के कमरों में तथा सर्वत्र वेदमन्त्रों की ध्वनियां गूंजती रहें, तथा उन द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा ब्रह्म के साथ योगज सम्बन्ध बना रहे । गृह-जीवन का यह सर्वोत्तम आदर्श है । वैदिक ध्वनियां तथा वैदिक सामगान गृहवासियों के श्रोत्रों को पवित्र करते, और उन के मनों में पवित्र भावनाओं का संचार कर, उन के जीवनों को वैदिक मर्यादाओं में ढालते रहते हैं । वर्तमान के रेडियो तथा T. V. के भद्दे, अश्लील तथा गंवारु गीत गृह के वातावरण को दूषित कर रहे हैं ।

बुजुर्ग वधू को यह आश्वासन भी देते हैं कि यह शाला आधि-व्याधि से शून्य है । तथा यह शाला देवपुरी है । इस के वासी देवकोटि के हैं । तूने भी इस देवपुरी में आ कर सच्ची देवी बनना । और सब का कल्याण करने वाली तथा सुखों की वर्षा करनेवाली बनना ।

सूक्त में आदर्श-विवाह का वर्णन हुआ है, जिस के नायक आदित्य ब्रह्मचारी और सूर्या ब्रह्मचारिणी हैं, जो कि ब्रह्मचर्य के सुदीर्घ काल में पवित्र जीवन बिता कर देव और देवी बन चुके हैं । ऐसे व्यक्तियों की शाला तो होगी ही,—देवपुरी ।

प्रथम अनुवाक तथा प्रथम सूक्त समाप्त

अनुवाक २, सूक्त २

१-७५ सूर्या सावित्री, आत्मदैवत्यम् । १० यक्ष्मनाशनो, ११ दम्पत्योः परिपन्थिनाशनी, ३६ देवानस्तौत् । आनुष्टुभम्; ५, ६,१२,३१, ३७, ३९, ४० जगती (३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभ्); ९ त्र्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः; १३, १४, १७-१९, ३४, ३६, ३८, ४१, ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुप्; १५, ५१ भुरिक्; २० पुरस्ताद् बृहती; १३, २४, २५, ३२, ३३ पुरोबृहती; २६ त्रिपदा विराट् गायत्री; ३३ विराडास्तारपंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; ४३ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः; ४४ प्रस्तारपंक्तिः; ४७ पथ्याबृहती; ४८ सतःपंक्तिः; ५० उपरिष्टाद् बृहती निचृत्; ५२ विराट् पुरोष्णिक्; ५९, ६०, ६२ पथ्या पंक्तिः; ६८ पुरोष्णिक्; ६९ त्र्यवसाना षट्पदा अतिशक्वरी; ७१ बृहती ।

सूर्या का क्रमिक विकास

६५. तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सूर्याम्) इस सूर्या ब्रह्मचारिणी को [दिव्य-शक्तियों ने] (अग्रे) मनुष्यज पति के साथ विवाह से पहिले (तुभ्यम्) तुझे अर्थात् तेरे प्रति (पर्यवहन्) प्राप्त कराया था, (सः) वह तू अब हे अग्नि ! (नः) हम (पतिभ्यः) मनुष्यज पतियों अर्थात् रक्षकों के लिए, (प्रजया सह) प्रजननशक्ति के साथ वर्तमान हुई (जायाम्) प्रजोत्पादन में समर्थ सूर्या को, (वहतुना सह) विवाहविधि के साथ या वहन करने वाले रथ के साथ (दाः) प्रदान कर ।

[वहतुना=वहतुः=विवाह (अथर्व० १४।१।१३-१४); वहतुः Marriage (आप्टे)। तथा रथ (अथर्व० १४।१।६१) ।प्रजया=प्रजा=Grocration, birth, Production (आप्टे) । जाया=यस्यां जायते सा (उणा० ४।११२)]।

व्याख्या—मन्त्र में अग्नि का सम्बोधन कविता शैली से है । अग्नि का यहां अभिप्राय है रजस्वला का मासिकरजस् । "सौम्यं शुक्रम्, आर्त-

वमाग्नेयम्" तथा "अग्निसोम संयोगाद् संसृज्यमानो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञः" (सुश्रुत, शारीर स्थान) में वीर्य को सोम तथा रजस् को अग्नि कहा है। रजस् की पूर्णपरिपक्वावस्था लगभग २५वें वर्ष में होती है। यही सूर्या के विवाह का सर्वोत्तम काल होता है।

मन्त्र १४।२।२।३ में "तुरीयः मनुष्यजाः" द्वारा मनुष्यज पति में एकवचन द्वारा सूचित किया है कि सूर्या का मनुष्यज पति एक ही है। इस लिये "पतिभ्यः" में बहुवचन यौगिक विधया नाना-रक्षकों का द्योतक है। जैसे राष्ट्रपति, सभापति, सेनापति आदि शब्दों में पति का अर्थ है,—रक्षक। सूर्या विवाह के पश्चात् जब पतिगृह में जायगी तब उस के रक्षक नाना होंगे,—यह भाव पतिभ्यः द्वारा प्रकट किया है। सास, श्वसुर, देवर आदि ये सब रक्षक हैं। मन्त्र में सूर्या का अमनुष्य-पति अर्थात् रक्षक अग्नि अर्थात् रजस् कहा है। तत्पश्चात् सूर्या का पति मनुष्यज होता है। विशेष व्याख्या १४।२।२।२-४ मन्त्रों में की गई है।

दीर्घायुः पति

६६. पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥२॥

(पुनः) तदनन्तर (अग्निः) अग्नि ने, (आयुषा) आयु और (वर्चसा) तेज के (सह) साथ वर्तमान हुई (पत्नीम्) पत्नी को (अदात्) मनुष्यज-पति के प्रति दिया। (अस्याः) इस पत्नी का (यः) जो (पतिः) मनुष्यज-पति है वह (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला है, (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (जीवाति) वह जीवित रहे।

व्याख्या—प्राकृतिक-शक्ति-रूप अग्नि ने कन्या के साथ, मनुष्यज-पति से पूर्व मानो विवाह किया था, —ऐसा वर्णन मन्त्र १ में हुआ है। अग्नि के साथ विवाह होने के पश्चात् अग्नि ने, पत्नी को दीर्घायु तथा तेजः सम्पन्न कर के दीर्घायु वाले मनुष्यज-पति को दिया। इस कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रौढ़ावस्था तथा-तेज से रहित अवस्था वाली कन्या का पति अग्नि है, जोकि रजस्-रूप है। इस अग्नि-पति के साथ रह कर कन्या, जब दीर्घायु अर्थात् प्रौढ़ावस्था वाली तथा शारीरिक वर्चस् अर्थात् तेज से सम्पन्न हो गई, तदनन्तर ही अग्नि-पति, दीर्घायु वाले युवा-मनुष्यज-

पति को निज पत्नी अर्थात् कन्या प्रदान करता है, इस से पूर्व नहीं। दीर्घायु में विवाह करने का परिणाम यह होता है कि सूर्या का पति १०० वर्षों तक जीवित रहने की क्षमता रखता है। छोटी अवस्था में विवाह करने से पति और पत्नी दोनों ही क्षीण शक्ति वाले हो कर शीघ्र ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

सूर्या के चार पति

६७. सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥३॥

हे सूर्या! तू (प्रथमम्) पहिले (सोमस्य) सोम की (जाया) पत्नी होती है, (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति (गन्धर्वः) गन्धर्व होता है। (ते) तेरा (तृतीयः) तीसरा (पतिः) पति (अग्निः) अग्नि होता है, (ते) तेरा (तुरीयः) चौथा पति (मनुष्यजाः) मनुष्य से जन्मा हुआ पुरुष होता है।

[तुरीय=चतुर्+ईय=तुर्+ईय=तुरीय]

व्याख्या—मन्त्र के चतुर्थ पाद में चतुर्थ पति को मनुष्यजाः कहा है। इस से स्पष्ट है कि मनुष्यज-पति से पूर्व के पति अर्थात् "सोम, गन्धर्व और अग्नि" मनुष्यरूप नहीं, ये केवल प्राकृतिक-शक्तिरूप हैं। अतः एक पत्नी के चार-मनुष्यज-पतियों की आशंका इन मन्त्रों में न करनी चाहिये। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि वेद में पठित पतिशब्द यौगिकार्थक है। पति का अर्थ है रक्षक। पति का अर्थ केवल वह रक्षक ही नहीं कि जिस के साथ विवाह हुआ है, अपितु जाया की रक्षा करने वाले पति के समीप के बन्धुओं को भी मन्त्रों में पति कहा है। पति शब्द यौगिकार्थक है यथा **"अश्विना शुभस्पती"** अथर्व० ६।३।३ में अश्वियों को शोभा या शुभकर्मों के पति अर्थात् रक्षक कहा है।

चार पतियों के स्वरूप तथा क्रम

६८. सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥४॥

(सोमः) सोम, जाया को (गन्धर्वाय) गन्धर्व के प्रति (ददत्) देता

है, (गन्धर्वः) गन्धर्व (अग्नये) अग्नि के प्रति (ददत्) देता है। (अग्निः) अग्नि ने (मह्यम्) मेरे प्रति अर्थात् मनुष्यज के प्रति (रयिम्) सम्पत्ति को, (च) और (पुत्रान् च) पुत्र को, (अथो) तथा (इमाम्) इस जाया को (अदात्) दिया है।

व्याख्या—मन्त्र में "मनुष्यज" पति कहता है कि "यह जाया पहिले सोम की थी, सोम ने इसे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने इसे अग्नि को दिया, अग्नि ने सम्पत्ति, पुत्रों और इस जाया को मुझे दिया। प्रतीत होता है मन्त्र १ से ४ में, कन्या को चार अवस्थाओं का वर्णन, उस के पतियों अर्थात् रक्षकों के रूप में हुआ है।

कन्या जब छोटी है तब वह सौम्यगुण प्रधान होती है। इसीलिये छोटे बच्चों को सौम्य, सौम्या तथा सौम्यी शब्दों द्वारा सम्बोधित किया जाता है। इन शब्दों में सोम का अर्थ है चन्द्रमा। चन्द्रमा शीतल, शान्ति प्रद होता है। इन्हीं गुणों की प्रधानता के कारण छोटे बच्चों को सौम्य आदि शब्दों द्वारा पुकारा जाता है। छोटा बच्चा जब गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तो उसे "सोमाय राज्ञे" शब्द द्वारा स्मरण किया है (अथर्व० २।१३।२)। छोटी अवस्था में सौम्यगुण के प्राधान्य के कारण कन्या का पति अर्थात् रक्षक "सोम" कहा है। कन्या की आयु बढ़ी, तब सौम्यगुणों का प्राधान्य शनैः शनैः कम होने लगा। कन्या में यौवनावस्था के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। सौम्यजीवन की पिछली अवस्था में मानसिक-विकार शनैः शनैः जड़ पकड़ने लगे। प्रेम और अनुराग के हाव-भाव प्रकट होने लगे। गन्ध, मोद, प्रमोद, रूपसम्पत् शोभा की भावनाएं जागरित होने लगीं "**गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु**(गन्धर्वेषु)(जैमिनीय ३।३।२५।४),"**रूपमिति गन्धर्वाः**"(उपासते) (श० ब्रा० १०।५।२।२०),"**वरुणो आदित्यो राजा, तस्य गन्धर्वा विशः त इमे आसते इति युवानः शोभना उपसमवेता भवन्ति**" (आश्वलायन श्रौत सूत्र, १०।७।३)। इसी प्रकार इस अवस्था में गान्धर्वविद्या अर्थात् संगीत की ओर रुचि बढ़ने लगी "**गाथयैति परिष्कृता**" (अथर्व० १४।१।७) यह अवस्था गन्धर्वावस्था है। इस अवस्था में कन्या का पति अर्थात् रक्षक गन्धर्व है। कालान्तर में "अग्नि" पति होता है, रक्षक होता है। रजस्वला में "रजस्" की अभिव्यक्ति अग्नि की अभिव्यक्ति है। आयुर्वेद में रजस् को आग्नेय कहा है। रजस् रक्षक है इस में निम्नलिखित प्रमाण है। "**सोमः शौचं ददत्तासां गन्धर्वः शिक्षितां गिरम्। अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मात् निष्कल्मषाः स्त्रियः**" (बौधायन धर्मसूत्र, प्रश्न २, अध्याय २, सूत्र ५८), अर्थात् सोम ने स्त्रियों को शुचिपन दिया, गन्धर्व ने शिक्षिता वाणी दी, अग्नि ने सब को खा जाने का गुण दिया, इस लिये स्त्रियां निष्कल्मष अर्थात् अशुद्धि से रहित हैं। अभिप्राय यह कि कन्या की सौम्यावस्था में, सुकुमारावस्था में, उस में स्वाभाविकरूप से भावों तथा व्यवहारों की शुचिता होती है, उसमें छल-कपट नहीं होता। गन्धर्व का सम्बन्ध गानविद्या से है। गानविद्या द्वारा वाणी शिक्षित होती है, जिस से गाने के आरोह-अवरोह आदि में व्यक्ति निपुण हो जाता है। गान का अभिप्राय वैदिक दृष्टि में पवित्र सामगानों से है। अग्निशक्ति अर्थात् मासिक रजोदर्शन के प्रभाव से कन्या के शारीरिक दोष नष्ट हो जाते हैं। ठीक प्रकार से रजोदर्शन न होने से स्त्रियां रुग्ण हो जाती हैं। रजोदर्शन के ठीक होते रजस्-रूपी-अग्नि स्त्रियों के सब रोगों का भक्षण कर लेती है।

इस रजोदर्शन के प्रारम्भ में ही कन्या का विवाह मनुष्यज-वर के साथ न कर देना चाहिये, रजोदर्शन की अवस्था का पूर्ण परिपाक कन्या में, २४ वर्षों की आयु में होता है। यह अवस्था सूर्या-ब्रह्मचारिणी की है। सूर्या ब्रह्मचारिणी का विवाह आदित्य ब्रह्मचारी के साथ होता है। विवाह के समय गोदान तथा कन्या की विदाई के समय पिता से मिली वस्त्रादि की भेंट को मन्त्र में "रयि" कहा है, जोकि मनुष्यज पति को मिलती है। सूर्या ब्रह्मचारिणी के साथ मनुष्यज पति को "पुत्र" भी मिलते हैं। इस का अभिप्राय यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य के कारण सूर्या में प्रजोत्पादन की अनुद्-बुद्ध (potenial) अवस्था वर्त्तमान थी, जो कि विवाहानन्तर पुत्र-पुत्रियों के रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था से सम्पन्न सूर्या, आदित्य ब्रह्मचारी को मिलती है। और ऐसी सूर्या का दाता अग्नि अर्थात् परिपक्व रजस्-अवस्था ही होती है।

विशेष वक्तव्य

अथर्व० १४।२।१—४ मन्त्रों में (१) "पतिभ्यः" में बहुवचन तथा "प्रजया सह"; मन्त्र (२) "पुनःपत्नीम्" अदात्; मन्त्र (३) में 'सोम, गन्धर्व, अग्नि और मनुष्यज पतियों; तथा मन्त्र (४) में "**रयिं च पुत्रांश्च अथो इमाम्**"; इन शब्दों की दृष्टि से इन मन्त्रों के अर्थ नियोगपरक भी होते हैं। इस प्रकार ये चार मन्त्र द्वयर्थक हैं, विवाहपरक भी और नियोग-परक भी।

मन्त्र ३ का नियोग विषयक अर्थ महर्षिदयानन्दकृत निम्नलिखित है—

"अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—(**सोमः प्रथमो विविदे**) उन में से जो विवाहित पति होता है, उस की सोम संज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु, आदि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (**तृतीयो अग्निष्टे पतिः**) तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्नि-संज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है। (**तुरीयस्ते मनुष्यजाः**) और चौथे से लेके दशम पर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक होते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं। (सत्यार्थप्रकाश, तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)।

दम्पती की कामनाएँ

६९. आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि ॥५॥

(वाजिनीवसू) उषा-और-सूर्य के सदृश वर्तमान (अश्विना) हे शुभ कर्मों में व्याप्त माता-पिता! (हृत्सु) हमारे हृदयों में (कामाः) कामनाएं (नि अरंसत) निरतां रमण कर रही हैं,—(१) (वाम्) तुम दोनों की (सुमतिः) सुमति (आ अगन्) हमें प्राप्त हो; (२)(शुभस्पती) हे शुभकर्मों के रक्षकों! या स्वामियों! (मिथुना) तुम दोनों एक-दूसरे के आश्रय में रहते हुए (गोपा) हमारे रक्षक (अभूतम्) होओ; (३) (अर्यम्णः) न्याय-कारी परमेश्वर के (प्रियाः) हम प्रेमपात्र बनें; (४) (दुर्यान्) घरों को (अशीमहि) हम प्राप्त करें।

[वाजिनीवसू=वाजिनी उषोनाम (निघं० १।८)+वसु (सूर्य)। ८ वसु हैं, यथा "**अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं च, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च,—एते वसवः**" (श० ब्रा० १२।६।३।३)। इस प्रमाण के अनुसार आदित्य अर्थात् सूर्य भी वसु है। अश्विना=माता-पिता (अथर्व १४।१।१४)। मिथुना="**मिथुनौ कस्मान्मिनोतिः श्रयतिकर्मा, थु, इति नामकरणः**" (निरु० ७।७।२९)। अर्यम्णः=अर्यमा "**योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति**", "जो सत्यन्याय के करने

हारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम "अर्यमा" है। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम-समुल्लास)। दुर्याः गृहनाम (निघं० ३।४)]

व्याख्या—मन्त्र में वृद्ध माता-पिता को "वाजिनीवसू" और "अश्विना" कहा है। वाजिनी का अर्थ है उषा, और वसु का अर्थ है सूर्य। माता उषा है और पिता सूर्य है। उषा और सूर्य का जो पारस्परिक सम्बन्ध है वह पत्नी और पति के लिये आदर्श सम्बन्ध है। उषा के विना सूर्य और सूर्य के विना उषा की स्थिति नहीं। इसी प्रकार का सम्बन्ध पत्नी और पति का होना चाहिये। एक-दूसरे से पृथक् रहना पत्नी और पति के लिए उचित नहीं। उषा का स्वरूप सुन्दर तथा कोमल है, और सूर्य का प्रखर। इस लिये पत्नी में रमणीयता तथा कोमलता का निवास होना चाहिये, और पति मे पौरुषशक्ति का। माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध यदि उषा और सूर्य के सम्बन्ध के सदृश होगा तो नए वर-वधू पर भी इन के पारस्परिक सम्बन्ध का उत्तम तथा क्रियात्मक प्रभाव पड़ेगा।

माता-पिता, वर-वधू के लिए, सच्चे मार्गदर्शक होने चाहियें। इसी आशा से वर-वधू माता-पिता से कहते हैं कि हे अश्वियो! सद्गुणों से व्याप्त हे माता-पिता! हमारे हृदयों में निम्नलिखित कामनाएं हैं, आप इन की पूर्ति में हमारे सहायक बनें। यथाः—

(१) आप दोनों की सुमति अर्थात् उत्तममति,—आप दोनों के उपदेशों द्वारा, हमें सदा प्राप्त होती रहे।

(२) आप दोनों हमारे रक्षक बने रहें। हम पर आप की छत्रछाया सदा बनी रहे (गोपा=गोपौ, गुप् रक्षणे)।

(३) आप हमें आस्तिक बनाइये। ताकि न्यायकारी परमेश्वर प्रदर्शित नियमों के अनुसार जीवनों को ढाल कर, हम उस के प्रेमपात्र बन सकें।

(४) तथा हे माता-पिता! आप स्वयं हमें दायविभागानुसार गृहों के उत्तराधिकार भी प्रदान कीजिये।

वीरसन्तानें तथा गृहस्थतीर्थ

७१. सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥६॥

हे पत्नी ! (सा) वह तू (मन्दसाना) मुदित-प्रमुदित होती हुई, (शिवेन) शिवसंकल्पों वाले (मनसा) मन से, (वचस्यम्) प्रशंसनीय तथा (सर्ववीरम्) जिस से सब सन्तानें वीर उत्पन्न हों ऐसे (रयिम्) वीर्य को (धेहि) अपने में धारण कर और उस का परिपोषण कर। (शुभस्पती) शुभकर्मों के रक्षक हे माता-पिता ! आप दोनों (तीर्थम्) हमारे गृहस्थतीर्थ को (सुगम्) सुगमता से तैरने योग्य, तथा (प्रपाणम्) खान-पान से युक्त करो, और (पथिष्ठाम्) गृहस्थ-मार्ग में स्थित (स्थाणुम्) ठूण्ठरूप से बाधक (दुर्मतिम्) दुर्मति को (अपहतम्) दूर कर दो।

[मन्दसाना=मदि स्तुतिमोदमद इत्यादि। मदि+असानच् (उणा० २।८७ बाहुलकात्)। रयि=वीर्य। "**वीर्यं वै रयि**" (श० ब्रा० १३।४।२।१३) धेहि=इस का प्रयोग गर्भाधान के लिए भी हुआ है। यथा "**गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति**" (अथर्व० ५।२५।३)। तीर्थम्=यह शब्द "तॄ" धातु से बना है जिस का अर्थ है "तैरना"। **तरन्ति येन यत्र वा तत् तीर्थम्**" (उणा० २।७)। तथा "तीर्थैस्तरन्ति" (अथर्व० १८।४।७)]

व्याख्या—मन्त्र के प्रथमार्ध भाग में पति अपनी पत्नी से कहता है कि तू सदा और विशेषरूप से गर्भकाल में मुदित-प्रमुदित रहा कर, तथा मन को शिवसंकल्पी किया कर। इस विधि से तू प्रशंसनीय तथा वीर सन्तानें प्राप्त करेगी। माता की प्रसन्नता, उस के शिवसंकल्प,—वास्तव में सन्तति को उत्तम तथा वीर बना सकते हैं।

मन्त्र के द्वितीयार्ध भाग में पति अपने माता-पिता से प्रार्थना करता है कि आप दोनों हमारे गृहस्थ को तीर्थ बनाइये, ताकि गृहस्थ के नियमों का पालन करते हुए हम तीर्थों का फल प्राप्त कर सकें और इस द्वारा हम दुःखसागर को तैर जांय। साथ ही यह भी प्रार्थना करता है कि आप के निर्देशानुसार हमारा गृह खान-पान की सामग्री से भरा रहे, तथा आप दोनों सदुपदेशों द्वारा हमारी दुर्मति को दूर कीजिये। दुर्मति,—मार्ग

में स्थित ठूंठ के सदृश—गृहस्थजीवन को सुगमता से चलाने में बाधक होती है। आप शुभस्पती हैं, शुभकर्मों के रक्षक तथा पालक हैं, हमें भी शुभकर्मों के रक्षक तथा पालक बनाइये।

गर्भिणी के स्वास्थ्य की रक्षा

७१. या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना ।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥७॥

(याः) जो (ओषधयः) ओषधियां है, (याः) जो (नद्यः) नदियां हैं, (यानि) जो (क्षेत्राणि) खेत, (या=यानि) जो (वना=वनानि) वन, उपवन तथा बगीचे हैं, (ताः) वे ओषधियां आदि (रक्षसः) रक्षक हो कर (पत्ये प्रजावतीम्) पति के लिये प्रजोत्पन्न करने वाली (त्वा) तुझ को (वधु) हे वधु ! (रक्षन्तु) सुरक्षित करें।

[गर्भवती को ओषधियों का सेवन करते रहना चाहिये, ताकि गर्भस्थ शिशु स्वस्थ रहे, और माता भी स्वस्थ तथा रोगों से मुक्त रहे। गर्भावस्था में नदी, वन, बगीचों में भ्रमण स्वास्थ्यवर्धक होता है। अथर्व० १३।४।२५ में रक्षस् शब्द का प्रयोग रक्षक[1] परमेश्वर के लिए हुआ है। "रक्षसः" पञ्चमी विभक्ति में अभिप्राय यह होगा कि कथित उपाय, राक्षसरूपी रोगों से तेरे रक्षक हों]

गृहस्थतीर्थ का मार्ग

७२. एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥८॥

(इमम्) इस (पन्थाम्) गृहस्थ-तीर्थ [मन्त्र ६] के पथ पर (आ अरुक्षाम) हम आरूढ़ हुए हैं, (सुगम्) जो कि सुगम मार्ग है, (स्वस्ति-वाहनम्) और कल्याण प्राप्त कराता है। (यस्मिन्) जिस मार्ग पर चलता हुआ (वीरः) धर्मवीर पुरुष (रिष्यति, न) विनाश को प्राप्त नहीं होता,

---

१. यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः"।

और (अन्येषाम्) अन्य धर्मवीरों की (वसु) धर्मरूपी सम्पत् को (विन्दते) प्राप्त करता है।

[स्वस्ति=उत्तमस्थिति। "सुष्ठु अस्ति वर्त्तते इति स्वस्ति, कल्याणं वा" (उणा० ४।१८२)। वाहनम्=वह प्रापणे]

व्याख्या—मन्त्र ६ में गृहस्थ को तीर्थ तथा सुगम कहा है, परन्तु तब जब कि गृहस्थ-पथ पर सुमतिपूर्वक और धर्मपूर्वक चला जाय। धर्मपूर्वक चलने गृहस्थी दीर्घजीवी हो कर विनाश को प्राप्त नहीं होते, और वे अन्य सद्गृहस्थियों के धर्ममार्ग का अवलम्बन करते रहते हैं। इस प्रकार जीवन में उत्तमस्थिति प्राप्त कर, कल्याण को प्राप्त करते हैं।

श्रेष्ठ पुत्रों की प्राप्ति

७३. इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दम्पती वाममश्नुतः।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥९॥

(नरः) हे नर-नारियो! (मे) मेरे (इदम्) इस कथन को (सुशृणुत) ध्यानपूर्वक सुनो कि (यया आशिषा) जिस प्रकार की इच्छा द्वारा(दम्पती) पति-पत्नी (वामम्) सुन्दर तथा श्रेष्ठ सन्तान (अश्नुतः) प्राप्त करते हैं। (ये)जो (गन्धर्वाः) वेदों के विद्वान् (च) और (अप्सरसः) रूपवती (देवीः) देवियां, (ये) तथा जो अन्य सज्जन (वानस्पत्येषु) वृक्षों की काष्ठाओं से निर्मित गद्दियों पर (अधितस्थुः) अधिष्ठित हैं, (ते) वे सब (अस्यै, वध्वै)इस वधू के लिए (स्योनाः) सुखदायक (भवन्तु) हों, अर्थात् सुखी रहने के आशीर्वाद दें, और (उह्यमानम्) पितृगृह से ली जाती हुई (वहतुम्) रथस्थ-वधू को (हिंसिषुः, मा) हिंसित न करें, अवाञ्छनीय आलोचना द्वारा मानसिक कष्ट न पहुँचाएं।

[नरः="नृ" शब्द, सम्बुद्धि में बहुवचन: एकशेष अर्थात् नरनारियो! आशिषा=आङः शासु इच्छायाम्। दम्पती=दमे गृहनाम (निघं० ३।४)। अंग्रेजी का "Home"शब्द भी "दम" शब्द का रूपान्तर है। "Domestic Science" का अर्थ है गृहविज्ञान। सम्भवतः दम्पती शब्द का वास्तविक अर्थ हो "गृह के दो पति"। इस द्वारा गृह पर पति-पत्नी का समान अधिकार सूचित होता है। व्याकरण के अनुसार जाया को "दम्" आदेश

माना जाता है। वामम्=जननीयम् (पुत्रम्)। गन्धर्वाः=गाम् वेदवाणीं धारयन्तीति। गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। अप्सरसः=अप्स इति रूपनाम, तद्वा रूपवती अप्सराः (निरु० ५।३।१३)। उह्यमानम्=उह्यमानाम् (आपस्तम्ब सूत्र)। वहतुम्=वहतु (रथ) स्थिताम्, वधूम्। यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति"=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति। तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्]

व्याख्या सुन्दर और श्रेष्ठ सन्तानों को प्राप्त करने के लिए चाहिये सुमति की इच्छा [मन्त्र ५], दुर्मति की विनाशेच्छा [मन्त्र ६], तथा गृहस्थ को सच्चा-तीर्थ बनाने की इच्छा [मन्त्र ६]। श्रेष्ठ सन्तानों को प्राप्त करना विवाह का मुख्य उद्देश्य है। मन्त्र में अप्सरसः शब्द का प्रयोग हीन-स्त्रियों के लिये नहीं हुआ, मन्त्र में इन्हें देवीः कहा है, दिव्य-गुणों से सुशोभित कहा है। "वानस्पत्येषु अधितस्थुः" का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि वनस्पतियों तथा बड़े बड़े वृक्षों के वनों में जो निवास करते हैं ऐसे वानप्रस्थी भी, जोकि विवाह में उपस्थित हुए हैं, निज आशीर्वादों द्वारा वधू के लिए सुखदायक हों।

सत्कार पूर्वक वधू का प्रस्थान

७४. ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥१०॥

(ये) जो (यक्ष्माः) पूजनीय लोग अर्थात् कन्यापक्ष के लोग (वध्वः) वधू के (चन्द्रम्) आह्लादकारी तथा चन्द्रसमान चमकते हुए (वहतुम्, अनु) रथ के साथ साथ या पीछे पीछे (यन्ति) चलते हैं, तथा (जनान् अनु) वरपक्ष के जनों के साथ-साथ या पीछे-पीछे (यन्ति) चलते हैं (तान्) उन्हें, (यज्ञियाः) विवाह-यज्ञ में उपस्थित पूजनीय (देवाः) दिव्यगुणी कन्यापक्ष के लोग, (पुनः) फिर (नयन्तु) पहुँचा दें, (यतः) जहां जहां से कि वे (आगताः) आए थे।

[चन्द्रम्=चदि आह्लादने। यक्ष्माः=यक्ष पूजायाम् (चुरादि), तथा "यक्षयति पूजयतीति यक्ष्मा" (उणा० ४।१५२, महर्षि दयानन्द)। तथा "महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये" (अथर्व० १०।७।३८) में ब्रह्म को यक्ष अर्थात् पूजनीय कहा है। यज्ञियाः=यज् देवपूजा, सङ्गतिकरण, दानेषु, अर्थात् विवाह-यज्ञ में संगत हुए पूजनीय लोग]

व्याख्या—वधू जिस रथ पर चढ़ कर पतिगृह की ओर जाने लगे वह खूब सजा हुआ तथा सुन्दर और चन्द्र के समान आह्लादकारी होना चाहिये [मन्त्र १४।१।६१]। पतिगृह की ओर कन्या के जाते हुए, रथ के साथ साथ कन्यापक्ष के पूजनीय तथा अन्य पुरुष भी कुछ दूरी तक चलें। यह पद्धति वरपक्ष के सत्कारार्थ है। तथा जो पूजनीय लोग विवाह में शामिल हुए थे उन्हें अपने अपने स्थानों में वापिस पहुंचाने का प्रबन्ध भी कन्यापक्ष के लोगों को करना चाहिये।

कन्यापक्ष से आशीर्वाद

७५. मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥११॥

हे जाया और पति ! (परिपन्थिन) गृहस्थ-पथ के विरोधी,—(ये) जोकि (दम्पती) जाया और पति पर (आ सीदन्ति) आ बैठते हैं, या उन का विनाश कर देते हैं,—वे (मा विदन्) तुम्हें प्राप्त न हों, तुम्हें जानें तक नहीं। तुम दोनों (दुर्गम्) दुर्गम पथ को, (सुगेन) सुगम पथ द्वारा (अतीताम्) लांघ जाओ। इस प्रकार तुम्हारे (अरातयः) शत्रु (अप द्रान्तु) दूर भाग जायें]

[परिपन्थिनः=गृहस्थ-पथ के विरोधी हैं,—काम, क्रोध, लोभ, मोह, परस्पर के कलह आदि। पथ का अभिप्राय सड़कों या Roads से नहीं। पथ के सम्बन्ध में देखो (मन्त्र १४।१।६३; १४।२।६,८)। ये परिपंथी जब पति-पत्नी पर सवार हो जाते हैं, उन पर काबू पा लेते हैं, तब पति-पत्नी विनाश की ओर पग बढ़ाते हैं। सुमति का मार्ग "सुग" मार्ग है [मन्त्र १४।२।६८], सुगम मार्ग है, और दुर्मति का मार्ग दुर्ग है, दुर्गम है। सुमति द्वारा दुर्मति के विनाश हो जाने पर अराति अर्थात् कंजूसी और अदान भावनाएं आदि शत्रु भाग जाते हैं। अराति=अ (न)+राति (दान) "रा" दाने। आ सीदन्ति=सद् (बैठना), तथा विनाश, विशरण]

वधू के आभूषणों का प्रदर्शन

७६. सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥१२॥

(अघोरेण, मित्रियेण, चक्षुषा) अक्रूर और मैत्रीपूर्ण अर्थात् स्नेह-

मयी दृष्टि के साथ वर्तमान (ब्रह्मणा) निज वेदवित् पुरोहित, तथा (गृहैः) गृहवासियों की सहायता द्वारा (वहतुम्) वधू को (सं काशयामि) वधू का पिता मैं सम्यक् विधि से सुशोभित कराता हूं। (पर्याणद्धम्) पहिना हुआ, तथा (स्योनम्) सुखकर (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के रूपों वाला (यत्) जो वस्त्र तथा आभूषण (अस्ति) है, (सविता) कन्या का जन्मदाता पिता (तत्) उसे अर्थात् वस्त्र आदि को (पतिभ्यः) कन्यापक्ष के रक्षकों के (कृणोतु) सुपुर्द कर दे।

[वहतुम्=मन्त्र में इस का अर्थ वधू प्रतीत होता है (देखो, मन्त्र १४।२।९)। वहतुम् लाक्षणिक प्रयोग है। वहतुम्=वहतुस्थितां वधूम्। यथा मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति। अस्ति=आपस्तम्ब में अस्ति के स्थान में "अस्याम्" पद पठित है, जोकि वधू का निर्देश करता है। इसलिये आपस्तम्ब की दृष्टि में पर्याणद्धम् तथा विश्वरूपम् द्वारा वधू के वस्त्र तथा आभूषण अभिप्रेत है। आनद्धम्=*Dressing, cutting on clothes, etc.* (आप्टे)। अथर्ववेद के अंग्रेजी में व्याख्याकार *WHITNEY* टिप्पणी में लिखते हैं कि *"The commentator to Apostamba understands of the ornaments worm by the bride, as indicated by the reading asyam* (अस्याम्)। काशयामि=काशृ दीप्तौ]

व्याख्या—कन्या-प्रेषण के लिए, कन्या का पिता कन्या को विधिवत् आभूषणों से अलङ्कृत करवा कर, वरपक्ष के रक्षकों अर्थात् पति तथा श्वशुर आदि के सुपुर्द कर दे, ताकि मार्ग में उन आभूषणों आदि के गुम हो जाने की आशङ्का न रहे।

प्रजा द्वारा वृद्धि

७७. शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

(शिवा) कल्याणी (इयम्) यह (नारी) नारी, (अस्तम्) पति के घर (आ अगन्) आई है। (धाता) जगत् के धारण करने वाले परमेश्वर ने (अस्यै) इस नारी के लिए (इमम्, लोकम्) यह पतिगृह (दिदेश) निर्दिष्ट किया है। (अर्यमा) जगत् के स्वामी परमेश्वर को जानने वाला,

तथा (भगः) ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न, और (प्रजापतिः) उत्पन्न होने वाली सन्तानों की पालना और रक्षा करने में समर्थ पति, तथा (अश्विना उभा) पति के दोनों माता-पिता (ताम्) उस नारी को (प्रजया) सन्तानों द्वारा (वर्धयन्तु) बढ़ाएं ।

[अर्यमा (१४।१।३९) । भगः (१४।१।५१) । अश्विना (१४।१।१४) । दिदेश, दिश्=*To allot, to give, grant.*]

व्याख्या - वधू जब पतिगृह में प्रवेश करे तब गृहपुरोहित कहे कि यह नारी शिवरूपा है, कल्याणस्वरूपा है जो कि इस घर में आई है। तथा कहे कि पति-पत्नी के इस सम्बन्ध को विधाता ने निश्चित किया है इस लिये इस सम्बन्ध को बुद्धिमत्ता से स्थिर, पवित्र तथा आनन्दमय बनाए रखना चाहिये ।

विवाह के अनन्तर पतिगृह पर पत्नी का भी स्वामित्व हो जाता है जितना कि पति का है।

पति में तीन गुण होने चाहियें। वह परमेश्वर को मानने वाला हो, आस्तिक हो। वह ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न हो। अपनी सन्तान की पालना और रक्षा कर सकने में समर्थ हो, तथा प्रजा वृद्धि कर सके।

पत्नी की वास्तविक वृद्धि है उस की गोद में सन्तानरत्नों का होना। क्योंकि सन्तानें ही विवाह में मुख्य लक्ष्य हैं।

आत्मिक-तथा-उत्पादनशक्ति से सम्पन्ना नारी

७८. आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥

(आत्मन्वती) आत्मिकशक्तिसम्पन्ना,(उर्वरा)तथा उत्पादनशक्तिसम्पन्ना (इयम्) यह (नारी) नारी (आ अगन्) आई है, (तस्याम्) उस अर्थात् आत्मिकशक्तिसम्पन्ना, (अस्याम्) तथा इस अर्थात् उत्पादनशक्तिसम्पन्ना नारी में, (नरः) हे पौरुषशक्ति वालो ! (बीजम्) बीज (वपत) बोओ, वीर्याधान करो। (सा) वह नारी (ऋषभस्य) श्रेष्ठपति के (रेतः) वीर्य को (बिभ्रती) धारण तथा पोषित करती हुई (वः) तुम्हारे लिये (वक्षणाभ्यः) गर्भस्थ नस-नाड़ियों से (प्रजाम्) सन्तान को, तथा (वक्षणाभ्यः) वक्षःस्थल की नस-नाड़ियों से (दुग्धम्) शिशु के लिए दुग्ध को (जनयत्) पैदा करे।

[उर्वरा=इस का अर्थ है उत्पादन शक्तिसम्पन्ना या उपजाऊ। मन्त्र १४।१।१ में मातृशक्ति को भूमि कहा है। भूमि का अर्थ है, उत्पादनशक्ति वाली "**भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः**"(उणा० ४।४६, महर्षि दयानन्द)। उर्वरा शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। इसके द्वारा यह दर्शाया है वन्ध्या में बीजावाप न करना चाहिये। बन्ध्या में बीजावाप में केवल भोगेच्छा प्रेरक होती है, सन्तानेच्छा नहीं। परमेश्वर ने नारीसृष्टि केवल सन्तानार्थ की है, भोग के लिए नहीं। **सन्तानार्थं महाभागा एताः सृष्टाः स्वयम्भुवा**" (मनुस्मृति)। अथवा उर्वरा = उरु+वरा=महाश्रेष्ठा नारी। यह नारी यतः सूर्याब्रह्मचारिणी है, अतः महाश्रेष्ठा है।

नरः यह शब्द "नृ" से उत्पन्न बहुवचन में है, और "नर" शब्द से उत्पन्न एकवचन में है। बहुवचनावस्था में "वपत" शब्द अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिस के कर्त्ता हैं "नृ" से उत्पन्न नरः। एकवचनान्त नरः शब्द मानने पर "वपत" में वचनव्यत्यय कर "नरः वपतु" का अर्थ जानना चाहिये। बहुवचनान्त "नरः" और "वपत" का अभिप्राय है नियोगावस्था में भिन्न भिन्न कालों में बीजावाप करने वाले भिन्न भिन्न पति[1]। वक्षणाभ्यः=वक्षणाः नदीनाम (निघं० १।१३)। "**यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे**" के अनुसार, शरीर में रस-रक्त-दूध को प्रवाहित करने वाली नाड़ियां भी वक्षणा हैं। वक्षणा शब्द "वह" धातु से निष्पन्न है। इसी प्रकार गर्भस्थ नस-नाड़ियां भी वक्षणाः हैं। इन द्वारा गर्भस्थ शिशु का निर्माण होता है]

व्याख्या आत्मिकशक्ति तथा उत्पादनशक्ति से सम्पन्ना नारी गृहस्थजीवन के लिए शिवास्वरूप है (मन्त्र १३)। केवल आत्मिकशक्ति वाली नारी, वैराग्यप्रवणा होने के कारण, गृहस्थजीवन के लिए सुखकर नहीं हो सकती। तथा केवल उत्पादनशक्ति वाली नारी, भोगमय जीवन के कारण, गृहस्थ को अधिक भोगमय बना सकती है। इस लिये नारी में दोनों शक्तियों का समन्वय होना चाहियें, तभी वह शिवास्वरूप हो सकती है।

आत्मिकशक्ति से विहीन नारी में बीजावाप से सन्तानें अनात्म पदार्थों के भोगों में आसक्त हो जाती हैं, तथा बन्ध्या में बीजावाप से

१. एक काल में एक पति की दृष्टि से "ऋषभस्य रेतः बिभ्रती" में ऋषभस्य में एकवचन प्रयुक्त हुआ है।

बीज भी निष्फल रहता है। कोई किसान अनुपजाऊ भूमि में बीजावाप नहीं करता। इस भाव को हृदयङ्गत कराने के लिए मन्त्र में उर्वरा शब्द का प्रयोग हुआ है।

वधू को चाहिये कि वह ऋषभ अर्थात् "श्रेष्ठ" विवाहित तथा नियुक्त पति द्वारा ही बीज ग्रहण करे। अश्रेष्ठ, कुकर्मी के साथ प्रसंग न करे। इस भय से कि सन्तानें भी कहीं अश्रेष्ठ, कुकर्मी उत्पन्न न हो जायें।

"दुग्धं जनयत्" द्वारा यह प्रकट किया है कि शिशु के लिए निज माता का दूध ही अति उपकारी होता है। अतः बच्चा उत्पन्न होने के निकट काल में दुग्धोत्पादक ओषधियों का सेवन भी माता को करते रहना चाहिये।

गृहमन्दिर की देवता

७९. प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥१८॥

हे पत्नी! (प्रतितिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो कर नवगृह में दृढता से स्थित हो। (विराट्) तू विराट्-रूपा है। (सरस्वति) हे ज्ञान-विज्ञान वाली देवी! (इह) इस गृह में तू (विष्णुः इव) सूर्य के सदृश प्रकाश देने वाली है। (सिनीवालि) हे अन्न स्वामिनी! तथा सुन्दर बालों वाली! (प्रजायताम्) तुझ से सन्तान पैदा हो, जोकि (भगस्य) भगों से सम्पन्न पिता की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे।

[विराट्=विशेषेण राजते इति, राजृ दीप्तौ। विष्णुः=किरणों से व्याप्त सूर्य, विष्लृ व्याप्तौ। सरस्वती=सरः **विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा** (उणा० ४।१९०, महर्षि दयानन्द)। सिनीवाली=सिनम्=अन्नम्, तद्वती सिनी; वालः केशसमूहः तद्वती वाली। सिनम् अन्नाम (निघं० २।७)। भगस्य, भग=ऐश्वर्य, धर्म, यशः, श्री, ज्ञान, वैराग्य, तत्सम्पन्न पिता, अर्श आद्यच् (अष्टा० ५।२।१२७)]

व्याख्या—मन्त्र में वधू को विष्णु और सरस्वती कह कर, इसे देवतारूप माना है। यह पतिगृह की देवता बनी है। इसलिये यह प्रतिष्ठा की पात्र है। मानो गृह-मन्दिर में पत्नी का प्रतिष्ठान हुआ है।

वधू को विराट् कहा है। विराट् से जगत् उत्पन्न हुआ है। यथा "ततो **विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो ऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः"** ॥ (यजुः ३१।५), में विराट्[1] को प्रकृतिरूप तथा परमपुरुष परमेश्वर को उस का अधीश्वर मान कर भूमि आदि की उत्पत्ति दर्शाई है। गृहस्थ में भी, वधू को विराट् कहते हुए, पति को गृहस्थ में अधीश्वर सूचित किया है। जैसे प्रकृति और परमपुरुष का सम्बन्ध केवल जगत् के उत्पादन के निमित्त होता है, भोगेच्छा की तृप्ति के लिये नहीं इसी प्रकार का सम्बन्ध पत्नी और पति का होना चाहिये यह भावना "विराट्" पद द्वारा दर्शाई है।

वधू को सरस्वती कहा है। सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवता है। सूर्या-ब्रह्मचारिणी भी गुरुकुल में गुरुओं द्वारा सुशिक्षिता होकर मानो सरस्वती का रूप है। माता के सुशिक्षिता होने पर वह बच्चों की सच्ची **Guardian** (सुरक्षिका) हो सकती है।

वधू विष्णु है। विष्णु परमदेव है जगत् का। इसी प्रकार वधू गृहस्थ जगत् की परमदेवता रूप है। विष्णु का अर्थ सूर्य भी है जो कि निज किरणों द्वारा निज सौरमण्डल में व्याप्त होकर उसे प्रकाशित कर धारित कर रहा है। इसी प्रकार पत्नी को भी चाहिये कि वह निज ज्ञान-विज्ञान द्वारा गृहस्थ में ज्ञान ज्योति का विस्तार कर गृहस्थ का धारण-पोषण करे।

वधू "सिनीवाली" है। वह सिनी है, घर के खाद्य-पेय सामग्री की स्वामिनी बन कर गृहवासियों का अन्नादि द्वारा पालन-पोषण करने वाली वह बने, तथा "वाली" अर्थात् केश आदि को संवार कर निजी शोभा बनाए रखे। सिनीवाली को निरुक्तकार ने "देवपत्नी" कहा है "सिनीवाली

---

१. विराट्-तत्त्व देदीप्यमान तत्त्व है, जो कि आकाश में महाव्याप्ति में फैला हुआ था, जोकि केवल विकृतिरूप था, और जिस से स्थूल सृष्टि अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्र, भूमि आदि तथा प्राणियों के शरीर (पुरः), परम्परया उत्पन्न हुए। विराट् अवस्था पञ्चतन्मात्राओं से, पञ्च तन्मात्राएं अहङ्कार, से और अहङ्कार महत्तत्त्व से, तथा महत्तत्त्व मूलप्रकृति से, उत्पन्न हुआ। प्रथमप्रकृति मूल-प्रकृति है, महत्तत्त्व से लेकर पञ्चतन्मात्राओं तक प्रकृति-विकृति रूप तथा "विराट्" केवल विकृतिरूप है।

कुहूरिति देवपत्न्यौ–इति नैरुक्ताः" (११।३।३१) । अर्थात् सिनीवाली, देव-रूप पति की पत्नी है, आसुर तथा तामस प्रकृति वाले पुरुष की नहीं । इस के द्वारा यह सूचित किया है कि गुणकर्म और स्वभाव में स्वसदृश स्त्री पुरुष का विवाह ही योग्य विवाह है । पत्नी का यह भी कर्त्तव्य है कि वह बच्चों को इस प्रकार सुशिक्षित करे कि वे अपने पिता की सुमति में सदा रहें, ताकि वे दुर्मति-मार्ग पर न चलें ।

नारियों के हृदयों में शान्ति की लहरें

८०. उद् व ऊर्मिः शम्या हुन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।
मा दुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥१६॥

(आपः) जलवत् शीतल हे नारियों ! (वः) तुम में से प्रत्येक के [हृदय से] (शम्या) शान्ति प्राप्त कराने वाली (ऊर्मिः) आसक्ति की लहर (उद् हन्तु) उद्गत हो, उठे । इस प्रकार (योक्त्राणि) प्रेमबन्धनों को तुम (मुञ्चत) धारण करो । हे पति-पत्नी ! तुम दोनों (अदुष्कृतौ) दुष्कर्मों से रहित, (व्येनसौ) पापों से रहित, (अघ्न्यौ) और पाप की मार से हनन के अयोग्य हो कर (अशुनम्) असुख को (मा) न (आ अरताम्) प्राप्त होओ ।

[शम्या=शम् (शान्ति)+या (प्रापणे), शान्ति प्राप्त कराने वाली । उद् हन्तु=उद्+हन् (गतौ)=उद्गच्छतु=उठे । हन् हिंसा और गति । आपः=आपः वै योषा (श० ब्रा० १।१।१।१८) । शान्तिर्वा आपः (ऐ० ब्रा० ७।५) । आपो हि शान्तिः (तां० ब्रा० ८।७।८) । योक्त्राणि, योक्त्रम्[1]= **The rope by which an animal is tied to the pole of a carriage** (आप्टे), अर्थात् रस्सी के बन्धन । मुञ्चत=धारण करो, यथा **"प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः"** में मुञ्च का अर्थ है धारण करना । मुच्=**To put on** (आप्टे), अर्थात् धारण करना । आ अरताम्=ऋ गति प्रापणयोः (भ्वादि) ।

---

१. योक्त्रम्=yoke=रथ का जुआ । पति-पत्नी को गृहस्थ-रथ के जुए में बन्धने का वर्णन, यथा "समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि" (अथर्व० ३।३०।६) द्वारा भी किया गया है अर्थात् गृहस्थ के सब व्यक्ति परस्पर ऐसे बन्धे रहें जैसे दो बैल रथ के जुए में बन्धे रहते हैं ।

व्याख्या—मन्त्र में "आपः और शम्या ऊर्मिः" द्वारा जल वाले नद या समुद्र की लहरों का, तथा "उद्हन्तु" द्वारा उन लहरों के उठने का निर्देश मिलता है । वेद में हृदय को भी "समुद्र" कहा है, यथा—हृद्यात्समुद्रात् (यजुः १७।९३) तथा "सिन्धु" सिन्धुसृत्याय (अथर्व १०।१।११) । इसलिये मन्त्रार्थ में ऊर्मि का सम्बन्ध हृदय के साथ किया है । "वः" बहुवचन है और "ऊर्मिः" एकवचन है । इसलिये "प्रत्येक के हृदय से"—ऐसा अर्थ किया गया है । आपः अर्थात् जल शान्त और शान्तिदायक होते हैं, इस दृष्टोपमा द्वारा, नारियों को भी जल के सदृश शान्ति सम्पन्न तथा शान्ति-दायक होना चाहिये, यह भाव द्योतित किया है । मन्त्र के पूर्वार्ध द्वारा नारियों को, तथा उत्तरार्ध द्वारा वर-वधू या पति-पत्नी को उपदेश दिया है ।

"योक्त्राणि" पद द्वारा प्रेम-बन्धनों का निर्देश हुआ है । पत्नी के हृदय से यदि पति आदि के प्रति प्रेममयी लहरें उठती रहें तो ये प्रेममयी लहरें पति आदि के लिये बन्धन रूप हो जाती हैं । यथा **"पतिर्बन्धेषु बध्यते"** (अथर्व १४।१।२६) में भी बन्धनों का वर्णन हुआ है । प्रेम, सहानु-भूति, सेवा आदि प्रेम-बन्धन हैं ।

पति-पत्नी को विशेष उपदेश दिया गया है, अर्थात् दुष्कर्मों से रहित होना, पापों से रहित होना, अबध्य हो जाना, तथा अशुभ को प्राप्त न होना । अशुन=अ+शुनम् (सुखनाम, निघं० ३।६) । इन में परस्पर कार्य-कारणभाव का सम्बन्ध है । दुष्कर्मों से पृथक् हो जाने पर पाप भावनाओं से मुक्त हो जाना, अनुभव और युक्ति से सिद्ध है । पाप भावनाओं से मुक्त हो जाने पर व्यक्ति अबध्य हो जाता है, उस का चारित्रिक-विनाश नहीं होता, वह पूर्ण आयु भोग कर मृत्यु को प्राप्त करता है, और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है । अशुन अर्थात् असुख के दो स्वरूप हैं । एक "सुख का न होना", और दूसरा दुःख का होना । "सुख का न होना" और "दुःख का होना"—ये दोनों अवस्थाएं उपादेय नहीं । मनुष्य दुःख से तो सदा रहित होना चाहता है, परन्तु सुखाभाव को भी वह नहीं चाहता । वह तो साक्षात् सुख का अभिलाषी है, केवल अशुन-अवस्था का नहीं ।

पत्नी का प्रेममय-व्यवहार

८१. अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥१७॥

(अघोरचक्षुः) क्रूरतारहित आंखों वाली, (अपतिघ्नी) पति को कष्ट न पहुँचाने वाली, (गृहेभ्यः) गृहवासियों के लिये (स्योना) सुखदायिनी, (शग्मा) शान्ति देनेवाली, (सुशेवा) उत्तम सेवा करनेवाली, (सुयमा) यम-नियमों का उत्तमविधि से पालन करनेवाली, (वीरसूः) वीर सन्तानें पैदा करनेवाली, (देवृकामा) देवरों की शुभ कामना करनेवाली, और (सुमनस्यमाना) सुप्रसन्न मन वाली तू हो। (त्वया) इन गुणों से युक्त तेरे संग द्वारा (सम्, एधिषीमहि) हम सब वृद्धि प्राप्त करें, बढ़ें।

[स्योना, स्योनम् सुखनाम (निघं० ३।६)। शग्मा=शं गमयति प्रापयति। सुशेवा=सु शेवृ (सेवने)। देवृकामा="तू देवर की कामना करती हुई, अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी...सदा हो (संस्कारविधि, महर्षि दयानन्द)]

पत्नी द्वारा अग्निहोत्र

८२. अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥१८॥

हे वधु! (इह) इस पतिगृह में तू (अदेवृघ्नी) देवरों को कष्ट न पहुंचाने वाली, (अपतिघ्नी) पति को कष्ट न पहुँचाने वाली, (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (शिवा) उन की सेवा करनेवाली या कल्याण करनेवाली (सुयमा) यम-नियमों का उत्तमविधि से पालन करनेवाली या गृह का उत्तम नियमन-प्रबन्ध करनेवाली, (सुवर्चाः) उत्तमतेज तथा शारीरिक कान्ति से युक्त, (प्रजावती) उत्तम-सन्तानों वाली, (वीरसूः) वीरसन्तानें पैदा करनेवाली, (देवृकामा) देवरों की शुभकामना करनेवाली, या नियोगार्थ देवर की कामना करनेवाली, (स्योना) तथा सब को सुख देनेवाली (एधि) बन। और (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहरक्षक (अग्निम्) गार्हपत्यनामक अग्नि की (सपर्य) सेवा किया कर।

[गार्हपत्यम्="गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः" (अष्टा० ४।४।९०) द्वारा गार्हपत्यशब्द संज्ञावाची है॥ गृहपति, विवाहानन्तर, गार्हपत्य-अग्नि की स्थापना घर में करता है। यह अग्नि गृह में सदा वर्तमान रहना चाहिये। इस अग्नि से अग्नि का उद्धरण कर, दैनिक अग्निहोत्र करना होता है। उद्धृत अग्नि को आहवनीय अग्नि कहते हैं। अग्नि-सपर्या के लिये देखो

(मन्त्र १४।२।२०, २१, २३, २४,२५)। यह अग्नि "रक्षांसि सर्वा" (१४।२।२४) अर्थात् सब प्रकार के रोगकीटाणुओं का हनन करती है। देवृकामा के स्थान में देवकामा (ऋ० १०।८५।४४)

व्याख्या—वधू को उपदेश—तूने देवरों और पति को मानसिक तथा शारीरिक कष्ट न पहुंचाना, पशुओं की सेवा और देखभाल में आलस्य न करना, गृहवासियों पर प्रेमपूर्वक शासन तथा यम-नियमों का पालन करना, गृहस्थधर्म का पालन करते हुए अपने शरीर की कान्ति और तेज को बनाए रखना, उत्तम और वीर सन्तानों वाली होना, सब को सुख देने वाली तथा अग्निहोत्र आदि यज्ञों के लिये गार्हपत्याग्नि को बनाए रखना।

आपत्तियों का निरसन

८३. उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥१९॥

हे पत्नी! (इतः) इस गार्हपत्याग्नि के स्थान से (उत्तिष्ठ) उठ, और सोचा कर कि (किम्) किस उद्देश्य की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इदम्) इस पतिगृह में (आ अगाः) तू आई है। (अहम्) मैं पति (त्वा) तेरी (ईडे) स्तुति करता हूं, तेरे सद्गुणों का कथन करता हूं। हे पत्नी! तू कहा कर कि (निर्ऋते) हे मूर्तिमयी आपत्ति! (स्वाद् गृहात्) अपने घर से (अहम्) मैं (त्वा) तुझे (अभिभूः) पराभूत करती हूं, निकाल देती हूं, (शून्यैषी) तू घर के जीवन को शून्य बना देने की एषणा वाली है, (या) जो (आजगन्थ) तू मेरे घर आई है वह तू (उत्तिष्ठ) यहां से उठ जा, (अराते) हे शत्रुरूप आपत्ति! (प्र पत) शीघ्र चली जा, (इह) इस घर में (मा) न (रंस्थाः) रमण कर।

[ईडे=ईड स्तुतौ। निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः, कष्टापत्तिः। यथा "निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः" (निरु० २।२।८)। आजगन्थ=आजगन्थ। अरातिः=अ+रा (दाने) दान का अभाव, कंजूसी आदि शत्रु। अदान सामाजिक जीवन का शत्रु है]

व्याख्या—पत्नी गार्हपत्य-अग्नि से अग्निहोत्र कर के सोचा करे कि वह किस उद्देश्य से पतिगृह में आई है, ताकि वह इस उद्देश्य के अनुसार अपने जीवन को ढाल सके। जो पत्नी अपने गृहस्थ जीवन के उद्देश्य को समझ

कर, तदनुसार व्यवहार करे, उस गुणवती देवी के सद्गुणों की प्रशंसा पति किया करे। पत्नी गृह्यकष्टों तथा आपत्तियों के निरसन के लिये निज उग्रभावनाओं को जागरित रखे।

अथवा—(निर्ऋते) हे मूर्त्तिमयी आपत्ति ! (इतः) इस घर से (उत्तिष्ठ) तू उठ जा, (किम्) क्या (इच्छन्ती) चाहती हुई इदम्) इस घर में (आ अगाः) तू आई है ?, (अभिभूः) पराभव करनेवाली (अहम्) मैं (स्वात् गृहात्) अपने घर से (त्वा) तुझे (इडे) निकाल देती हूं, (शून्यैषी) शून्यता चाहनेवाली, घर को शून्य अर्थात् सूना बना देनेवाली (या) जो तू (आजगन्थ) आ गई है (उत्तिष्ठ) वह तू उठ जा, (अराते) हे शत्रुरूपे ! (प्र प्रत) दौड़ जा, भाग जा, (इह) इस घर में (मा) न (रंस्थाः) तू रमण कर।

[ईडे=ईरे=ईर गतौ कम्पने च ईडे=ईले=ईरे। रलयोरभेद!, डलयोरभेदः]

भावार्थ - दैनिक अग्निहोत्र के पश्चात् पत्नी प्रतिदिन ऊपर लिखा संकल्प किया करे। अग्निहोत्र द्वारा रोगों और रोग के कारणों के निरसन के लिये प्रयत्न किया करे। मनुस्मृति के अनुसार निम्न प्रकार से विचार किया करे। यथा—

"ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् संध्योपासनमेव च ॥ (मनु० ४।९२)

अग्निहोत्र के पश्चात् नमस्कार

८४. यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥२०॥

(यदा) जब (इयम्) वह (वधू) वधू, (पूर्वम्) पहिले, (गार्हपत्यम्, अग्निम्) गार्हपत्याग्नि की (असपर्यैत्) परिचर्या कर चुके, अर्थात् अग्निहोत्र कर ले, (अधा) तदनन्तर (नारि) हे नारि ! हे वधु ! तू (सरस्वत्यै) वेदविद्या की अधिष्ठात्री पारमेश्वरी-शक्ति को, (च) और (पितृभ्यः) माता-पिता रूप सास, श्वशुर आदि वृद्धों को (नमस्कुरु) नमस्कार किया कर।

[असपर्यैत्=सपर्यति परिचरण कर्मा (निघं० ३।५) परिचर्या=सेवा। पितृभ्यः=मातरश्च पितरश्च (एकशेष) तेभ्यः)]

व्याख्या—अग्निहोत्र के पश्चात् वेदस्वाध्याय कर के, परमेश्वर को नमस्कार वधू करे, और घर के बुजुर्गों को भी नमस्कार किया करे।

प्रसूतिगृह में दैनिक अग्निहोत्र

८५. शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥२१॥

(एतत्)[1] इस (शर्म) सुखदायक और (वर्म) कवचरूप गार्हपत्याग्नि को, (अस्यै=अस्याः, नार्याः) इस नारी के (उपस्तरे) बिस्तरे के समीप (आ हर) हे पति ! तू ला। (सिनीवालि) हे अन्नवाली तथा सुन्दर केशों वाली ! तुझ से (प्रजायताम्) सन्तान उत्पन्न हो, जोकि (भगस्य) भगों से सम्पन्न तेरे पति की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे।

[उपस्तरे=बिस्तरे के समीप यथा "उपद्यवि" (६।४९।३), अर्थात् द्युलोक के समीप]

व्याख्या—प्रसूतिकाल में गर्भवती ऐसे कमरे में रहे जिस में कि गार्हपत्याग्नि हो, और उस में दैनिक अग्निहोत्र होता रहे। यह अग्नि आसन्नप्रसवा वधू के बिस्तरे के समीप रहे। यह अग्नि सुखदायक है, और स्वास्थ्य तथा आरोग्य देती है (शर्म)। यह अग्नि आसन्न प्रसवा के लिए मानो कवच है। (वर्म) इस कवच के रहते आसन्नप्रसवा पर रोगों के बाण प्रहार नहीं होते। मन्त्र के उत्तरार्ध भाग का भाव, अथर्व० १४।२।१५ में देखो। मन्त्र में केवल यह दर्शाया है कि सन्तानोत्पत्तिकाल के निकट, प्रसूतिकर्म के हेतु, क्या करना चाहिये।

प्रसूतिकाल का बिछौना

८६. यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥२२॥

(यम्) जिस (बल्बजम्) बल्बज-घास को (न्यस्यथ) तुम नीचे भूमि पर बिछाते हो, (चर्म च) और मृगादि के चर्म को (उपस्तृणीथन) उस

1. शर्म और वर्म नपुंसक लिङ्गी हैं, इस दृष्टि से "एतत्" शब्द नपुंसकलिङ्गी पठित है। अर्थात् "तत् शर्म, वर्म"।

बल्वज पर बिछाते हो (तत्) उस पर (सुप्रजाः) उत्तम-प्रजा उत्पन्न करने वाली पत्नी (आ रोहतु) आरूढ़ हो, (या) जो (कन्या) कमनीया पत्नी (पतिम्) पति को (विन्दते) प्राप्त करती है ।

[बल्बजम्=*Eleusine indiea*. । चरक में प्रसूतिगृह में बल्वज के बिछाने का विधान है (चरक, शरीरस्थान, अध्याय ८) । प्रसवपीड़ा के समय, चरक में, भूमि पर शयन का विधान है । यथा '**आवी प्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यात्, मृद्वास्तरणोपय नम्** । आवी=प्रसववेदना (शरीर स्थान, अध्याय ८) । मृद्वास्तरण=मृदु+आस्तरण ।

चरक में प्रसूतिगृह का निम्नरूप में वर्णन हुआ है । '**प्राक् चैवा या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत्** । ......**प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ, प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा । तत्र बिल्वानां काष्ठानां,तिन्दुकेङ्गुदकानां भल्लातकानां वारणानां खदिराणां वा यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेद विदः । ...तिन्दुकेङ्गुदानि च काष्ठानि अग्निसंधुक्षणानि** ॥ (चरक शरीरस्थान, अध्याय ८) । अर्थात् प्रसूतिगृह के लिए पहिले से हो सूतिकागृह तय्यार करवा रखना चाहिये । सुन्दर दृश्यों वाली, रसीले वृक्षों वाली, तथा फूलों के गन्धों से सुगन्धित भूमि में, सूतिकागृह बनवाना चाहिये । इस का द्वार पूर्व या उत्तर की ओर हो । अग्निहोत्र के लिए इस में बेल, तेंदु' गोंदी, भिलावा, वरणा या खैर की समिधायें होनी चाहियें, तथा इस में वह सब सामान भी होना चाहिये जिसे कि अथर्ववेद के विद्वान् कहें । उपस्तृणीथन तथा उपस्तरे (अथर्व० १४।२।२१) का एक ही अभिप्राय है]

प्रसूतिकाल में अग्निहोत्र

८७. उप॑ स्तृणीहि बल्व॒जमधि॒ चर्म॑णि॒ रोहि॑ते ।
तत्रो॑प॒विश्य॑ सुप्र॒जा इ॒मम॒ग्निं स॑पर्यतु ॥२३॥

(बल्बजम्) बल्वज घास को (उपस्तृणीहि) भूमि पर बिछा, (तत्र) उस पर (अधि रोहिते चर्मणि) अध्यारूढ़ किये चर्म पर (सुप्रजाः) उत्तम-सन्तान को जन्म देने वाली पत्नी (उपविश्य) बैठकर, (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि की (सपर्यतु) सेवा करे, अर्थात् इस अग्नि में अग्निहोत्र करे, या उस में प्रसूतिकाल में दी जाने वाली आहुतियां दे ।

[अधि रोहिते=अधि+रोह+इतच् (तारकादित्वात् अष्टा०) । कई मन्त्र का अर्थ करते हैं कि "लाल चर्म पर बल्वज-घास को बिछा कर, उस पर बैठ कर, पत्नी अग्नि की सेवा करे" । यह अर्थ मन्त्र २२ के अर्थ के विपरीत है, तथा मन्त्र २४ में भी चर्म पर ही आरोहण का विधान है, बल्वज पर नहीं । चरक में भी चर्म पर ही बैठ कर इष्टि का विधान किया है । यथा "**तां पश्चिमे, अनाहतवस्त्रसंचये श्वेतर्षभो वाप्यजिन उपविशेत् ब्राह्मणप्रयुक्तः ॥ राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा । वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे बास्ते वा । तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय...काम्यामिष्टिं निर्वपेत्** ॥ (चरक, शारीरस्थान, अध्याय ८) अर्थात् उस वेदि के पश्चिम में एक नया वस्त्र बिछा कर, उस पर सुफेद बैल या मृग का चर्म बिछा कर बैठे । यह विधि ब्राह्मण के घर की है । क्षत्रिय के घर में व्याघ्र या बैल का चर्म बिछाए । वैश्य के घर में रुरु-मृग या बकरे का चर्म बिछाए । वहां बैठ कर ढाक, गोंदी, गूलर या माधुकी की समिधाओं में अग्निस्थापन कर काम्येष्टि का सम्पादन करे । इस उद्धरण में भी चर्म पर बैठने का विधान है, आवृत चर्म पर नहीं । **उपस्तृणीहि तथा उपस्तरे** (१४।२।२१) समानाभिप्राय हैं]

प्रसूतिकाल में अग्निहोत्र से लाभ

८८. आ रो॑ह॒ चर्मोप॑ सीदा॒ग्निमे॒ष दे॒वो ह॑न्ति॒ रक्षां॑सि॒ सर्वा॑ ।
इ॒ह प्र॒जां ज॑नय॒ पत्यै॑ अ॒स्मै सु॑ज्यै॒ष्ठ्यो भ॑वत् पु॒त्रस्त॑ ए॒षः ॥२४॥

हे पत्नी ! (चर्म) चर्म पर (आरोह) तू आरोहण कर, चढ़ । (अग्निम्) अग्नि के (उप, सीद) समीप बैठ । (एष) यह (देवः) द्योतमान अग्निः (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसों अर्थात् रोगों और रोगकृमियों का (हन्ति) हनन करती है । (इह) यहां पर (अस्मै, पत्ये) इस पति[२] के लिये (प्रजाम्)

---

१. अथवा मन्त्रार्थ निम्नलिखित है:—

"बल्वज घास को भूमि पर बिछा, (तत्र) उस पर [बिछाए] [रोहिते चर्मणि अधि] लाल या रोहित नाम वाले मृग पर (उपविश्य) बैठ कर,—शेष पूर्ववत् ।

२. मन्त्रों में प्रायः यही वर्णन मिलता है कि तू पति के लिये सन्तानोत्पन्न

सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर। (ते) तेरा (एषः) यह (पुत्रः) पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) बड़ी आयु वाला, उत्तम तथा महान् (भवत्) हो।

[देवः=द्योतनाद् वा दीपनाद् वा (निरु० ७।४।१५)। मन्त्र में निरावृत चर्म पर बैठने का विधान है, आवृत चर्म पर नहीं]।

सन्तानें जन्म से पशुवत् होती हैं

८९. वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं सं पत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥२५॥

(अस्याः) इस (मातुः) माता के (उपस्थात्) गर्भ से (जायमानाः) जन्म धारण करते हुए (नानारूपाः) नानागुणों और आकृतियों वाले (पशवः) पशुतुल्य सन्तानें, (वि तिष्ठन्ताम्) विविध स्थितियों को प्राप्त करें। (सुमङ्गली) उत्तम-मङ्गल वाली तू हे वधु! (इमम्) इस (अग्निम्) यज्ञाग्नि के (उप सीद) समीप तू बैठा कर, और (सं पत्नी) पति के साथ मिल कर (इह) इस घर में (देवान्) वायु आदि देवों को, देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र द्वारा (प्रतिभूष) सुगन्धि से अलंकृत किया कर।

व्याख्या—उत्पत्ति काल में सन्तानें पशुसदृश ही होती है। सद्गुणों के प्रकट होने पर और मननशील होने पर वे वस्तुतः मनुष्य होती हैं। तभी कहा है कि "**जन्मना जायते शूद्रः**"। अथर्व० ११।२।९ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" इसमें पुरुषों को पशु कहा है। सद्गुणों से रहित, केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन वाले पुरुष पशु सदृश ही हैं। जन्मना पुरुष सन्तानों को पशु कहते हुए वेद ने जन्मजात वर्णव्यवस्था को अमाननीय ठहराया है। उत्पत्ति के समय बीजरूप अर्थात् अव्यक्तरूप में सन्तानें भिन्न-२ गुणों से सम्पन्न रहती हैं, जिनकी कि अभिव्यक्ति, सत्संगों तथा शिक्षा द्वारा शनैः शनैः होती है, और सन्तानें अपने अपने पेशों तथा कामधन्धों द्वारा विविध स्थितियों को प्राप्त करती हैं।

कर। इस से सन्तानों पर पिता का ही अधिकार प्रतीत होता है। जो माता लगभग १० महीनों तक गर्भ धारण करने, उस के जनने, तथा पालन-पोषण में कष्ट सहती है उसे सन्तान पर अधिकार से क्यों वञ्चित रखा है,—यह विचारणीय है।

पत्नी निज व्यवहारों तथा कर्तव्यों द्वारा अपने आप को मङ्गलमयी बनाए, किसी भी अमङ्गल भावना को मन में न आने दे, और न कोई अमङ्गल काम करे। जिस गुण की सन्तान चाहे उसी सद्गुण का वह चिन्तन और मनन करती रहे।

पति के साथ मिल कर पत्नी दैनिक अग्निहोत्र द्वारा घर के वायुमण्डल को सुगन्धित किया करे।

पत्नी गृहस्थ-सागर की नौका है

९०. सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥२६॥

(सु मङ्गली) उत्तम-मङ्गलमयी, (गृहाणाम्) गृहवासियों के लिए गृहस्थ सागर की (प्रतरणी) प्रकृष्ट नौकारूप, (पत्ये) पति के लिए (सुशेवा) उत्तम सेवा करने वाली तथा उत्तम-सुख देने वाली, (श्वशुराय) श्वशुर के लिए (शम्भूः) शान्ति पैदा करने वाली, (श्वश्र्वै) सास के लिए (स्योना) सुखस्वरूपा तू हे पत्नी! (इमान्) इन (गृहान्) घरों में (प्रविश) प्रवेश पा।

(सुशेवा=सु+शेवृ (सेवने), तथा शेवम् सुखनाम (निघं० ३।६)। स्योना सुखनाम (निघं० ३/६)। प्रतरणी=प्र+तरणी (नौका); Boat (आप्टे)] गृहस्थ-सागर से सुख पूर्वक पार उतरने के लिए सुशीला पत्नी नौका रूप है। उत्तम नौका द्वारा समुद्र या नदी-नद पार किया जा सकता है, इसी प्रकार गुणवती पत्नी के सहारे गृहस्थ-जीवन को सुख से निभाया जा सकता है।

पत्नी सुखमयी-मूर्ति बने

९१. स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥२७॥

हे वधु! (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरों के लिए (स्योना) सुखस्वरूपा (भव) तू हो, (पत्ये) पति के लिए, (गृहेभ्यः) और अन्य गृहवासियों के लिए (स्योना) तू सुखस्वरूपा हो। (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के

लिए (स्योना) सुखस्वरूपा हो (स्योना) सुखस्वरूपा तू (एषाम्) इन सब को (पुष्टाय) पुष्टि के लिए (भव) हो।

[श्वशुरेभ्यः=पति का पिता, चाचा, ताऊ,—ये सब वधू के श्वशुर हैं]

व्याख्या—पति के अन्य गृहवासियों के, तथा भृत्य, पशु आदि के सुखों तथा पुष्टि की चिन्ता पत्नी को सदा करनी चाहिये। मनुष्य समाज तथा समग्र प्रजा के लिए पत्नी को सुखमयी होना चाहिये। पत्नी के उदार तथा विशाल हृदय के बिना अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ तथा भूतयज्ञ आदि गृह्यकर्मों का पालन सम्भव नहीं। प्राणि-मात्र के प्रति ऐसी उदार भावनाएँ प्रत्येक गृहस्थ की प्रत्येक गृहिणी के हृदय में होनी चाहिये।

वधूदर्शन और आशीर्वाद

९२. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥२८॥

(सुमङ्गली:) उत्तम-मङ्गल वाली (इयम्) यह (वधूः) वधू है। (समेत) हे सद्गृहस्थो ! तुम मिल कर आओ, (इमाम्) इस वधू को (पश्यत) देखो। (अस्यै) इसे (सौभाग्यम्) सौभाग्य का आशीर्वाद (दत्त्वा) दे कर, (दौर्भाग्यैः) और दौर्भाग्यों से (वि) वियुक्त कर के (परेतन) परे चलते जाओ।

भावार्थ—विवाह में उपस्थित सज्जनों के प्रति कहा है कि आप इस वधू को देखिये, और इसे सौभाग्यों की प्राप्ति और दौर्भाग्यों से रहित होने के आशीर्वाद, क्रम से, देकर निज स्थानों पर जाइये।

स्त्रियों द्वारा विशेष आशीर्वाद

९३. या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥२९॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) प्रतिकूल हृदयों वाली (युवतयः) युवा-स्त्रियां, (च) और (याः) जो (जरतीः) बूढ़ी स्त्रियां (अपि) भी (इह) यहां उपस्थित हैं, वे तुम सब (अस्यै) इस वधू के लिए (वर्चः) वर्चस्विनी बनी रहने का (नु) अवश्य (संदत्त) मिलकर आशीर्वाद देओ (अथ) तदनन्तर (अस्तम्) अपने अपने घरों को (वि परेतन) लौटो।

[युवतयः=युवतियों में ईर्ष्या की सम्भावना ऐसे शुभ अवसरों पर हो सकती है। उन्हें भी आशीर्वाद ही देने के लिए प्रेरणा दी गई है]

सूर्या का पालकी में आरोहण

९४. रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥३०॥

(रुक्मप्रस्तरणम्) सुवर्ण की नक्काशी से युक्त गद्दी वाली, (विश्वा) तथा विविध (रूपाणि) रूपों को (बिभ्रतम्) धारण की हुई (वह्यम्) पालकी पर, (सावित्री) जीवित पिता वाली (सूर्या) सूर्या-ब्रह्मचारिणी, (बृहते, सौभगाय) बड़े सौभाग्य के लिए, (कम्) सानन्द (आरोहत्) चढ़ी है।

[रुक्मप्रस्तरणम्=(मन्त्र १४।१।६१)। वह्यम्=रथ या पालकी। सविता=पिता (मन्त्र १४।१।६, १३)। सावित्री=सविता की पुत्री। कम्=सुखनाम (निघं० ३।६)]

सुबोध तथा आत्मशक्ति सम्पन्ना वधू

९५. आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥३१॥

हे वधु ! (सुमनस्यमाना) सुप्रसन्नचित्त वाली तू (तल्पम्) पलङ्ग पर (आ रोह) चढ़, (इह) यहां अर्थात् इस गृहस्थाश्रम में (अस्मै, पत्ये) इस पति के लिए (प्रजाम्, जनय) प्रजा को उत्पन्न कर। (इन्द्राणीव) आत्म-शक्ति सम्पन्न पुरुष की पत्नी के सदृश (सुबुधा)[1] सुबोधयुक्ता तू (बुध्यमाना)[1] और भी बोध को प्राप्त करती हुई, (ज्योतिरग्राः) अग्रभाग में ज्योति वाली (उषसः प्रति) उषाओं के कालों में (जागरासि) तू अपने कर्तव्यों में जागरूक रह।

[इन्द्राणी=इन्द्र अर्थात् जीवात्मा इसीलिये जीवात्मा के साधनों को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्राणी=आत्मशक्तिसम्पन्न पुरुष की पत्नी]।

---

१. अथवा सुबुध् पति द्वारा बोध प्राप्त करती हुई। सुबुध्=सु+बुध् (क्विप्)+टा ॥

व्याख्या—वधू के प्रति मन्त्र में निम्नलिखित उपदेश दिये गए हैं। (१) दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो कर, रात्रि के समय तू जब शयन के लिए चारपाई पर जाया करे तब प्रसन्नचित्त हो कर चारपाई पर आरोहण किया कर। सोने से पूर्व चित्त अवश्य प्रसन्न होना चाहिये। इस से निद्रा शीघ्र आ जाती तथा गाढ़-निद्रा आती है। साथ ही इन्द्रियों और शरीर की शिथिलता भी दूर हो जाती है।

वधू से यह भी कहा है कि ब्रह्मचर्य काल में यद्यपि तू ने उच्चकोटि की शिक्षा पाई है, तो भी गृहस्थ जीवन में और भी ज्ञान की प्राप्ति करते रहना। तथा ब्राह्ममुहूर्त में ही जाग कर गृहस्थ के कर्मों के करने में सावधान रहना। इस सात्विक समय में सुस्ती, निद्रा तथा आलस्य न करना।

गृहस्थ-जीवन शिष्टसम्मत है

९६. देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तुन्वस्तुनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥३२॥

(देवाः) देव लोग (अग्रे) पूर्व-काल से (पत्नीः) पत्नियों को (नि, अपद्यन्त) प्राप्त करते रहे हैं, (तन्वः) और शरीरों का (तनूभिः) शरीरों के साथ (सम्) विधिपूर्वक (अस्पृशन्त) स्पर्श करते रहे हैं। (नारि) हे नारि ! (महित्वा) अपनी महिमा के कारण (सूर्या इव) आदर्श सूर्या-ब्रह्मचारिणी के सदृश (विश्वरूपा) समस्त गुणों से सुभूषित तू (प्रजावती) उत्तम-सन्तानों से सम्पन्न होने वाली, (इह) इस गृह में (पत्या) पति के साथ (संभव) मिल, या सम्यक्-भूति को प्राप्त कर।

व्याख्या—गृहस्थ-धर्म के कृत्य पवित्र हैं, लज्जा के विषय नहीं,—इस सिद्धान्त को हृदयङ्गत कराने के लिये, पुरावाद के रूप में कहा है कि देव अर्थात् उच्चकोटि के विद्वान् भी विवाह करते रहे हैं, और गृहस्थ-धर्म के कृत्यों को करते रहे हैं। अतः इन कृत्यों को अपवित्र न समझना चाहिये।

गृहस्थ-धर्म में मूल प्रेरक भाव होना चाहिये "प्रजा सम्बन्धी इच्छा"। प्रजा की उत्पत्ति गौणरूप, और "भोगेच्छा" मुख्य उद्देश्य न होना चाहिये। अर्थात् सन्तानें भोगेच्छा का आनुषङ्गिक परिणामरूप न होनी चाहियें।

गृहस्थ में प्रवेश करते समय प्रत्येक वधू के संमुख सूर्या अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी का आदर्श होना चाहिये। छोटी उम्र और अल्पविद्या के होते विवाह आदर्शरूप नहीं है। अतः मन्त्र में "सूर्येव विश्वरूपा" कहा है। सूर्या से अभिप्राय सौर-ज्योति का भी है। सूर्य की ज्योति जैसे विश्वरूपा है, विश्व को रूपित अर्थात् प्रकाशित करती है, इसी प्रकार विदुषी और सद्गुणों से सम्पन्न वधू को भी ज्ञान-प्रकाश फैलाने वाली बनना चाहिये।

पति का कर्मिष्ठ होना और पति-पत्नी "एक शरीररूप"

९७. उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥

(विश्वावसो) सब प्रकार की गृह्यसम्पत्ति वाले हे वर ! (इतः) इस नैष्कर्मण्यावस्था से (उत्तिष्ठ) तू उठ, इस का परित्याग कर, (नमसा) नमस्कारादि द्वारा मानपूर्वक (त्वा) तेरी (ईडामहे) स्तुति, प्रशंसा हम करते हैं। (पितृषदम्) सास-श्वसुररूपी माता-पिता में स्थिति प्राप्त की हुई, (न्यक्ताम्) नितरां कर्मशीला (जामिम्) जाया को (इच्छ) प्रीतिपूर्वक चाह। (जनुषा) सन्तान जनन के कारण अर्थात् पत्नीरूप होने के कारण (सः) वह पत्नीजन (ते) तेरा (भागः) अंशरूप है, अर्धाङ्गरूप है। (तस्य) उसे (विद्धि) तू जान।

[विश्वावसो=विश्व (सब प्रकार की)+वसो (सम्पत्ति वाले !)। वसु=सम्पत्ति। जामिम्=जामिः कुलस्त्री वा (उणा० ४।४४, महर्षि दयानन्द)। जनुषा—जनुष् जननम् (उणा० २।११७, महर्षि दयानन्द)। जनुषा और जामिम्—इस दोनों के सह प्रयोग से अनुमान होता है कि सम्भवतः जामि पद में "जन्" धातु ही हो। इतः उत्तिष्ठ=सब प्रकार की गृह्य सम्पत्ति के होते पति की नैष्कर्मण्यावस्था सम्भावित है। अतः उसे, इसे त्यागने के लिये कहा है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते", तथा "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"। न्यक्ताम्=नि (नितराम्+अक्ताम् (अञ्जु गतौ)=नितरां क्रियाशीलाम्=कर्मशीलाम्]

तथा

हे विश्ववासिन् ! हे समग्रसम्पत्तियों के स्वामिन् ! हे समग्र ८ वसुओं के अधीश्वर ! (नमसा) नमस्कारपूर्वक, विनयपूर्वक (त्वा) तुझ से (ईडामहे)

हम याचना अर्थात् प्रार्थना करते हैं कि (इतः) इन हमारे हृदयस्थलों से (उत्तिष्ठ) तू उत्थान कर, प्रकट हो, तथा सास-श्वसुर रूपी माता-पिता में स्थित हुई, नितरां कर्मशीला कुलवधू की [समुन्नति की] (इच्छ) इच्छा कर। (जनुषा) जब से प्राणि सृष्टि हुई है तब से (सः) वह अर्थात् समुन्नति को चाहना (ते) हे जगदीश्वर ! तेरा (भागः) स्वाभाविक धर्म रहा है, (तस्य) उसे (विद्धि) तू जान।

[विश्वावसो=हे समग्र वसुओं के अधीश्वर ! ८ वसु=अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, चन्द्रमा-नक्षत्र, सूर्य-द्युलोक। ईडामहे=ईडिः अध्येषणाकर्मा, याचनाकर्मा, (निरुक्त ७।४।१५)]

जगद्-व्यापी पति-पत्नी भाव

९८. अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥

(हविर्धानम्) भक्षणीय पदार्थों की निधिरूप पृथिवी (च) और (सूर्यम्) सूर्य के (अन्तरा) अन्तराल में, (अप्सरसः) नानारूपों वाली, जल तथा अन्तरिक्ष में सरण करने वाली प्राकृतिक शक्तियां, (सधमादम्) परमेश्वर के साथ आनन्द में (मदन्ति) मानो आनन्दित हो रही हैं। (ताः) वे शक्तियां हे परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (जनित्रम्) जनि अर्थात् पत्नीरूप में जगत् के त्राण अर्थात् पालन का साधन है। (ताः अभि) उन की ओर हे परमेश्वर ! (परे हि) तू जा। (गन्धर्व) हे गोरूप-जगत् का धारण करने वाले ! (ऋतुना) ऋतु २ के अनुसार (नमः) तुझे नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं।

[अप्सरसः="अप्सरा अप्सराणी; अपि वाऽप्स इति रूपनाम—तद्रा भवति, रूपवती" (निरु० ५।३।१३)। अर्थात् अप्सरा है अप अर्थात् अन्तरिक्ष में और जल में सरण करने वाली, विचरने वाली; तथा रूपवती प्राकृतिक शक्तियां। अन्तरिक्ष में विचरने वाली विद्युत्, उषा, चन्द्रज्योत्स्ना, मानसून वायु तथा अन्य मेघ और वर्षा-आदि अप्सरायें हैं, **"आपः अन्तरिक्ष नाम"** (निघं० १।३)। तथा जल में विचरने वाली वर्षा काल की शोभा, मेघीय, आकृतियों तथा रूप-रंगों, नदियों, झरनों, जलप्रपातों तथा समुद्र की शोभाएँ,—आदि भी अप्सरायें हैं। ये प्राकृतिक शक्तियां परमेश्वर की सजनी हुई २ शोभा को प्राप्त हैं, मानो परमेश्वर के संग रहती हुई आनन्द सा अनुभव कर रही हैं।

गन्धर्व=गो (गति वाला विश्व; यथा **"विश्वं गोरूपम्"**, अथर्व० ९।७।२५; १९।४९।८)+धृञ् (धारणे)। अर्थात् गतियुक्त-तथा-गोरूपी विश्व का धारक परमेश्वर। ऋतुना=भिन्न भिन्न ऋतु में प्राकृतिक शक्तियों के स्वरूपों में भी भेद आ जाता है। वे भेद भी परमेश्वरकृत होते हैं। उनके आधार पर परमेश्वर के प्रति स्तुतिपूर्वक नमस्कार करना]।

व्याख्या—मन्त्र में परमेश्वर को जगत्-गृहस्थ का गृहस्थी दर्शाया है, और अप्सराओं अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों को परमेश्वर की पत्नीरूप दर्शाया है जिन द्वारा कि वह जगदुत्पत्ति तथा जगत् का त्राण कर रहा है। **"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"** (यजु० ३१।२२) में, जगत् की शोभा और सम्पत्ति को स्पष्टरूप में परमेश्वर-पुरुष की पत्नियां कहा है। तथा अथर्व० ११।८।१७ के **"वधूः सती। ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्"** मन्त्र में ईशा अर्थात् अधीश्वरी शक्ति को, जगत् के वशीयता की, वधू तथा जाया है। उस जाया ने इस अस्मदादि जगत् या पुरुष में नानावर्ण भरे हैं। इस प्रकार मन्त्र ३४ में गृहस्थ की उपादेयता दर्शाई है, (१४।२।३२)।

गर्भाधान के समय ईश्वर को नमस्कार

९९. नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि ॥३५॥

(गन्धर्वस्य) जगद्धारक परमेश्वर के (नमसे) नत होने, झुकने के लिए (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं, (भामाय) उस की ज्योति के लिए (नमः) नमस्कार (च) तथा (चक्षुषे) जगत् के निरीक्षण या कृपादृष्टि के लिए (नमः) नमस्कार, करते हैं। (विश्वावसो) हे विश्व में बसे हुए ! (ब्रह्मणा) वेद के मन्त्रों द्वारा (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार हो, (जायाः) जायारूप (अप्सरसः) अपनी प्राकृतिक शक्तियों की ओर (परेहि) तू गमन करता रह।

[नमसे=नम प्रह्वत्वे। प्रह्वत्व का अर्थ है झुकना, अनुकूल होना।

प्रलयावस्था के अनन्तर जगदुत्पत्ति के प्रति परमेश्वर का झुकाव, अनुकूलता । "जायाः परेहि" द्वारा सृष्टयारम्भ में जाया के प्रति परमेश्वर के गमन का कथम सूचित किया है । जायाः से अभिप्राय प्रकृति की उत्पादन शक्तियों से है ।

भामाय=भाम=प्रभा=ज्योतिः । सृष्टि की विराट्—अवस्था में परमेश्वर की ही ज्योति सृष्टि में चमकती है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ।

चक्षुषे=परमेश्वर को "सहस्राक्ष" कहा है (यजु० ३१।१), क्योंकि यह जगत् के हजारों अर्थात् असंख्य पदार्थों का निरीक्षण कर रहा होता है, और सब जीवों को कर्मानुसार फल देकर, उन के सुधार के लिए, उन पर कृपादृष्टि किये रहता है । इस भाव को "अनुग्रहः सर्गः" (तत्त्वसमास संख्या सूत्र १७) द्वारा परमेश्वर की अनुग्रह दृष्टि का वर्णन हुआ है । इसी भावना को "स प्रजाभ्यो वि पश्यति"[1] (अथर्व० १३।१४।१।१३१) तथा "स सर्वस्मै वि पश्यति"[1] (अथर्व० ३१।१४।२।१६) द्वारा प्रकट किया है ।

गर्भाधान के समय पति-पत्नी, सात्विक भावनाओं के जागरण के निमित्त, भोगेच्छा से रहित, जगदुत्पत्ति में परमेश्वर के सात्विक कर्म का स्मरण करते हैं । इसीलिये मन्त्र में "जाया परेहि" का वर्णन हुआ है ।

गृहस्थ को परम-सधस्थ बनाना

१००. राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥३६॥

(राया) धन द्वारा (वयम्) हम (सुमनसः) प्रसन्न चित्त तथा अन्यों को प्रसन्नचित्त करने वाले (स्याम) हों, (इतः) इस विधि से (उद्) उत्कृष्ट हो कर, (गन्धर्वम्) जगद्धारक परमेश्वर को (आवीवृताम) अपनी ओर हम ने आवर्तित किया है, आकृष्ट किया है । (सः) वह (देवः) दाता (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (सधस्थम्) "सहस्थिति" वाले जगत्-गृहस्थ को (अगन्) प्राप्त

१. "वह परमेश्वर प्रजाओं [की रक्षा] के लिये देखता है", तथा "वह परमेश्वर सब [की रक्षा] के लिये देखता है", अर्थात् संसार की देख-भाल कर रहा है ।

है । (यत्र) जिस गृहस्थ में (आयुः) आयु (प्रतिरन्ते) बढ़ा लेते हैं उसे (अगन्म) हम गृहस्थी भी प्राप्त हुए हैं ।

[राया=रै+तृतीया विभक्ति का एकवचन । रै=रा (दाने) । धन का नाम "रै" है, चूंकि धन का सदुपयोग है दान करना, नकि केवल स्वार्थ-साधन । दान द्वारा सब के मनों को सुखी तथा प्रसन्न करने का उपदेश मन्त्र द्वारा दिया है ।

सात्विक दान से मानुषजीवन उत्कृष्ट बन जाता है, और इस प्रकार जगद्धारक परमेश्वर, दाता के प्रति आकृष्ट हो जाता है । दान देने से जीवन स्वर्ग का रूप धारण करता है । यथा "दातुं चेत् शिक्षान्त्स स्वर्ग एव" (अथर्व० ६।१२२।२), अर्थात् यदि मनुष्य दान देने में सशक्त हो, तो उसका जीवन स्वर्ग रूप ही है ।

परमेश्वर देव है, दानी है "देवो दानाद्" (निरु० ७।४।१५) उसका दिया संसार महादानरूप है । परमेश्वर महागृहस्थी है (मन्त्र १४।२।३५) । यह जगत् उस का सर्वोत्कृष्ट महागृहस्थ है, जिसमें परमेश्वर बिना स्वार्थ के महादान कर रहा है । परमेश्वर के उदाहरण को संमुख रख कर, हम दानी-गृहस्थी बन कर, निज आयु को बढ़ाएं । सात्विक तथा सुखी गृहस्थ-जीवन आयु को बढ़ाता है । सधस्थ=सहस्थं; अर्थात् परस्पर साथ रहने का स्थान सूर्यासूक्त विवाह परक है । अतः इस में "सधस्थ" है गृहस्थ, जिस में कि गृहवासी साथ-साथ मिलकर रहते हैं । परमेश्वर का "सधस्थ" है,— ब्रह्माण्ड अर्थात् समग्र संसार, जिसमें कि परमेश्वर अपने गृहवासियों अर्थात् सूर्य, चान्द, असंख्य तारागणों आदि के साथ निवास कर रहा है । यथा "यस्य ते उपरि गृहा[1] यस्य वेह" (यजु० १८।४४); वेह=वा(च)+इह (भूमौ) ।

पत्नी के ऋतुकाल में संसर्ग

१०१. सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥३७॥

हे होने वाली सन्तान के (पितरौ) माता-पिता ! तुम दोनों (ऋत्विये) ऋतु-कर्म के निमित्त (सं सृजेथाम्) संसर्ग करो, और (रेतसः) रेतस् से

१. तेरे ऊपर भी [द्युलोक में भी] घर हैं, और यहाँ भूमि पर भी ।

उत्पन्न होने वाली सन्तान के (माता, पिता, च) माता और पिता (भवाथ:) होओ। (मर्य इव) जैसे सर्वसाधारण पति (योषाम्) निज पत्नी को, वैसे हे आदित्य-ब्रह्मचारिन् ! तू (एनाम्) इस सूर्या-ब्रह्मचारिणी को (अधि रोहय) तल्प पर [१४।२।३१] या चर्म पर [१४।२।२४] चढ़ा, (प्रजाम्, कृण्वाथाम्) सन्तान उत्पन्न करो, (इह) और इस गृहस्थ में रहते हुए (रयिम्) धन तथा शारीरिक सम्पत्ति को (पुष्यतम्) परिपुष्ट करते रहो।

[पितरौ=माता च पिता च, एकशेष। रेतस: षष्ठ्येकवचन=सन्तान के। कार्य में कारण शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा "अन्नं वै प्राणिनां प्राण:"; अन्न कारण है और प्राण कार्य है, परन्तु अन्न को प्राण कहा है]

व्याख्या—पत्नी ऋतुदर्शन पर, ऋतुकर्म के निमित्त, पति-पत्नी को परस्पर संसर्ग करना चाहिये, अन्यथा नहीं।

पति-पत्नी को चाहिये कि वे माता-पिता बनने के लिये परस्पर संसर्ग करें, केवल भोगेच्छा के लिये नहीं।

सन्तानोत्पादन के लिये ही रेतस् का उपयोग होना चाहिये। उत्पादनेच्छा न होते रेतस् की परिपुष्टि करते रहना चाहिये, इसका दुरुपयोग न करना चाहिये। इस से शारीरिक पुष्टि भी होती है।

जननी, पृथिवी का रूप है

१०२. तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥३८॥

(पूषन्) हे परिपुष्ट पति ! (शिवतमाम्) शिवस्वरूपा कल्याणमयी (ताम्) उस पृथिवीरूपा जनित्री शक्ति को (एरयस्व) तू प्रेरित कर, (यस्याम्) जिस में कि (मनुष्या:) पुरुष (बीजम्) बीज (वपन्ति) बोते हैं (या) जो (उशती) कामना वाली (न:) हमारे लिये (ऊरू) जांघों को (विश्रयाति) खोल देती है (उशन्त:) और कामना वाले हम पुरुष (यस्याम्) जिस में (शेप:) पुरुषेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहार करें।

[पूषन्=परिपुष्टपति (अथर्व० १४।१।१५,३९), पति परिपुष्ट होना चाहिये। निर्बल की सन्तानें निर्बल होती हैं। वीर्यग्रहण के लिये पत्नी को शिवस्वरूपा होना चाहिये, उसे, शिवसंकल्पों तथा शिवकर्मों की

मूर्ति होना चाहिये। इस से सन्तानें भी शिवसंकल्पों तथा शिवकर्मों वाली हो सकेंगी। सन्तान-कर्म के लिये पत्नी की कामना आवश्यक है, पत्नी पर जबर्दस्ती नहीं चाहिये। सम्भोग एक ही की कामना का परिणाम न होना चाहिये। दूसरे साथी की कामना के बिना किया भोग बलात्कार है। "प्रहरेम" द्वारा प्रजननोपयोगी पुरुषेन्द्रिय की कठोरता को सूचित किया है जोकि जननेन्द्रियशास्त्र (Eugenics) के अनुकूल है। मन्त्र में स्त्री को पृथिवी तथा पौरुषशक्ति को बीज कहा है। पृथिवी में बीजाधान, कोई भी किसान, बिना प्रयोजन के नहीं करता। अपितु बीज की उत्तमता, और पृथिवी की उपजाऊ शक्ति, तथा ऋतु को दृष्टिगत कर के ही किसान बीजावाप करता है। गृहस्थधर्म में भी इन परिस्थितियों का विचार अवश्य अपेक्षित है।

"यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति" का अर्थ है "जिस में मनुष्य बीज बोते हैं"। बीज बोने के वर्णन से यह अभिप्राय है कि जिस पृथिवी में किसान लोग बीज बोते हैं। परन्तु विवाह प्रकरण में यह अभिप्राय है कि जिस पृथिवी सदृश जनित्री-शक्ति में पतिलोग बीज बोते हैं। "यस्याम्" द्वारा मन्त्र में कोई एक विशेष नारी अभिप्रेत नहीं, जिस से कि एक नारी के बहुपति होने की आशंका हो सके। मन्त्र १४।२।१४ में नारी को "उर्वरा" कहा है। उर्वरा का अर्थ होता है "उपजाऊभूमि" इस से नारी-शक्ति या जनित्री-शक्ति को पृथिवी द्वारा रूपित किया है। मन्त्र १४।१।१,२ नारी-शक्ति को भूमि तथा पृथिवी कहा गया है। इस से बीजावाप की दृष्टि से पृथिवी के गुण-धर्मों का आरोप नारी-शक्ति या जनित्री-शक्ति पर किया गया है। जैसे पृथिवी एक एकाई है वैसे नारी-शक्ति या जनित्री-शक्ति भी एक एकाई-रूप है। पृथिवीरूप से पृथिवी एक एकाई है, परन्तु फिर भी किसान को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह जहां चाहे अपना बीजावाप कर दे। पृथिवी के एक सीमित निज भूक्षेत्र में ही बीजावाप का अधिकार उसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार पृथिवीरूपा नारी-शक्ति या जनित्री-शक्ति एक एकाई है। परन्तु फिर भी प्रत्येक पुरुष को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह जिस किसी नारी में अपना बीजावाप अर्थात् वीर्याधान कर सके। इसे भी एक सीमित या नियत नारी-क्षेत्र में ही बीजावाप करने का अधिकार, विवाह विधि द्वारा, प्राप्त है।

इस लिये "नारी" में एक वचन तथा "मनुष्या:, वपन्ति, उशन्त:"

में बहुवचनों के होते भी मन्त्र द्वारा एक पत्नी के बहुपति होने की आशङ्का न करनी चाहिये। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि दम्पती के सम्बन्ध में मन्त्र में चकवा-चकवी पक्षियों का दृष्टान्त दिया है (अथर्व० १४।२।६४; चक्रवाकेन दम्पती)। यह कविप्रसिद्ध बात है कि चकवा-चकवी में, एक की मृत्यु हो जाने पर, जीवित पक्षी, पुनः अन्य चकवा-चकवी के साथ सम्बन्ध नहीं करता।

गर्भाधान में आसन

१०३. आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥३९॥

हे पति !(उरुम्) पत्नी की जांघ पर (आरोह) आरोहण कर (हस्तम्) अपने हाथों का (उपधत्स्व) उपधानरूप में सहारा दे, (सुमनस्यमानः) सुप्रसन्नचित हो कर (जायाम्) पत्नी का (परिष्वजस्व) आलिङ्गन कर। (मोदमानौ) प्रमुदित अर्थात् प्रहर्षाविष्ट तुम दोनों (इह) यहां (प्रजाम् कृण्वाथाम्) प्रजननक्रिया करो, (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर-पिता (वाम्) तुम दोनों की (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे। उपधान= सिरहाना।

व्याख्या- कामशास्त्रों में मैथुन की नानाविधियों और आसनों का वर्णन मिलता है। वेद ने केवल सुगम और उचित आसन का वर्णन किया है, और यही आसन उत्तम-सन्तानों के उत्पादन में उपयोगी है। शेष आसन पारस्परिक अनुचित-कामुकता के प्रदर्शक हैं।

उत्तम-सन्तानों के उत्पादन में पति-पत्नी में पारस्परिक प्रसन्नता महत्वपूर्ण कारण है। मन्त्र में सुमनस्यमानः, मोदमानौ, तथा परिष्वजस्व शब्द, पारस्परिक प्रसन्नता के सूचक हैं। गृहस्थधर्म के पालन में अनियन्त्रण तथा लम्पटता से आयुः क्षीण हो जाती है। इसलिये आयु को दीर्घ करने के लिये सविता अर्थात् जगदुत्पादक परमेश्वर की जगदुत्पादन विधि का विचार रखते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना चाहिये। सविता, प्रकृति-पत्नी से, जगदुत्पादन कर रहा है, जिस में कि कामुकता का लेश मात्र भी नहीं। इस कामुकता के परित्याग से, गृहस्थधर्म पालन करते हुए भी, आयु दीर्घ हो जाती है।

उत्कृष्ट सन्तानें

१०४ आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४०॥

(प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक, तथा (अर्यमा) न्यायकारी परमेश्वर (वाम्) तुम दोनों के लिए (प्रजाम्, आ जनयतु) उत्तम सन्तान को जन्म दे, और (अहोरात्राभ्याम्) दिनों तथा रातों द्वारा, (सम्) सम्यक् प्रकार से उसे (अनक्तु) कान्तियुक्त करे। हे पत्नी ! (अदुर्मङ्गली) बुरे लक्षणों से रहित तू (इमम्) इस (पतिलोकम्) पतिकुल में (आ विश) प्रवेश कर या उस पर स्वामित्व कर। (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिप्रद (भव) हो, (द्विपदे) दुपाए अर्थात् मनुष्य जाति के लिए, (चतुष्पदे) चौपाए पशुओं के लिए (शम्) शान्तिदायक हो।

[आ जनयतु=आ जननम्=High birth or origin, Famous or well-known origin (आप्टे)। आ विश=To enter To take possession of (आप्टे)]।

ब्राह्मविवाह चारपाई के राक्षस

१०५. देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥

(देवैः) कन्यापक्ष के व्यवहार कुशल पुरुषों ने, (मनुना) कन्या के मनस्वी अर्थात् विचारशील पिता के (साकम्) साथ मिल कर, (एतत्) यह (वाधूयम्, वासः) वधू की इच्छा वाले वर का वस्त्र या वधू के सहवास का अधिकार, (च) और (वध्वः वस्त्रम्) वधू का वस्त्र (दत्तम्) दिया है। (यः) जो कन्या का पिता (चिकितुषे) सम्यक्-ज्ञानी (ब्रह्मणे) वेदवेत्ता वर के लिए (ददाति) ये वैवाहिक वस्त्र देता है, (सः इद्) वह ब्रह्मा ही (तल्पानि=तल्प्यानि) चारपाई के (रक्षांसि) राक्षसों का (हन्ति) हनन करता है। [देवैः=दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार···]।

व्याख्या—विवाह कन्यापक्ष के देवों तथा देवियों के समक्ष, तथा उन की अनुमति से होना चाहिये।

कन्या का पिता मनु अर्थात् मननशील होना चाहिये, ताकि वह सब बातों का विचार कर अपनी योग्य कन्या का विवाह योग्य वर के साथ करे। कन्या का पिता वर-तथा-वधू को विवाह में वस्त्र आदि प्रदान करे। आदर्श विवाह ब्रह्मा-पदवी के ज्ञानी वर, तथा सुयोग्य विदुषी का होता है। ब्रह्मा पदवी उसे मिलती है जोकि चारों वेदों का विद्वान् हो।

ऐसे विद्वान् तथा विदुषी का जब परस्पर विवाह होता है तब उन के गृहस्थ-जीवन में राक्षसों का प्रवेश नहीं होने पाता। अनुचित कामुकता से उत्पन्न दुष्कर्म ही राक्षस हैं। प्रकरण के अनुसार इन्हें ही चारपाई के राक्षस कहा है। ब्रह्मापदवी के वर तथा विदुषी वधू से संयम की आशा की जा सकती है। ऐसे व्यक्ति गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए चारपाई पर दिव्य भावनाओं से ही प्रेरित होकर आरूढ़ होंगे, राक्षसी-भावों के वशीभूत हो कर नहीं। कन्या का पिता, जब योग्य और संयमी वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करता है, तब वह ही मानों चारपाई के राक्षसों के हनन में सहायता दे रहा होता है। चिकितुषे=अथवा चारपाई के राक्षसों के चिकित्सक ब्रह्मा के लिये।

ब्राह्मविवाह, तथा विवाहनियन्त्रण

१०६. यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥४२॥

(वधूयोः) वधू की इच्छा वाले के (यम्) जिस, (ब्रह्मभागम्) ब्रह्मा के प्रति देय भाग को, अर्थात् (वाधूयम्) वधूयु-सम्बन्धी (वासः) वस्त्र या सहवास (च) और (वध्वः) वधू के (वस्त्रम्) वस्त्र को (दत्तः) [देव और मनु; मन्त्र १४।२।४१] दिया करते हैं, उसे (बृहस्पति) बृहती वेदवाणी के पति हे पुरोहित ! तू (च) और (इन्द्र,) सम्राट् (साकम्) परस्पर मिलकर (अनुमन्यमानौ) अनुमति देते हुए (युवम्) तुम दोनों (मे, ब्रह्मणे) मुझ ब्रह्मापदवी वाले के लिए (दत्त) प्रदान करो।

[**बृहस्पति र्वै देवानां पुरोहितः** (ऐ० ब्रा० ८।२६)। अर्थात् दोनों का पुरोहित बृहस्पति है। इन्द्रः=सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)।]

व्याख्या—वैदिक विवाह में पुरोहित है विवाह कराने वाला, तथा विवाह का साक्षी, और इन्द्र है विवाह-बन्धन का नियन्त्रण करने वाला

सम्राट्। विवाह राजकीय-नियमों के अनुसार होना चाहिये, पुरोहित उन नियमों के अनुसार विवाह कराए। वर और वधू में विवाह के लिए परस्पर इच्छा का होना आवश्यक है। यह 'वधूयु' शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र १४।१।९)।

ब्रह्मा का ब्रह्मभाग है (१) उस की योग्यता तथा गुण कर्मों के सदृश योग्या ब्राह्मणी, अर्थात् वेदज्ञा-वधू (२) और ब्रह्मा तथा वधू के वस्त्र (३) तथा उन के सहवास का अधिकार। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि गुणकर्मानुसार सदृशों के विवाह, राजकीय व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित होने चाहियें।

प्रातः काल में भ्रमण

१०७. स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥४३॥

हे पति-पत्नी !(सुगू)तुम उत्तमगौओं वाले, (सुपुत्रौ)उत्तम-पुत्र पुत्रियों वाले, (सुगृहौ) उत्तम-घरों वाले हुए २,(स्योनात्) सुखदायक (योनेः अधि) घर से(बुध्यमानौ) जागकर,(हसामुदौ)हंसते-और-प्रमुदित होते हुए, (महसा) वस्त्रों की चमक अर्थात् स्वच्छता के कारण (मोदमानौ) सुप्रसन्न होते हुए, (विभातीः)विविध रंगों से चमकीली (उषसः) उषाओं के (तराथः)पार होया करो, (जीवौ) इस प्रकार दीर्घजीवी होओ।

[स्योनात्=स्योनम् सुखनाम (निघं० ३।६)। योनेः=योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)। महसा=महस्=चमक; Lustre (आप्टे)।

व्याख्या—गृह जीवन को सुखी बनाने के लिए घर में उत्तम गौएं चाहियें, उत्तम-सन्तानें तथा उत्तम मकान चाहियें। इस प्रकार के सुखी घर से जाग कर, स्वच्छ वस्त्र धारण कर, हंसी और मोद-प्रमोद करते हुए, उषाकालों में प्रतिदिन,—उषाकाल के प्रारम्भ से उषाकाल की समाप्ति पर्यन्त—भ्रमण करना चाहिये। इस से पति-पत्नी दीर्घजीवी होते हैं।

प्रातः भ्रमण के लाभ

१०८. नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥४४॥

(नवम्) नये वस्त्र (वसानः) धारण करता हुआ, (सुरभिः) सुगन्ध लगा कर या यश के कारण प्रिय, (सुवासाः) वस्त्रों द्वारा सुशोभित (जीवः) चिरञ्जीव मैं, (उद्) उत्कृष्ट भावनाओं को धारण कर, (विभातीः) विविध वर्णों में चमकती हुई (उषसः) उषाओं को लक्ष्य कर के (अगाम्) भ्रमणार्थ गया हूं, और (विश्वस्मात्) सब (एनसः) दुःखप्रद-रोगों से (आ अमुक्षि) सर्वथा मुक्त हो गया हूं; (इव) जैसे कि (पतत्री) पक्षी (आण्डात्) अण्डे से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है।

[सुरभिः=यशोभिः सुरभिः, या सुगन्ध लगाया हुआ। एनसः=ईयते प्राप्यते दुःखमनेन तत् एनः (उणा० ४।१९९; महर्षिदयानन्द)]।

व्याख्या—गृहस्थी को, उषा के काल में भ्रमण के लाभ पर विश्वास दिलाने के लिए, अनुभूत घटना के रूप में वर्णन मन्त्र में हुआ है। उषा के प्रकाश में भ्रमण के लिए नए, स्वच्छ तथा सुन्दर वस्त्र धारण करने चाहियें, जो कि सुगन्ध द्वारा सुवासित होने चाहियें। इस भ्रमण द्वारा शुद्ध वायु के सेवन, तथा उषा की नानावर्णी शोभा से, प्राण वायु तथा शारीरिक-तत्त्वों के पवित्र हो जाने से, दुःखदायक रोगों से छुटकारा प्राप्त होता है।

प्रातः भ्रमण के लाभ

१०६. शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४५॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (शुम्भनी) शोभायमान हैं (अन्तिसुम्ने) समीपता में सुखदाई तथा मन को सुप्रसन्न करते हैं, (महिव्रते,) ये महाव्रती हैं, (सप्त) सात (आपः) जल या प्राण (देवीः) दिव्यगुणों से सम्पन्न हुए (सुस्रुवुः) प्रवाहित[1] हुए हैं, (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) दुःख-प्रद रोगों से (मुञ्चन्तु) छुड़ा दें।

[अन्ति=In the vicinity of (आप्टे)=अन्तिक। सुम्नम् सुखनाम

१. इन्द्रियों को भी स्रोत कहा है। यथा "स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" (श्वेता० उप० २।८)।

(निघं० ३।६); सु+मनस्=मन को सुप्रसन्न करने वाले। सप्त आपः[1]= शारीरिक द्रव' ७। यथा (१)Cerebro-Spinal fluid (मस्तिष्क-सुषुम्णा में प्रवाहित होने वाला द्रव। (२) मुखलाला, Saliva। (३) औदर्यरस, अर्थात् पेट का रस, पाचकरस(४) Pancreatic juice, अर्थात् Pancreas का रस जोकि पाचन में सहायक होता है। Pancreas=क्लोमग्रन्थि। (५) Liver bile=पित्त रस। (६) रक्त, खून। (७) Lymph रस, यह कुछ पीतवर्ण का और स्वाद में नमकीन होता है। सप्त आपः=सप्त प्राणाः=**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी** (निरु०। १२।४।३७)। अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, १ विद्या अर्थात् बुद्धि। आपः व्यापनानि। ये सात शरीर को व्याप्त किये हुए हैं, इस लिये आपः हैं]

व्याख्या—उषाकाल में द्युलोक और पृथिवीलोक की अद्भुत शोभा होती है। इस काल में भ्रमण से मन प्रसन्न होता तथा शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ता है। इस लिये भ्रमण द्वारा, गृह्य वायुमण्डल से पृथक् हो कर, उषा के दिव्यप्रकाश से रञ्जित द्युलोक तथा विस्तृत पृथिवी की समीपता प्राप्त करनी चाहिये।

भ्रमण में प्रकृति से शिक्षाग्रहण भी करनी चाहिये। भ्रमण में यह भी अनुभव करना चाहिये कि द्युलोक तथा पृथिवी लोक अपने व्रतों के पालन में कितने दृढ़ हैं, जिससे कि दिन-रात, तथा उषाकाल आदि नियम-पूर्वक होते रहते हैं। इन महाव्रतियों द्वारा हमें अपने व्रतों के पालन में शिक्षा लेनी चाहिये।

उषा काल में भ्रमण द्वारा शारीरिक सात द्रव भी दिव्यगुणों से सम्पन्न हो जाते हैं। बाहर की शुद्ध प्राण वायु इन द्रवों को शुद्ध कर, नीरोग करती, जिस से रोग दूर हो जाने पर स्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। आपः का अर्थ प्राण भी होता है। यथा **"आपो वै प्राणाः"** (शत० ब्रा० ३।८।२।४), तथा **"सप्त वै शीर्षन् प्राणाः"** (ऐ० ब्रा० १।१७; त०ब्रा० १।२।३।३)। इन प्राणों की शुद्धि भी उषा काल में भ्रमण द्वारा होती है।

१ "आपः" द्वारा शारीरिक द्रव्यों या रसों का भी ग्रहण होता है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है यथा "को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ अथर्व० १०।२।११)।

अमण में पारस्परिक नमस्कार

११०. सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥४६॥

(सूर्यायै) सूर्या ब्रह्मचारिणी तथा तत्सदृश विदुषियों को, (देवेभ्यः) विद्वानों तथा माता-पिता-आचार्य आदि देवों को, (मित्राय) मित्रों को, (वरुणाय) श्रेष्ठ पुरुषों को (च) और (ये) जो (भूतस्य) भूत-भौतिक जगत् के (प्रचेतसः) प्रज्ञानी हैं (तेभ्यः) उन सब को, (इदम्, नमः) यह नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ।

[देवेभ्यः=विद्वांसो वै देवाः । तथा मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव (तैत्ति० उप० १।२।३)]

प्रातः परमेश्वर स्तुति

१११. य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥४७॥

(यः) जो परमेश्वर (जत्रुभ्यः) कन्धे आदि की अस्थियों के निर्माण से (पुरा) पहिले (आतृदः) काटे गये छिद्रों अर्थात् इन्द्रियों का (निष्कर्ता) निर्माता और शोधक है, और जो (अभिश्रिषः) जोड़ने के साधन सरेस आदि के (ऋतेचित्) विना भी (संधिम्) शरीर के जोड़ों को (संधाता) जोड़ने वाला है, (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् (पुरूवसुः) बहुधनी परमेश्वर (विह्रुतम्) शरीर के कुटिल तथा टूटे-फूटे, अङ्ग को (पुनः) फिर (निष्कर्ता) ठीक कर देता है । [निष्कर्ता=यथा "निष्कृण्वाना आयुधानि" (निरु०१२।१।७); निष्कृण्वानाः=संस्कुर्वाणाः । तथा "उपरस्य निष्कृतिम्" (अथर्व० ६।४९।३)=मेघस्य निर्माणम् । विह्रुतम्=वि+ह्वृ कौटिल्ये । जत्रु=The collor bone, The clavicle (आप्टे)। आतृदः=गर्भशास्त्र के ज्ञाता कहते हैं कि ६ सप्ताह के गर्भ में नासिका, मुख, आंखों और कानों के छिद्र बन जाते हैं । दूसरे महीने मलद्वार का चिन्ह दिखाई देने लगता है । तीसरे मास के गर्भ में जतुक-अस्थि का,—जिसे कि मन्त्र में "जत्रुभ्यः" द्वारा निर्दिष्ट किया है,—तथा अन्य कई अस्थियों का विकास होता है ("हमारे शरीर की रचना", भाग २) ।

आतृदः में तृद्=तर्म=गढ़ा, छिद्र । ऐतरेयोपनिषद् में, गर्भाशय में इन्द्रियों के निर्माण के सम्बन्ध में "निर्भिद्" शब्द का प्रयोग किया है । यथा "**मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्, नासिके निरभिद्येताम् अक्षिणी निरभिद्येताम् कर्णौ निरभिद्येताम्**" इत्यादि । मन्त्रस्थ "तृद्" और उपनिषद् का "भिद्" समानाभिप्रायक हैं । कठोपनिषद् में इन्द्रियों के निर्माण में "तृण" का प्रयोग हुआ है । यथा "**पराञ्चि खानि व्यतृणत्**" । तृण, तृद्, भिद् समानाभिप्रायक हैं । श्रिषः=सरेस शब्द श्रिषः का अपभ्रंश प्रतीत होता है]

व्याख्या परमेश्वर की स्तुति किस प्रकार करनी चाहिये,—इस का दृष्टान्तरूप में वर्णन, मन्त्र में दर्शाया है । यथा—

हमारे शरीरों, इन्द्रियों, तथा हड्डियों आदि का निर्माण करने वाला परमेश्वर है । उसने ही हमें जीवन प्रदान किया है । उस कारीगर ने ही हमारे शरीरों के अवयवों को तथा संधियों को परस्पर जोड़ा है । वह मघवा है, ऐश्वर्यवान् है, महाधनी है । संसार को बसाने वाला तथा संसार में बसा हुआ है । शरीर के रोगों तथा टूट-फूट को वही पुनः ठीक करता है,—ऐसी और इस प्रकार की परमेश्वर स्तुति तथा प्रार्थना प्रातः काल में प्रत्येक सद्गृहस्थी को प्रतिदिन करनी चाहिये।

परमेश्वर के प्रति समर्पण

११२. अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥४८॥

(तमः) अज्ञानान्धकार, तथा (यद्) जो (नीलम्) तमोगुणी कर्म, (लोहितम्) रजोगुणी कर्म, (उत) और (पिशङ्गम्) तमोगुण और रजोगुण के मिश्रण से उत्पन्न कर्म है, वह (अस्मत्) हम से (अप उच्छतु) पृथक् हो जाय । (या) जो (निर्दहनी) निश्चित-दाह अर्थात् सन्ताप देने वाली (पृषातकी) बिन्दु सदृश धब्बों वाली या बाण के सदृश दुःख दायिका प्रकृति है (ताम्) उसे, (अस्मिन्) इस (स्थाणौ अधि) स्थिर, कूटस्थ, एकरस परमेश्वर में (आ सजामि) मैं आसक्त करता हूं, सौंपता हूं ।

[उच्छतु=उच्छी विवासे, निवास से पृथक् करना, विगत करना ।

पृषातकी¹=पृषत्क=बाण, तीर, तद्वत् दुःखदायिका प्रकृति। पृषत्क का रूपान्तर=पृषातकी । अथवा पृषतः=बिन्दुसदृश धब्बों वाला हरिण। पृषतक=संज्ञायां कन् । पृषतकी=धब्बेदार मृगी, तद्वत् पृषातकी धब्बेदार प्रकृति । स्थाणु=स्थिर, कूटस्थ, एकरस परमेश्वर । यथा "स स्थाणुः स्थिर भक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः" (विक्रमोवशीय, कालिदास)]

व्याख्या—तमस् अर्थात् अज्ञान को यजुर्वेद (४०।१२) में अन्धं-तमस् कहा है। केवल अपराविद्या के उपासक अन्धं-तमः में प्रविष्ट होते हैं, और केवल पराविद्या में रत "और अधिक" अन्धं-तमः में प्रविष्ट होते हैं। अतः अपराविद्या और पराविद्या इन दोनों के ज्ञाता अज्ञानान्धकार से छुटकारा पा सकते हैं । मन्त्र में तमस् से पृथक् होने का अभिप्राय है अपराविद्या और पराविद्या को प्राप्ति के लिए सदा, गृहस्थ-जीवन में भो, यत्न करते रहना । अपराविद्या की प्राप्ति से अभ्युदय को सिद्धि होतो है, और पराविद्या को प्राप्ति से निः श्रेयस सिद्ध होता है।

तमस् अर्थात् अज्ञानान्धकार के रहते ३ प्रकार के कर्म होते हैं। (क) तामसिक-कर्म, जिन्हें कि मन्त्र में "नीलम्" कहा है। तथा (ख) राजसिक कर्म, जिन्हें कि "लोहितम्" कहा है। और तीसरे प्रकार के वे कर्म जिन में कि तमोगुण और रजोगुण मिश्रित रहते हैं, ऐसे कर्मों का मन्त्र में "पिशङ्गम्" कहा है । वैदिक साहित्य में प्रकृति के स्वरूप को दर्शाने के लिए रजोगुण को लोहित, सत्त्वगुण को शुक्ल, और तमोगुण को कृष्ण कहा है । यथा—"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० उप० ४।५) । अजा का अभिप्राय है "न पैदा होने वाली नित्य प्रकृति"। पिशङ्ग का अर्थ है 'REDDISH BROWN' (आप्टे), लालमिश्रित भूरा रंग।

---

१. "पृषोदर" आदि की तरह साधु। "पृषातकी" का यह अर्थ भी हो सकता है कि "वस्तुओं के प्रति हमारे जीवनों में राग, द्वेष, मोह आदि सींच कर, हमें आतंकमय तथा कृच्छ्रजीवी करने वाली प्रकृति । पृष् (सेचने)+आतंकमयी (तकि कृच्छ्र जीवने) । "ह्विटनी" ने इस मन्त्र की टिप्पणी में पृषातकी का अर्थ किया है "She is perhaps the female demon" अर्थात् शायद यह भूतप्रेत या पिशाची है । मैंने जो अर्थ पृषातकी के लिए दिए हैं वे अनुमान रूप ही हैं। परन्तु मन्त्रार्थ में सङ्गत अवश्य हो सकते हैं।

और BROWN का अर्थ है "DARK OR Dusky inclinig to red"। इसलिए पिशङ्ग कर्म है "लोहितमिश्रित तमः" रूपी कर्म । अर्थात् रजोगुणमिश्रित तमोगुणी कर्म । इन तीनों प्रकार के कर्मों से अर्थात् नीलम्, लोहितम्, पिशङ्गम्,—रूपी कर्मों से, पृथक् होने की प्रार्थना मन्त्र में की गई है । ये तीन प्रकार के क्रम अज्ञान्धकार के परिणाम हैं। अतः शुक्ल कर्मों अर्थात् सात्विक कर्मों की उपादेयता अर्थापन्न है। गृहस्थ-जीवन में यथा सम्भव शुक्ल कर्मों को ही करना चाहिये ।

मन्त्र में प्रकृति को "पृषातकी" कहा है। पृषातकी के दो अर्थ दिए हैं, (१) बिन्दु सदृश धब्बों वाली मृगी के सदृश, प्रकृति । प्रकृति बिन्दुमयी है, इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति पट या चादर के सदृश, अपने रजस्, तमस् सत्त्व के अंशों में फैली हुई नहीं, अपितु रजस्, तमस् और सत्व में से प्रत्येक छोटे छोटे कणों के समूहरूप हैं, बिन्दुरूप हैं, परम-अणुरूप हैं। (२) पृषातकी को बाण या तीर रूप भी कहा है। बाण या तीर शरीर में प्रविष्ट हुए दुःखप्रद होते हैं, इसी प्रकार पृषातकी- प्रकृति भी विवेकी के लिए सदा दुःखमयी प्रकट होती है। यथा "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योग २।१५) । इस भाव को दर्शाने के लिए मन्त्र में पृषातकी का विशेषण "निर्दहनी" दिया है, अर्थात् निश्चित रूप में दाह-सन्ताप देने वाली ।

शरीर के रहते प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य पदार्थों से छुटकारा पाना असम्भव है। इसलिये प्रकृति को परमेश्वर के प्रति आसक्त करने, या सौंपने का अभिप्राय केवल यही है कि प्रकृति के पदार्थों में मोह-ममता को त्याग कर प्रकृति को निःश्रेयस में साधन नाम कर, निष्काम भाव से उस का उपयोग करना। गृहस्थी के गृहस्थजीवन का यह सर्वोच्च लक्ष्य है। अर्थात् गृहस्थी को केवल अभ्युदय के लिए ही यत्न न करना चाहिए, अपितु अभ्युदय की प्राप्ति को निःश्रेयस की प्राप्ति में साधन मान कर उस का उपार्जन करना चाहिये ।

परम निष्काम-भाव

११३. यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि॥४९॥

(उपवासने) उपवास-व्रत में (यावतीः) जितने (कृत्याः) मेरी कर्त्तव्य

क्रियाएं अर्थात् कर्म हैं, (वरुणस्य राज्ञः) संसार के श्रेष्ठ तथा नियामक राजा के (यावन्तः) जितने (पाशाः) पाश अर्थात् बन्धन हैं, (याः) जो (व्यृद्धयः) ऋद्धियों का आना और जाना है, (याः) जो (असमृद्धयः) ऋद्धियों का कभी भी न आना है, (ताः) उन्हें (अस्मिन्) इस (स्थाणौ अधि) स्थिर, कूटस्थ, एकरस परमेश्वर में (सादयामि) मैं स्थापित करता हूं। उस के प्रति सौंपता हूं।

व्याख्या—मन्त्र में निष्कामभाव की पराकाष्ठा का वर्णन है। लोग उपवास आदि व्रत तथा तदनुसार नाना प्रकार के कर्त्तव्य-कर्म करते हैं। इन के करते हुए आत्माभिमान तथा आत्मोत्कर्ष की भावनाओं के जागरित हो जाने की सम्भावना बनी रहती है।

परमेश्वर ने—जो कि संसार का राजा तथा श्रेष्ठ नियामक है,—जीवनों के लिए नानाविध नित्य-नैमित्तिक कर्मों का निर्देश किया है, जिन्हें कि मन्त्र में "पाशाः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। पति-पत्नी में परस्पर अनुराग [१४।१।२६], सन्तानों के प्रति मोह, पञ्चमहायज्ञ, तथा वर्णाश्रम के धर्म,—ये नाना प्रकार के पाश हैं जिन में व्यक्ति बंधा हुआ है। इन कर्मों के करते व्यक्ति सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। वैदिक सद्-गृहस्थी इन सुखों तथा दुःखों को धैर्यपूर्वक सहता हुआ, निष्काम भाव से निज कर्त्तव्य करता रहता है।

वैदिक सद्गृहस्थी ऋद्धियों का स्वामी बने, या ऋद्धियां आ कर पुनः लौट जांय, इस से वह सुखों में प्रसन्न तथा दुःखों में व्यथित नहीं होता। उस के जीवन में चाहे कभी भी ऋद्धियों का दर्शन न हुआ हो वह तब भी दुःखी नहीं होता। उस की यह समावस्था उस के निष्काम जीवन का परिणाम होता है। क्योंकि उस ने अपने आप को तथा अपनी सम्पत्ति आदि, और कर्मों के फलों को, परमेश्वर के प्रति समर्पित कर दिया होता है। यह परम निष्काम भावना है।

पत्नी द्वारा वस्त्रनिर्माण

११४. या मे॑ प्रि॒यत॑मा त॒नूः सा मे॑ बिभाय॒ वास॑सः।
तस्याग्रे॒ त्वं व॑नस्पते नी॒विं कृ॑णुष्व॒ मा व॒यं रि॑षाम ॥५०॥

हे पत्नी ! (या) जो (मे) मेरी (प्रियतमा) अत्यन्त प्रिय (तनूः) देह है, (सा) वह (मे) मेरी देह (बिभाय) सरदी तथा गरमी से भय करती है, इस लिये (वनस्पते) वनों और खेतों की स्वामिनी हे पत्नी ! (त्वम्) तू (अग्रे) पहिले (तस्य वाससः) उस वस्त्र के (नीविम्) मूलधन अर्थात् वल्कल-कपास आदि को (कृणुष्व) एकत्रित कर, ताकि (वयम्) हम (मा) न (रिषाम) कष्ट भोगें तथा विनष्ट हों।

[नीविम्=मूलधनम् (उणा० ४।१३७); तथा Capital, Principal stock (आप्टे)। वनस्पते=वन की पत्नी। उपवनरूप में खेतों की पत्नी अर्थात् स्वामिनी। वनस्पतिः=वनानां पाता वा पालयिता वा (निरु० ८।२।३), अर्थात् वनों का रक्षक या पालक]

मन्त्र में वस्त्र निर्माण की सामग्री को एकत्रित करने का वर्णन है। अगले मन्त्र में वस्त्र निर्माण का वर्णन हुआ है।

पत्नी निर्मित वस्त्र

११५. ये अन्ता॒ याव॑तीः॒ सिचो॒ य ओत॑वो॒ ये च॒ तन्त॑वः।
वासो॒ यत् पत्नी॑भिरु॒तं तन्नः॑ स्यो॒नमुप॑ स्पृशात् ॥५१॥

वस्त्र के (ये) जो (अन्ताः) अन्त के भाग हैं, किनारे हैं, (यावतीः) और जितनी (सिचः) कोरें हैं, (ये) जो (ओतवः) बानें (च) और (ये) जो (तन्तवः) तानें तय्यार किये हैं, (यत्) जो (पत्नीभिः) पत्नियों ने (वासः) उन से वस्त्र (उतम्) बुना है, (तत्) वह वस्त्र (नः) हमें (स्योनम्) सुखदायी हो, (उप स्पृशात्) और हमारे शरीरों का स्पर्श करे।

व्याख्या—मन्त्रानुसार वस्त्रनिर्माण पत्नियों का गृह्य-शिल्प है। वस्त्र ऐसा होना चाहिये जो कि गरमी-सरदी की दृष्टि से सुखदायक हो। गृह्य-शिल्प द्वारा निर्मित वस्त्र ही हमारे शरीरों का स्पर्श करें, अर्थात् ऐसे वस्त्र ही हमें पहिरने चाहियें।

वधुओं की दीक्षाएं

११६. उ॒श॒तीः क॒न्यला॑ इ॒माः पि॑तृलो॒कात् पतिं॑ य॒तीः।
अव॑ दी॒क्षाम॑सृक्षत॒ स्वाहा॑ ॥५२॥

(उशतीः) कामनावाली (इमाः) ये (कन्यलाः) कन्याएं, (पितृलोकात्) पिता के लोक अर्थात् पितृगृह से (पतिम्) पति की ओर (यतीः) जाती हुई, प्रयाण करती हुई, (दीक्षाम्) नई दीक्षा को (अव असृक्षत) धारण करती हैं, (स्वाहा) इस निमित्त विवाह की अग्नि में आहुति प्रदान क

[उशतीः=कामयमानाः। वश कान्तौ, कान्तिः इच्छा। पितृलोक= पौराणिक पितृलोक का प्रायः अर्थ करते हैं "मृतपितरों का लोक"—मन्त्र में इस का स्पष्ट अर्थ है, पितृगृह। अथर्व० काण्ड १८ वें के भाष्य में पितरों का वर्णन हुआ है, वहां भी प्रकरण की दृष्टि से पितरः और पितृलोक के अर्थ बुद्धिसंगत ही किये हैं। अव-असृक्षत का अर्थ यद्यपि "छोड़ना या त्याग करना" होता है, परन्तु अर्थ प्रतीत नहीं होता। "अव शब्द का प्रयोग अन्यार्थ में भी होता है। यथा—

अवधानम्, अवगतम्, अवकाशः, अवधारणम् अवबोधः आदि]

व्याख्या—कन्या का अर्थ है कुमारी। कन्या में जब कामना उत्पन्न हो जाय, पति प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो जाय (उशतीः)तभी उस का विवाह करना चाहिये। विवाह में कन्या को दीक्षा लेनी चाहिये, अर्थात् व्रत लेना चाहिये, जोकि गृहस्थधर्म को सफलता पूर्वक निभाने में सहायक हो। यह व्रत अग्निसाक्षिक होना चाहिये। इस व्रत को प्रमाणित करने के लिए कन्या अग्नि में, स्वाहा का उच्चारण करती हुई, आहुतियां देती है [अथर्व० १४।२।६३]। इन दीक्षाओं अर्थात् व्रतों का वर्णन आगे के ५ मन्त्रों में किया गया है।

वधू की वर्चोदीक्षा

११७. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥

(बृहस्पतिना) देवों के पुरोहित (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (१४।२।५२) (विश्वे) सब (देवाः) देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने-अपने विवाह के समय धारण किया था, इस लिये (तेन) उस वर्चस के साथ (इमाम्) इस कन्या का (सं सृजामसि) हम संसर्ग करते हैं (यत्) जो वर्चस् कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुआ है।

[बृहस्पति वै देवानां पुरोहितः (ऐ० ब्रा० ८।२६)]

मन्त्र में गोवर्चस् का विधान है। वर्चस् का अर्थ है दीप्ति। यह सात्विक दीप्ति है, राजस् या तामस् नहीं। ब्राह्मणवर्चस्, हस्तिवर्चस्, तथा मन्त्रोक्त गोवर्चस् शान्तिमय वर्चस् हैं। गौएं शान्त तथा शीतल स्वभाव की होती हैं। यह शान्ति और शीतलता गौओं का वर्चस् है। पुरोहित तथा विवाह में उपस्थित देव और देवियां कहती हैं कि गोवर्चस् द्वारा हम वधू को वर्चस्विनी कहते हैं। पुरोहित मन्त्र द्वारा कहता है कि इन उपस्थित देवों और देवियों ने भी अपने-अपने विवाह संस्कारों के समय गोवर्चस् को धारण किया था। देवियों को तो गोवर्चस् धारण करना ही चाहिये। परन्तु साथ ही देवों को भी गोवर्चस् के धारण की आवश्यकता है, ताकि गृहस्थ जीवन शान्तिपूर्वक चल सके। यह वधू की वर्चो दीक्षा है।

तथा

(बृहस्पतिना……अधारयन्), पूर्ववत्। (गोषु) चन्द्रमा की रश्मियों में (यत्) जो शीतलता रूपी (वर्चस्) दीप्ति (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, उस वर्चस् अर्थात् दीप्ति के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं, (पूर्ववत्)।

[निरुक्त में गोशब्द के नाना अर्थों में, चन्द्र पर पड़ी सूर्य-रश्मियों को भी गौ या गावः कहा है। यथा "**अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति,**" तथा "**सुषुम्ण सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**" (यजु० १८।४०) में चन्द्रमा को गन्धर्व कहा है "गो, अर्थात् सौर रश्मियों का, धर्व अर्थात् धारण करने वाला]

वधू की तेजो दीक्षा

११८. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन।
तेजो गोषु प्रविष्टं यद् तेनेमां सं सृजामसि ॥५४॥

(बृहस्पतिना…अधारयन्), पूर्ववत्। (गोषु) गौओं में (यत्) जो (तेजः) उग्रता (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, उस तेजस् के साथ इस कन्या का संसर्ग करते हैं (पूर्ववत्)।

[तेजः =हिंस्र-पशु द्वारा आक्रमण होने पर गौएं भी मिल कर उस का मुकाबिला करती हैं। तब गौओं का तेजस् प्रकट होता है। इसी प्रकार विवाहित वधू भी,—यदि कोई दुष्ट उस पर बलात्कार करने की चेष्टा करे,—तब निज उग्रता से उसका मुकाबिला करे। यह वधू की तेजो दीक्षा है]

तथा

(बृहस्पतिना..... अधारयन्)·· पूर्ववत्। (गोषु) सूर्य की रश्मियों में (यत्) जो (तेजः) प्रखरता रूपी तेजस् (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है उस तेजस् के साथ कन्या का हम संसर्ग करते हैं (पूर्ववत्)। [गौ का अर्थ सूर्य की रश्मियां भी हैं। यथा "**आदित्योऽपि गौरुच्यते, "उताद: पुरुषेगवि**" (ऋ० ६।५६।२); (निरु० २।२।६)। इस लिये सूर्य को गन्धर्व कहते हैं, गौ अर्थात् रश्मियों का, धर्व अर्थात् धारण करने वाला। यथा "**सूर्यो गन्धर्वः तस्य मरीचयोऽप्सरसः**" (यजु० १८।३९)।

वधू की भग दीक्षा

११९. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ।।५५।।

(बृहस्पतिना......अधारयन्)—(पूर्ववत्)। (गोषु) गौओं में (यः) जो (भगः) सन्तानोत्पादक योनि (प्रविष्टः) प्रविष्ट है (तेन...) उस योनि के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं (पूर्ववत्)।

[भगः=योनी। Pudendum mulichre (आप्टे), अर्थात् महिला की इन्द्रिय। गौ निज योनी से बछड़ा-बछड़ी को जन्म देती है. जिस से. गोवंश की वृद्धि होती है। वधू को भी निज भग शक्ति से उत्तमोत्तम सन्तानों को जन्म देना चाहिये। यह वधू की भग दीक्षा है]

तथा

(बृहस्पतिना......अधारयन्)......पूर्ववत्। (गोषु) स्तोताओं अर्थात् परमेश्वर का स्तवन करने वालों में (यः) जो (भगः) आध्यात्मिक ऐश्वर्य, धर्म, श्री, ज्ञान और वैराग्य (प्रविष्टः) प्रविष्ट है, (तेन...) उस भग के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते है (पूर्ववत्)। [गौ स्तोतृनाम

(निघं० ३।१६)। इन ऐश्वर्य आदि के कारण वर को भी भग कहा है। यथा "**भगस्ते हस्तमग्रहीत्**" (अथर्व० १४।१।५१)। "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**"। इस प्रकार भग के ६ अर्थ हैं जिन के साथ कन्या के संसर्ग का वर्णन हुआ है]

वधू की यशोदीक्षा

१२०. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमा सं सृजामसि ।।५६।।

(बृहस्पतिना...अधारयन्) पूर्ववत्। (गोषु) गौओं में(यत्) जो(यशः) यश (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है. (तेन··) उस यश के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं।

[मन्त्र ५५ में उत्तम बछड़ा-बछड़ी पैदा करने के कारण गो-नरल का यश होता है, इसी प्रकार उत्तम सन्तानों के कारण माता पिता का यश होता है। मन्त्र ५५ में भग अर्थात् योनि पद द्वारा सन्तानों का निर्देश किया है और मन्त्र ५६ में उन द्वारा हुए यश का वर्णन है।]

तथा

(बृहस्पतिना..... अधारयन्), पूर्ववत्। (गोषु) स्तोताओं में (यत्) जो (यशः) यश (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन...) उस यश के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं, (पूर्ववत्)।

[मन्त्र ५५ में स्तोताओं के ५ भगों का वर्णन किया है अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, श्री, ज्ञान और वैराग्य। भग का छटा अर्थ है, यश। मन्त्र ५५ में जो ऐश्वर्य आदि का वर्णन हुआ है वे कारणरूप भग हैं, और मन्त्र ५६ में कार्यरूप यश का वर्णन है। इस प्रकार ५५ और ५६ मन्त्रों में विषय भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य आदि का यथोचित उपार्जन कर विवाहित कन्या भी यशोभागिनी बने। गौः का अर्थ स्तोता भी होता हैं यह मन्त्र ५५ में दर्शा दिया है यह वधू की यशोदीक्षा है।]

वधू की पयोदीक्षा

१२१. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ।।५७।।

(बृहस्पतिना……अधारयन्) पूर्ववत् । (गोषु) गौओं में (यत्) जो (पयः) दूध (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन……) उस दूध के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं।

[पयः=दूध उत्तम नस्ल की गौओं में दूध की मात्रा कम नहीं होती, तथा ऐसी गौओं का दूध पौष्टिक और सात्त्विक होता है। इसी प्रकार वधू का दूध चाहिये। वह पौष्टिक तथा सात्विक भोजन द्वारा, शिशुओं के पालनार्थ अपनी छाती के दूध को मात्रा में अधिक, पौष्टिक, तथा सात्विक करे। यह वधू की पयोदीक्षा है।

तथा

(बृहस्पतिना…, अधारयन्), पूर्ववत्। (गोषु) सूर्य की किरणों में (यत्) जो (पयः) पेय-जल (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन…) उस पेय-जल के साथ इस वधू का हम संसर्ग करते हैं।

[पयस् के दो अर्थ हैं, दूध और जल। सूर्य को किरणों को गावः कहा है। यथा "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः" (ऋ० १।१५४।६), अर्थात् हे पति-पत्नी! तुम्हारे लिये हम ऐसे घर चाहते हैं जिनमें कि बहुप्रदीप्त सौर-रश्मियों का प्रवेश होता है। मन्त्र में "भूरिशृङ्गाः गावः" द्वारा प्रज्वलित सौर-रश्मियों का ग्रहण है (निरु० २।२।८)। इन प्रज्वलित सौर-रश्मियों के कारण समुद्र से अन्तरिक्ष में जल संचय हो कर वर्षा होती और शुद्ध पेय-जल प्राप्त होता है। जैसे कहा है कि "आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः", । इस प्रकार गोरूप सौर-रश्मियों का पेय-जल के साथ सम्बन्ध है। वधू को पयोदीक्षा देते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि इस वधू ने भी गृहस्थ के लिये रोगनिवारक पेय-जलों का संग्रह करना होगा। यथा—"इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः। गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना" (अथर्व० ३।१२।९) में आपः को यक्ष्मा-रोग का निवारक कहा है। इससे पूर्व के मन्त्र ३।१२।८ में "इरा नारी प्र भर" द्वारा नारी को घृत अर्थात् घी या जल भरे कुम्भ को लाने का आदेश दिया है। घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। और "इमा आपः" द्वारा वह जल का आहरण करती है।[1]

१. मन्त्र ५३ और ५७ में "गोषु" शब्द द्वारा सूर्य की रश्मियों का वर्णन हुआ है। ५३ में सूर्य की सुषुम्ण-रश्मियों का वर्णन हुआ है जो कि चन्द्रमा पर पड़ कर शीतलता प्रदान करती हैं मन्त्र ५७ में सूर्य की उन प्रतप्त-रश्मियों का वर्णन हुआ है जिन द्वारा जल वाष्पीभूत हो कर वर्षारूप में बरसता है।

वधू की रसदीक्षा

१२२. बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५८॥

(बृहस्पतिना……अधारयन्), पूर्ववत्। (गोषु) गौओं में (यः) जो, (रसः) दुग्ध में माधुर्य-रस (प्रविष्टः) प्रविष्ट है, (तेन…) उस माधुर्यरस के साथ इस कन्या वधू का हम संसर्ग करते हैं।

मन्त्र द्वारा वधू को शिक्षा दी गई है कि गौओं का दूध जैसे मधुर होता है, वैसे तेरा स्वाभाविक दूध भी मधुर भावनाओं तथा मधुरस्वाद से सम्पन्न होना चाहिये। जैसे कहा है कि- "मधुरं गवां पयः;"। इस निमित्त शिशु को माता को सात्विक मधुर तथा स्वादिष्ट अन्न का सेवन करना चाहिये।

तथा

(बृहस्पतिना—अधारयन्) पूर्ववत्। (गोषु) पृथिवियों में (यः) जो (रसः) नानारस (प्रविष्टः) प्रविष्ट हैं, (तेन…) उन नानाविध रसों के साथ इस कन्या का हम संसर्ग करते हैं।

[गोषु=गौः पृथिवी नाम (निघं० १।१)। पृथिवी तीन प्रकार की है, उपज की दृष्टि से। यथा "इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा" (अथर्व० ६।२१।१), अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम रूप से तीन प्रकार की पृथिवियां हैं, उन में जो भूमि अच्छी उपजाऊ है, वह उत्तम है तीन पृथिवियां=अथवा पर्वतीय, समतल, तथा अनूप प्रदेशीय अर्थात् जलप्रधाना। इस द्वारा विवाहित कन्या को उपदेश दिया है कि पृथिवी जैसे नाना प्रकार के रसीले पदार्थों वाली है, वैसे तू भी रसवती अर्थात् रसोई में नाना प्रकार के रसीले पदार्थों का पाक किया करना, तथा ओषधि और फलों के नाना विध रसों से घर को भरपूर रखना। यह रस दीक्षा पांचवीं दीक्षा है]

असामयिक मृत्यु से बचाव

१२३. यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तो३घम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥

(यदि) यदि (इमे) ये (केशिनः जनाः) केशोंवाले जन अर्थात् स्त्रियां (रोदेन) रुदन द्वारा (अघम्) मृत्यु को (कृण्वन्तः) प्रकट करती हुई (ते) हे वधु ! तेरे (गृहे) घर में (समनर्तिषुः) इकट्ठी हो कर रोई-पीटी हैं, तो (तस्मात्) उस (एनसः) मृत्यु के कारणीभूत पाप से, (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चताम्) छुड़ावें ।

[अघम्=आ हन् । अघं हन्तेः निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति (निरु० ६।३।११) । समनर्तिषुः=नृती गात्रविक्षेपे । दुःख के कारण अङ्गों का इधर-उधर पटकना । एनसः=एनः एतेः (निरु० ११।३।२४)]

व्याख्या—पूर्ण आयु भोग कर मृत्यु का होना तो अवश्यम्भावी है । परन्तु बालकों, बालिकाओं, तथा युवकों की मृत्युएं-किन्हीं पापों के नियमों के भंग के, दुःखदायी परिणाम हैं-यह वैदिक सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त को दर्शाने के लिए मन्त्र में "अघ" शब्द पठित है, जिस का अर्थ है "पाप जन्य मृत्यु" । "अघ" का मूल अर्थ है,—पाप, परन्तु इस का धात्वर्थ है,—हनन, मृत्यु । एनस् का अर्थ है,—पाप । एनस् के साथ हनन या मृत्यु की भावना नहीं । असामयिक मृत्युएं वर्तमान तथा पूर्वजन्मों के संचित पापों के भी परिणाम हो सकती हैं, तथा माता-पिता और समाज के पापों के परिणामरूप भी हो सकती हैं । अतः ऐसी मृत्युओं और कष्टों से बचने के लिये मनुष्यों को चाहिये कि वे पापकर्मों के करने से बचे रहें ।

मृत्युओं तथा कष्टों के प्राकृतिक कारण भी होते हैं । यथा वायु, जल, तथा स्थल का शुद्ध न होना, तथा अन्य स्वास्थ्यकारी अवस्थाओं की अवहेलना करना । ऐसी हत्याओं और कष्टों के निवारणार्थ मन्त्र में दो उपाय दर्शाए हैं । एक अग्नि और दूसरा सूर्य । गृहों में गार्हपत्य अग्नि की स्थापना, उस में दैनिक तथा अन्य ऋतु के अनुकूल यज्ञों का करना, तथा गृहों में सूर्य के प्रकाश का होना,—दीर्घ जीवन के लिये आवश्यक है ।

मन्त्र में स्त्रियों को "केशिनः जनाः" कहा है । इस से प्रतीत होता है कि केशों का शिरों पर रखना स्त्रियों के लिए आवश्यक है । निकट-सम्बन्धी की मृत्यु की अवस्था में सम्बन्धियों का मृत्यु वाले गृह में आकर इकट्ठा होना, और स्वाभाविक शोक से प्रेरित होकर उन का रोना,—यह भी परस्पर अनुराग का स्वाभाविक परिणाम है, जिस का कि मन्त्र में वर्णन हुआ है ।

असामयिक मृत्यु से बचाव

१२४. यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य१घम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६०॥

हे वधु ! (यदि) यदि (इयम्) यह (तव) तेरी (दुहिता) पुत्री (रोदेन) रुदन द्वारा (अघम्) मृत्यु को (कृण्वती) प्रकट करती हुई (गृहे) घर में, (विकेशी) केश बिखेर कर (अरुदत्) रोई है, तो (तस्मात्) उस (एनसः) मृत्यु के कारणीभूत पाप से (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चताम्) छुड़ावें ।

[विकेशी=दुःख और आपत्ति के समय, गृहस्थजीवनोपयोगी शृङ्गार का रहना अस्वाभाविक है । इसलिये मृत्यु आदि की आपत्ति के समय में दुहिता के शृङ्गार के अभाव को विकेशी पद द्वारा सूचित किया है । (अग्निः त्वा) शेष अभिप्राय पूर्ववत्] ।

असामयिक मृत्यु से बचाव

१२५. यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६१॥

(यत्) जो (जामयः) वृद्धा कुलस्त्रियां (यत्) जो (युवतयः) युवती-स्त्रियां (रोदेन) रुदन द्वारा (अघम्) मृत्यु को (कृण्वतीः) प्रकट करती हुई (ते) हे वधु ! तेरे (गृहे) घर में (समनर्तिषुः) रोई-पीटी हैं, (तस्मात्) उस (एनसः) मृत्यु के कारणीभूत पाप से (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चताम्) छुड़ावें ।

[जामयः=कुल स्त्रियः (उणा० ४।४४; महर्षि दयानन्द)]

वधू के किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु के अवसर पर, जाति-बिरादरी तथा परिचित वृद्धा तथा युवती स्त्रियों का, शोक प्रकट करने के लिये आना, यहां सूचित किया है।

असायमिक मृत्यु या रोगों से बचाव

१२६. यत् तें प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुञ्चताम् ॥६२॥

हे वधु ! (ते) तेरी (प्रजायाम्) सन्तान में, (पशुषु) पशुओं में, (वा) अथवा (गृहेषु) गृहवासियों में, (यत्-यत्) जो जो (अघम्) मृत्यु-कारक रोग, (अघकृद्भिः) मृत्युकारी कीटाणुओं द्वारा (निष्ठितम्) स्थिर (कृतम्) कर दिया है, (तस्मात्) उस (एनसः) आ गये पापमय रोग से (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चताम्) छुड़ाएं।

[सविता=सूर्य, अर्थात् उषा के प्रयाण के समकाल में उदीयमान सूर्य। उदीयमान तथा अस्तकाल के सूर्य का प्रकाश रोगजनक क्रिमियों का हनन करता है। यथा "उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः" (अथर्व० २।३२।१), "उदय होता हुआ तथा अस्त होता हुआ सूर्य रश्मियों द्वारा क्रिमियों का हनन करे"। ऐसे सूर्य का प्रकाश जब घरों में चमके तब घर के रोगजनक क्रिमियों के हनन हो जाने के कारण रोग और रोग द्वारा होने वाली मृत्युएं नहीं होती। साथ ही अग्नि में अग्निहोत्र तथा ऋतुयज्ञों के करते रहने से भी रोग-क्रिमियों का हनन होता रहता है। रोग-क्रिमियों के लिए देखो (अथर्व० २।३१, ३२, ३३, तथा ५।२३)]।

"सूर्य रश्मि चिकित्सा" द्वारा भी रोगों का हनन होता है। "कश्यपस्य वीबर्हेण" (अथर्व० २।३३।७) में, सूर्य की रश्मियों द्वारा "यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं विष्वञ्चं विबृहामसि" (अथर्व० २।३३।७) त्वचा आदि

१. वीबर्हेण और विबृहामसि में "वि" उपसर्ग और "बृह्" धातु का प्रयोग है। बृह् का अर्थ है,— उद्यम। और वि+बृह् का अर्थ है उद्यम-रहित करना। रोगों को उद्यम-रहित या निश्चेष्ट करने का अभिप्राय है, उन्हें शक्तिरहित कर उन का

के यक्ष्म रोग के हनन का भी विधान किया है। कश्यप=सूर्य। "कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च" (अथर्व० १७।२७)। वीबर्ह=रश्मिसमूह (सम्भवतः)।

लाजाहोम

१२७. इयं नार्युपब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥६३॥

(इयम्) यह (नारी) वधू (पूल्यानि) फुल्लियों अर्थात् लाजाओं की (आ वपन्तिका) आहुतियां देती हुई (उपब्रूते) कहती है कि (मे) मेरा (पतिः) पति (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला (अस्तु) हो, (शतम्) सौ (शरदः) सरदियों अर्थात् वर्षों तक (जीवाति) जीवित रहे।

[पूल्यानि=पंजाब में फुल्लियां बोलते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्रों में पूल्यानि के स्थान में "लाजान्" पठित है। यथा "इयं नार्युप ब्रूते लाजानावपन्तिका"]

व्याख्या—पारस्कर गृह्यसूत्रों के अनुसार यह लाजाहोम है। हिन्दी में लाजाओं को खीलें तथा पंजाबी में फुल्लियां कहते हैं। ये भूने हुए व्रीहि अर्थात् धान होते हैं। आयुर्वेद में खीलों को पथ्य-भोजन माना है। वेद में व्रीहि और यव [जौ] को प्राण और अपान कहा है। "प्राणापानौ व्रीहियवौ" (अथर्व० ११।४।१३)। तथा व्रीहि और यव के सेवन से यक्ष्म-रोग का विनाश होता है। यथा "शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः" ॥ (अथर्व० ८।२।१८)। लाजाएं भी सम्भवतः यक्ष्म तथा अंहस् का विनाश करने वाली हैं, अतः वधू लाजाहोम द्वारा पति की दीर्घायु चाहती है, और सौ वर्षों तक उस का जीवन।

विनाश करना। कश्यप शब्द ज्योतिर्मय तेजस्वी सूर्यार्थक है। इस लिये प्रतीत होता है कि वीबर्ह सम्भवतः सूर्य की रश्मियां हों, जो कि रोगों को निरुद्यम कर देती हैं।

१. व्रीहि (चावल) और यव (जौं) बल का निरसन नहीं करते, और अदन अर्थात् खाने में मधुर होते हैं। ये दोनों यक्ष्मरोग के होने में बाधक होते हैं, ये दोनों दुःखप्रद रोग से छुड़ाते हैं। अदोमधौ=अदसि (भक्षणे)+मधु। अबलासौ=अ+बल+अस् (क्षेपणे)।

स्थिर दाम्पत्य-सम्बन्ध

१२८. इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥६४॥

(इन्द्र) हे सम्राट् ! या राजकीय व्यवस्था ! (इमौ) इन दोनों अर्थात् पति-पत्नी को (इह) इस गृहस्थाश्रम में (सं नुद) इकट्ठे रहने, एक-दूसरे के साथ रहने की प्रेरणा कर, (दम्पती) क्योंकि पति-पत्नी (चक्रवाका= चक्रवाकौ, इव) चकवा-चकवी पक्षियों के जोड़े के सदृश है। (एनौ) ये दोनों (प्रजया) उत्तम सन्तानों वाले, (स्वस्तकौ) उत्तम घरों वाले, विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त हों, भोगें।

[इन्द्र=इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)। प्रजया= प्रजया सम्बद्धौ। "प्रजावन्तौ" (पैप्पलाद शाखा)]

व्याख्या—विवाह-बन्धन में, पति और पत्नी को व्यवस्थित रखना, राजनियमों द्वारा होता है। राजकीय व्यवस्था के न होने पर यह सम्बन्ध दृढ़ नहीं रह सकता। विषय वासना आदि कारण इस सम्बन्ध को शिथिल कर दें, यदि राजदण्ड का भय इस में बाधक न हो। इस उद्देश्य से मन्त्र में राजा या राजकीय-व्यवस्था का आश्रय, पति-पत्नी के एक-दूसरे के साथ दृढ़-बद्ध रहने में, लिया गया है।

दाम्पत्य-सम्बन्ध अर्थात् पति-पत्नी के सम्बन्ध को स्थिर द्योतित करने के लिए, मन्त्र में, चकवा-चकवी को आदर्शरूप में पेश किया गया है। चकवा-चकवी के दाम्पत्य-सम्बन्ध का वर्णन संस्कृत साहित्य में बहुत हुआ है। इन पक्षियों में नर-मादा का सम्बन्ध यावज्जीवन स्थिर रहता है। एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा, किसी अन्य नर-मादा के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, और दोनों के जीवित रहते इन का पारस्परिक नर-मादा का सम्बन्ध कभी व्यभिचरित नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्यों में भी पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थिर रहना चाहिये, अर्थात् इन में एक पत्नीव्रत तथा एक-पतिव्रत का नियम सुदृढ़ होना चाहिये।

पति-पत्नी का गृह सूना है यदि उन की कोई सन्तान नहीं। परन्तु जैसी-वैसी भी सन्तान गृहजीवन के सूनेपन को दूर नहीं कर सकती। प्रजा अर्थात् प्रकृष्ट सन्तान ही गृहजीवन को वास्तविक रूप दे सकती है।

सजा-सजाया घर उत्कृष्ट नहीं यदि उस में प्रकृष्ट और सद्गुणी सन्तानों का वास नहीं। वैदिक गृहस्थ का उद्देश्य उत्तम सन्तानें हैं।

गृहस्थ जीवन में संयम का भी उचित ध्यान होना चाहिये। गृहस्थ जीवन अधिकार प्राप्त लम्पटता का जीवन नहीं। उचित और विहित संयम के रहते ही पति-पत्नी के दीर्घायु पर, भोग के कारण, कोई अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता। परिणामरूप में इन दोनों की आयु १०० वर्षों तक की होनी अधिक सम्भावित हो जाती है।

सफाई तथा शुद्धि

१२९. यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ॥६५॥

(आसन्द्याम्) कुर्सी आदि बंठने की वस्तुओं पर, (उपधाने) सिरहानों, तकियों तथा गद्दियों पर, (उपवासने) उपवास व्रत की अवस्था में, या (वासने, उप) बसे घर में उपस्थित वस्तुओं पर (यत्) जो मलिनता का कृत्य (कृतम्) कर दिया गया है उसे, तथा (विवाहे) विवाहकाल में (याम्) जिस (कृत्याम्) काट-छांट रूपी क्रिया को (चक्रुः) कर्मचारियों आदि ने किया है (ताम्) उसे, (आस्नाने) पूर्ण स्नान द्वारा शुद्ध कर (नि दध्मसि) उन उन वस्तुओं को उन के नियत स्थानों में हम रख देते हैं।

[मन्त्र में "यत्" द्वारा "कृत्यम्" का निर्देश किया है, और "याम्" द्वारा "कृत्या" का। "कृत्या" शब्द "कृ" धातु द्वारा निष्पन्न होने पर "कर्म" अर्थ का वाचक है, और "कृत्" धातु द्वारा निष्पन्न होने पर काट-छांट अर्थ का भी वाचक है। विवाह काल में सब्जी आदि के काटने, तथा अन्य कारणों से मल एकत्रित हो जाता है, तथा विवाहेतर काल में भी घर की वस्तुओं पर मल चढ़ जाता है, उन्हें जल द्वारा धो कर और शुद्ध कर पुनः उन्हें नियत स्थानों में रखने का उपदेश मन्त्र में दिया है।

सफाई तथा शुद्धि

१३०. यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥६६॥

(संभलस्य) सम्यक् भाषी अर्थात् मधुरभाषी वर के (विवाहे) विवाह काल में [वर के घर में], जो (दुष्कृतम्) घर को दूषित करने वाला, (यद्) तथा जो (शमलम्) शान्ति को भंग करने वाला मल एकत्रित हो गया है, (च) और (वहतौ) प्रयाणकाल में रथ में स्थित वधू [के घर] में (यत्) जो दुष्कृत और शमल एकत्रित हो गया है,—जोकि (दुरितम्) बुरे परिणामों अर्थात् रोगों को पैदा करता है,–(तत्) उसे (वयम्) हम [दोनों घरों के लोग] (कम्बले) जल में (मृज्महे) धो डालते हैं, जल द्वारा शुद्ध कर देते हैं।

[शमलम्=शम् (शान्ति, सुख)+अलम् (समाप्त कर देना)। शमलम्=Impurity (आप्टे)। वहतौ=वहतु का अर्थ है, रथ। "रथस्थ वधू" वहतु का लाक्षणिक अर्थ है। यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्चाः= मञ्चस्थाः पुरुषाः। संभलस्य=सम् (सम्यक्)+भल (परिभाषणे)। कम्बले=जले। कम्=सुखकारी+बलम्=बलकारी च। कम्बलम्= Water (आप्टे)। कम्बलम्=उदकम् (उणा० १।१०७, महर्षि दयानन्द)। संभल:=(१४।१।३१)]

शुद्धि से आयु की वृद्धि

१३१. संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६७॥

(संभले) सम्यक्-भाषी अर्थात् मधुरभाषी वर के [घर] में (दुरितम्) बुरे परिणामों अर्थात् रोगों को पैदा करने वाले (मलम्) मल को (कम्बले) जल में (सादयित्वा) स्थापित कर के (वयम्) हम गृहवासी (यज्ञियाः) यज्ञकर्मों के करने के योग्य (शुद्धाः) शुद्ध (अभूम) हो गए हैं, यह शुद्धि (नः) हम गृहवासियों की (आयुः) आयु को (तारिषत्) बढ़ाए।

[मन्त्र में वर के घर की केवल शुद्धि का वर्णन नहीं किया। इस का वर्णन मन्त्र ६६ में हो चुका है। वर के घर की शुद्धि का पुनः वर्णन इस लिये हुआ है कि विवाह के पश्चात् वधू ने वर के घर रहना है, अतः उस की शुद्धि अधिक अपेक्षित है।

मलिन अवस्था में गृहस्थी यज्ञकर्मों का अधिकारी नहीं होता, शुद्धि से आयु की वृद्धि भी होती है]।

कंघे द्वारा केशशुद्धि

१३२. कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥६८॥

(यः) जो (एषः) यह (कृत्रिमः) कारीगर का बनाया हुआ, (शतदन्) सौ दन्तों वाला (कण्टकः) कंघा है, वह (अस्याः) इस वधू के (केश्यम्) केशों के (मलम्) मल को (अप लिखात्) दूर करे, (शीर्षण्यम्) और सिर के मल को (अप) दूर करे।

[कण्टकः संस्कृत में कङ्कतः=कंघा। कङ्कत शब्द कण्टक का अपभ्रंश है]

व्याख्या—वधू को चाहिये कि वह कंघे का प्रयोग प्रतिदिन करे। कंघे से केशों का मल दूर होता है, तथा सिर के अर्थात् सिर के केशों की जहां जड़ें होती हैं वहां पर जमामल भी दूर होता है।

अग्नि द्वारा यक्ष्मा की निवृत्ति

१३३. अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्व१न्तरिक्षम्।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥६९॥

(अस्याः) इस वधू के (अङ्गात्, अङ्गात्) प्रत्येक अङ्ग से (वयम्) हम (यक्ष्मम्) यक्ष्म-रोग को (अप, नि दध्मसि) दूर करते हैं। (तत्) वह यक्ष्मा (पृथिवीम्) शरीर और पृथिवी को (मा, प्रापत्) न प्राप्त हो, (उत) और (मा) न (देवान्) इन्द्रियों को और विद्वानों को प्राप्त हो, (दिवम्) मस्तिष्क को और द्युलोक को, तथा (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) उदर को और आकाश को (मा, प्रापत्) न प्राप्त हो। (अपः) शरीर के रस-रक्त को और जलों को (अग्ने) हे अग्नि! (एतत्) यह (मलम्) यक्ष्म रूपी मल (मा, प्रापत्) न प्राप्त हो, (यमम्) पति-पत्नी रूपी जोड़े को और वायु को, (च) तथा (सर्वान् पितॄन्) सब बुजुर्गों को और सब ऋतुओं को (मा, प्रापत्) न प्राप्त हो।

[पृथिवीम्=पृथिव्याः शरीरम् (अथर्व० ५।१०।८), तथा प्रसिद्ध पृथिवी। देवान्=इन्द्रियां "नैनद्देवा आप्नुवन्"(यजु०४०।४),तथा "विद्वांसो

वं देवाः" (शतपथ ३, ७, ३।१०), दिवम्=मूर्धा, सिर, मस्तिष्क, "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२), "शीर्ष्णो: द्यौः समवर्तत (यजु० ३१।१३), तथा प्रसिद्ध द्युलोक। अन्तरिक्षम्=उदर, "अन्तरिक्षमुतोदरम्" (अथर्व० १०।७।३२), "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" (यजु० (३१।१३), तथा प्रसिद्ध अन्तरिक्ष। अपः=रस-रक्त (अथर्व० १०।२।११), तथा प्रसिद्ध जल। यमम्=जोड़ा अर्थात् पति-पत्नी, तथा वायु (यमेन वायुना[1])। पितॄन्= माता-पिता आदि, तथा "ऋतवः पितरः" (शतपथ ६।४।३।८)]

व्याख्या—स्त्रियों के कर्त्तव्यों का केन्द्र घर होता है। घर का वायु-मण्डल यदि मलिन तथा दूषित हो तो इस का प्रभाव स्त्रियों पर अधिक सम्भावित होता है। इस लिये मन्त्र में यक्ष्म को मल कहा है। रोग-कीटाणु भी मल के ही परिणाम होते हैं। यक्ष्मरोग भयानक रोग है। यह शरीर के किसी भी अङ्ग में उत्पन्न हो सकता है। किसी भी इन्द्रिय, मस्तिष्क, उदर, या समग्र शरीर को तथा शरीर के रस-रक्त को प्राप्त होकर उसे दूषित कर देता है।

यक्ष्मरोग संक्रामक है। पति-पत्नी के जोड़े में से किसी को भी यह रोग हो जाने पर दूसरे को भी इस रोग की प्राप्ति की सम्भावना बनी रहती है। संक्रामक होने के कारण यह रोग घर के अन्य निवासियों में भी फैल सकता है।

इस रोग को दूर करने का उपाय मन्त्र में दर्शाया है, वह है,—अग्नि तथा गार्हपत्य, आहवनीय अग्नियां घर में गार्हपत्याग्नि के रहने और उसके द्वारा अग्निहोत्र तथा ऋतु यज्ञों के करते रहने से, तथा ऋत्वनुकूल ओषधियों की आहुतियां देने से यक्ष्मा आदि रोगों का विनाश किया जा सकता है। सूर्य के उदयकाल तथा अस्तकाल की रश्मियों के सेवन से भी यक्ष्मरोग दूर किया जा सकता है (अथर्व० २।३२, ३३।—)। सूर्य भी अग्निरूप है।

मन्त्र का यह भी अभिप्राय है कि रोगी के मल, अर्थात् मल-मूत्र, बलगम आदि को इधर-उधर न बखेर कर, अग्नि में जला देने पर, यक्ष्म-रोग पृथिवी के अन्यभागों, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा जल आदि में फैल नहीं सकता।

१. सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६; पृष्ठ ३६१, रामलाल कपूर ट्रस्ट।

पत्नी का पति द्वारा बन्धन

१३४. सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम्
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ।७०।।

हे पत्नी ! (पृथिव्याः) पृथिवी की (पयसा) सारभूत वस्तुओं के प्रदान द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) अपने साथ मैं बान्धता हूं, (ओषधीनाम्) ओषधियों की (पयसा) सारभूत वस्तुओं के प्रदान द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) अपने साथ मैं बान्धता हूं, (प्रजया) प्रजा द्वारा, (धनेन) और धन के प्रदान द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) अपने साथ मैं बान्धता हूं, (संनद्धा) मेरे साथ बन्धी हुई (सा) वह तू (इमम्) इस (वाजम्) बलकारी अन्न को (आ सनुहि) मुझे दिया कर।

[वाजम्=बलनाम (निघं० २।९), तथा अन्ननाम (निघं० २।७)। सनुहि=षणु दाने। नह्यामि=नह बन्धने]

व्याख्या—विवाह संस्कार पत्नी को पति के साथ, तथा पति को पत्नी के साथ बान्ध देता है। यह सांस्कारिक-बन्धन है। इस सांस्कारिक बन्धन के होते हुए भी गृहस्थ जीवन में यदि पत्नी को पति के साथ बान्धने के अन्य साधन नहीं हैं तो यह सांस्कारिक बन्धन ढीला भी पड़ जाता है। सांस्कारिक बन्धन के अतिरिक्त मन्त्र में ४ और बन्धन दर्शाए हैं। पृथिवी द्वारा बन्धन ओषधियों द्वारा बन्धन, प्रजा द्वारा बन्धन तथा धन द्वारा बन्धन। पृथिवी की जो सारभूत अर्थात् उत्तमोत्तम वस्तुएं हैं वे पृथिवी के पयोरूप हैं। इन पार्थिव वस्तुओं के प्रदान द्वारा पति, पत्नी को अपने साथ बान्धे। इसी प्रकार ओषधियों की पयोरूप वस्तुएं हैं—नानाविध खाद्य तथा पेय पदार्थ। गृहस्थ-जीवन में इन के अभाव द्वारा भी, पति-पत्नी का पारस्परिक बन्धन ढीला पड़ जाता है। प्रजा अर्थात् सन्तानों का होना बन्धन का सर्वोत्तम साधन है। सन्तानों पर माता और पिता का एक जैसा प्रेम होता है। इस कारण पति-पत्नी परस्पर बन्धे रहते हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य, पशु सम्पत् तथा मकान आदि सम्पत् भी परस्पर के बन्धन में सहायक होते हैं। धन के अभाव में एक बन्धु दूसरे का परित्याग भी कर सकता है। इस लिये पति धनोपार्जन में सदा यत्नवान् रहे।

मन्त्र में प्रजा द्वारा बन्धन का एक और भी अभिप्राय है। सांस्कारिक बन्धन के रहते भी यदि सन्तान नहीं हुई, और इस से यदि पति में नपुंसकता और पत्नी में वन्ध्यता प्रमाणित हो जाय, तो यह सम्बन्ध शास्त्रविधि या कानून के द्वारा विच्छिन्न भी हो सकता है। इस लिये भी, प्रजा का होना, पारस्परिक बन्धन में विशेष कारण है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध

१३५. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥७१॥

(अहम्) मैं पति (अमः) ज्ञानवान् (अस्मि) हूं, हे पत्नि! (त्वम्) तू भी (सा) वह है, अर्थात् ज्ञानवती, (अहम्) मैं पति (साम) सामगानरूप (अस्मि) हूं, हे पत्नि! (त्वम्) तू (ऋक्) ऋचारूप है, (अहम्) मैं पति (द्यौः) द्युलोकरूप हूं, हे पत्नि! (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवीरूप है। (तौ) वे हम दोनों (इह) इस गृहस्थ जीवन में (सं भवाव) परस्पर की संगति में रहें, और (प्रजाम्) उत्तम-सन्तानें (आजनयावहै) उत्पन्न करें।

[अमः=अम् का अर्थ है, गति। गति के ३ अर्थ होते हैं,—ज्ञान, गति और प्राप्ति। यहां "ज्ञान" अर्थ "संगत" होता है॥ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में "अमः" का अर्थ महर्षि दयानन्द ने "ज्ञान-स्वरूप" किया है]

व्याख्या—सूर्यासूक्तों में सूर्या-ब्रह्मचारिणी और आदित्य-ब्रह्मचारी का विवाह आदर्श-विवाह दर्शाया है। ये दोनों ब्रह्मचर्याश्रम के दीक्षान्त-संस्कार द्वारा दीक्षित हैं, इस लिये दोनों ज्ञानसम्पन्न हैं। पति यह दर्शाता है कि हम दोनों ज्ञान सम्पन्न हैं, इस लिये ज्ञानपूर्वक हम दोनों ने परस्पर विवाह की अनुमति दी है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध साम-और-ऋक् द्वारा दर्शाया है। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा है कि "**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**", अर्थात् ऋक् या ऋचा पर आरूढ़ हुआ साम गाया जाता है। अतः ऋक्[1] आश्रय है और साम[1]

---

१. ऋक् और साम (अर्थात् राग) का परस्पर वही सम्बन्ध है जोकि गीत और राग-रागिनी का परस्पर सम्बन्ध होता है। एक गीत कई रागों में गाया जा

आश्रित। इस लिये गृहस्थ जीवन में पत्नी आश्रय है और पति आश्रित। इस समग्र मन्त्र का वक्ता पति है। वह अपने मुख से यह स्वीकार करता है कि उस के गृहस्थजीवन का आश्रय उस की पत्नी हैं।

गृहस्थ जीवन में पति और पत्नी के अपने अपने कर्त्तव्यों को दर्शाने के लिए द्यौः और पृथिवी का दृष्टान्त दिया है। गृहस्थ में पति द्यौः है और पत्नी पृथिवी। द्यौः उत्पत्ति में सहायक है परन्तु उत्पत्ति का वास्तविक स्थान पृथिवी है। द्यौः उत्पत्ति में निमित्त कारण है, परन्तु पृथिवी उत्पत्ति में उपादान कारणरूप है। द्यौः और पृथिवी के रूपक में एक और बात भी सूचित की है। द्यौः positive शक्ति का आधार है, और पृथिवी negetive शक्ति का आधार है। क्योंकि द्यौः से शक्ति आती है, और पृथिवी उस शक्ति का ग्रहण करती है। इसे उपनिषद् में प्राण-और-रयि शब्दों द्वारा सूचित किया है। यथा "स मिथुनमुत्पादयते, रयिं च प्राणं च, इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" (प्रश्न० उप० १।४।५)। इसी लिये मन्त्र (१४।१।२३,२४) में पति और पत्नी को सूर्य और चन्द्रमा के रूप से भी वर्णित किया।

विवाहेच्छा और पुत्रैषणा

१३६. जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥७२॥

(नौ) हम दोनों प्रकार के अर्थात् पुरुषजाति के और स्त्रीजाति के (अग्रवः) अविवाहित-पुरुष और अविवाहित स्त्रियां क्रम से अर्थात् पुरुष तो (जनियन्ति) स्त्री जनों को चाहते हैं, और पुरुषजनों को स्त्रियां चाहती हैं। और विवाहित हो जाने पर (सुदानवः) उत्तम-दानी हो कर, (पुत्रियन्ति) पुत्रों की इच्छा करते हैं। (अरिष्टासू) निज प्राण-शक्ति का विनाश न करते हुए हम दोनों (बृहते, वाजसातये) महा-बल की प्राप्ति तथा महा-अन्नदान के लिये (सचेवहि) एक-दूसरे के संगी बने रहें।

सकता है। पर गीत का स्वरूप एक स्थिर रूप होता है। ऋक् का अर्थ है "छन्दोमयी रचना"। छन्दोबद्ध मन्त्रों पर साम अर्थात् राग गाया जाता है। अतः ऋक् आश्रय है, और साम आश्रित।

[जनियन्ति=जन+क्यच् (इच्छा)। जन=स्त्रीजन, तथा पुरुषजन। जन शब्द का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों के लिये होता है। यथा सखी-जनः, अबलाजनः, दासजनः (आप्टे)। अग्रवः=अग्रु (unmarried, आप्टे)। पुत्रियन्ति=पुत्र+क्यच् (इच्छा)। पुत्र=पुत्र और पुत्री। यथा "अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादाः" (निरु० ३।१।३) में "मिथुनाः पुत्राः" द्वारा पुत्र और पुत्री दोनों को पुत्राः कहा है। सुदानवः=सद्गृहस्थ के लिए मनु ने पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है। विना दान भावना के, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ आदि नहीं हो सकते। अरिष्टासू=अ+रिष् (हिंसा)+क्त+असु (प्राण), "अस्तः शरीरे" (निरु० ३।२।८)। वाजसातये=वाजः अन्ननाम (निघं० २।७), बलनाम (निघं० २।९)+साति (षण संभक्तौ, षणु दाने)।]

व्याख्या—पुरुषों और स्त्रियों में से प्रत्येक को स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे अपने सङ्गी-साथी को चुनें। पति को पत्नी की, और पत्नी को पति की इच्छा का होना, प्राकृतिक नियम है, स्वभावसिद्ध विधान है।

जैसे पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के साथ रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है, वैसे सन्तान की इच्छा भी पुरुष-स्त्री को स्वभावतः होती है। इसी से सब प्राणियों की वंशपरम्पराएं अनादिकाल से चल रही हैं। उच्च कोटि के स्त्री-पुरुष तो इच्छापूर्वक यथेच्छ सन्तानें चाहते हैं, शेष व्यक्ति अपने अपने स्वभाव से प्रेरित हो कर सन्तानें पैदा करते हैं। वैदिक दृष्टि में पुत्रैषणा पितृ-ऋण चुकाने के लिए है। पितृ-ऋण सामाजिक ऋण है। समाज को उत्तम सन्तानें समर्पित कर पितृ-ऋण चुकाया जा सकता है।

वैदिक गृहस्थी का धन-ऐश्वर्य भी समाजोपकार के लिये है, केवल निज-भोग के लिये नहीं। पंचमहायज्ञों का दैनिक अनुष्ठान वैदिक गृहस्थी का परम कर्तव्य है। चार आश्रमों में से तीन आश्रम वैदिक गृहस्थी पर ही आश्रित हैं। इसलिये मन्त्र में सद्गृहस्थों के लिये "सुदानवः" कहा है। इसी लिये वैदिक पति-पत्नी मन्त्र में कहते हैं कि हम दोनों अन्नदान के लिये परस्पर-संगी बने रहें (बृहते वाजसातये सचेवहि)।

मन्त्र में "अरिष्टासू" पद पति-पत्नी का विशेषण है। इस विशेषण द्वारा वे संकल्प करते हैं कि गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी हम दोनों

की प्राणशक्ति का विनाश न हो। गर्भपात की विधियां, या गर्भविरोध की विधियां प्राणविनाश की विधियां हैं। वैदिक दृष्टि में संयम और ब्रह्मचर्य ही ऐसी विधि है जो कि गर्भविरोध की सर्वोत्तम विधि है, जिसके द्वारा कि गृहस्थी अरिष्टासू बनते हैं, और प्राणरक्षा कर दीर्घजीवी तथा स्वस्थ रहते हैं। इसलिये भी मन्त्र में "**बृहते वाजसातये**" पद पठित हैं, इन का अर्थ है "महाबलप्राप्ति" के लिये हम दोनों परस्पर-संगी बने रहें। वाजः=अन्न तथा बल (निघण्टु)।

वधू को पितरों का उपदेश

१३७. ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वे संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥७३॥

(ये) जो (पितरः) बुजुर्ग (वधूदर्शाः) वधू के दर्शन के निमित्त (इमम्) इस (वहतुम्) वधू के रथ के समीप (आ, अगमन्) आए हैं, (ते) वे (संपत्न्यै) पति की सङ्गिनी (अस्यै वध्वै) इस वधू के लिये (प्रजावत्) उत्तमसन्तानोंवाले (शर्म) सुख का आशीर्वाद (यच्छन्तु) देवें।

मन्त्र में "संपत्न्यै" शब्द द्वारा वधू के पितृगृह से पति-पत्नी के इकट्ठे आने का वर्णन हुआ है। वे रथ पर बैठ कर विवाहगृह से चल कर, पति-गृह को पहुंचते हैं। उस समय वर-वधू के दर्शनार्थ जो लोग एकत्रित होते हैं उन में से बुजुर्ग लोग आशीर्वाद देते हैं कि हे वधू! तू उत्तम-सन्तानों वाली हो जो कि तेरे लिये, गृहवासियों के लिये, तथा जगत् के लिये सुख-शान्ति देनेवाली हों।

वधू को पितरों का उपदेश

१३८. येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥७४॥

(या) जो (पूर्वा) पूर्वावस्था अर्थात् ब्रह्मचर्यावस्था में (रशनायमाना) रशना अर्थात् मेखला धारण किये हुए भी, वह (इदम्) इस पतिगृह में (आ अगन्) आई है, (अस्यै) इस वधू के लिये (इह) इस पतिगृह में (प्रजाम्, द्रविणम्, च) उत्तम सन्तान और धनैश्वर्य का आशीर्वाद (दत्त्वा) दे कर, (ताम्) उसे (अगतस्य) पहिले न चले हुए (पन्थाम्)

गृहस्थ-मार्ग के (अनु) अनुसार, (वहन्तु) हे पितरो ! बुजुर्गो ! आप चलाये । (इयम्) यह वधू (विराट्) शोभायमाना प्रकृतिरूपा है, यह (सुप्रजाः) उत्तम-सन्तानों को उत्पन्न करे। क्योंकि (अति, अजैषीत्[1]) इसने दुर्वासनाओं पर महा-विजय प्राप्त की है।

[पूर्वा रशनायमाना=इसके द्वारा सूर्या की ब्रह्मचर्यावस्था का निर्देश किया है। वेदानुसार कन्या के लिये भी ब्रह्मचर्याश्रम विहित है। यथा "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अथर्व० ११।५।१८)। विराट् =(अथर्व० १४।२।१५)। प्रकृतिरूपा वधू]

व्याख्या—कन्या के वृद्धपुरुष, वरपक्ष के बुजुर्गों को कहते हैं कि इस वधू ने अभी तक ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों का पालन किया है, गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों से यह अभी अनभिज्ञ है। इसे गृहस्थ के कत्तव्यों का ज्ञान कराइये। ऐसी शिक्षा दीजिये जिस से यह वधू उत्तम-सन्तानों वाली हो, तथा धनैश्वर्य का सदुपयोग कर सके। साथ ही यह वधू विराट्रूपा है, प्रकृतिरूपा है। प्रकृति जिस प्रकार संसार को माता है, इसी प्रकार यह वधू भी उत्तमोत्तम सन्तानों की माता बने । ताकि कहा जा सके कि वधू गृहस्थपथ पर चलते हुए महाविजय प्राप्त की है।

वधू को पितरों का आशीर्वाद

१३९. प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥७५॥

हे वधू ! (सुबुधा) सुबोध तू (प्रबुध्यस्व) प्रबोध को प्राप्त हो। (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुवाली होने के लिये, (शतशारदाय) और १०० वर्षों तक जीने के लिये तू (बुध्यमाना) बोध-प्रबोध को प्राप्त करती रह। (गृहान्) नाना कमरोंवाले पतिगृह को, या पति के गृहवासियों को (गच्छ) प्राप्त हो, (यथा) जिससे कि तू (गृहपत्नी) घर की स्वामिनी (असः) हो सके। (सविता) जगत् का उत्पादक पिता (ते) तेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे।

---

१. इस वधू ने प्रथमाश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों के पालन में महाविजय प्राप्त की है, यह गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों के पालन में भी महाविजय प्राप्त करे—ऐसी आशा पितरों की है।

[सुबुधा=सु+बुध्+कः (इगुपधत्वात्; अष्टा० ३।१।१३५)+टाप्]

व्याख्या—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को बोध कहते हैं, और योगसाक्षात्कार को प्रबोध कहते हैं। उपनिषदों में परमात्मसाक्षात्कार को प्रबोध का विषय माना है। यथा "प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते" (प्रश्नोपनिषद्) अर्थात् परमात्मा प्रतिबोध द्वारा जाना या प्राप्त किया जाता है। वेद में बोध और प्रतिबोध को दो ऋषि कहा है। यथा "ऋषी बोधप्रतीबोधौ" (अथर्व० ५।३०।१०)। क्योंकि बोध और प्रतिबोध द्वारा आर्षदृष्टि का विकास होता है। व्याख्येय मन्त्र में प्रतिबोध को प्रबोध कहा है (प्रबुध्यस्व)।

वधू के दर्शनार्थ आए हुए पितृलोग वधू को उपदेश या आशीर्वाद देते हैं कि, हे वधु ! तू सुबुधा है, अच्छी पढ़ी-लिखी है। ब्रह्मचर्याश्रम में सूर्या-ब्रह्मचारिणी बन कर तूने बोध का उपार्जन किया है, तू ने प्रबोध की प्राप्ति के लिये भी यत्न करते रहना। गृहस्थाश्रम में प्रबोध के मार्ग पर भी पग बढ़ाना।

परन्तु प्रबोध की प्राप्ति में कहीं बोध की प्राप्ति को शिथिल न कर देना। आयु को दीर्घ करने के लिये नए-नए बोध की प्राप्ति के लिये भी यत्न करते रहना। इस प्रकार बोध के साथ प्रबोध का, और प्रबोध के साथ बोध का समन्वय सदा करते रहना।

अब हे वधु ! तू रथ से उतर और अपने पतिगृह में प्रवेश कर। यह पतिगृह अब से तेरा है। तू इस की स्वामिनी बन। अन्त में पितृलोग वधू की दीर्घायु चाहते हुए कहते हैं कि परमेश्वर तेरी आयु को दीर्घ करे।

सूक्त १ के मन्त्र=६४
सूक्त २ के मन्त्र=७५
कुल= १३९

दूसरा अनुवाक समाप्त

चौदहवां काण्ड समाप्त

श्री पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्डकृत
"अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड का"
हिन्दी भाष्य पूरा हुआ।

पन्द्रहवां काण्ड[1]

सूक्त १

अध्यात्मम् । व्रात्यदैवतम्

१४०. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥१॥

(व्रात्यः) व्रती तथा मनुष्यों[2] और प्राणियों का हितकारी परमेश्वर (आसीत्) प्रलय काल में था । (ईयमानः) प्रकट-क्रियावान् होते (एव) ही (सः) उस ने (प्रजापतिम्) निज प्रजापति स्वरूप को (सम्, ऐरयत्) प्रेरित किया ।

[व्रात्य के दो अर्थ हैं, व्रती तथा मनुष्यों और प्राणियों का हितकारी । परमेश्वर "व्रतानां व्रतपति" है, महाव्रती है । नियत समय पर सृष्टि की रचना, उस का पालन तथा संहार, ऋतुओं का परिवर्त्तन, ग्रह आदि की गतियां, न्यायपूर्वक कर्मफलप्रदान आदि कार्य परमेश्वर के महाव्रत के सूचक हैं । ईयमानः=ईङ् गतौ । गति=क्रिया । **"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"** (श्वेता० उप० ६।८) पर महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जिस में अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता । इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी है । जितने देशकाल में क्रिया करनी उचित

१. समग्रकाण्ड गद्यप्रायः है । अतः छन्दोनिर्देश नहीं किया । यद्यपि अनुक्रमणिका में छन्दोनिर्देश किया है ।

२. व्राताः मनुष्यनाम (निघं० २।३), तथा व्रातः सङ्घातः, प्राणिवर्गः तस्य हितकारी । मनुष्यों को बुद्धि, विचारशक्ति, तथा वेदज्ञान देने द्वारा परमेश्वर मनुष्यों का हित करता है । तथा समग्र प्राणियों को, कर्मफलयोगक्रम से समुन्नतिपथ पर ले जाने के कारण, उन का हितकारी है ।

समझता है उतने ही देशकाल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून । क्योंकि वह विद्वान् है" (सत्यार्थ प्रकाश समु० ७) । प्रलयावस्था में परमेश्वरीय स्वाभाविक क्रिया अनभिव्यक्तावस्था में रहती है । परमेश्वर जब सृष्ट्युत्पादनाभिमुख होता है तब स्वाभाविक क्रियाशीलता अभिव्यक्त हो जाती है ।

एव=जब ही परमेश्वर की क्रियाशीलता अभिव्यक्त होती है तत्काल ही सृष्ट्युत्पादन आरम्भ हो जाता है, और परमेश्वर का प्रजापति स्वरूप प्रकट होने लगता है । क्यों कि विना प्रजा के, प्रजापतित्व स्वरूप की सत्ता नहीं हो सकती । परमेश्वर का नाम प्रजापति है । यथा **"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । देव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः"** (यजु० ३२।१) ।

१४१. स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥२॥

(सः) उस (प्रजापतिः) प्रजारक्षक ने (आत्मन्) अपने आश्रय में (सुवर्णम्) उत्तमवर्णों वाले प्रकृति-तत्त्व को (अपश्यत्) देखा, (तत्) उस प्रकृति-तत्त्व को (प्राजनयत्) उस ने सृष्टि पैदा करने में उन्मुख[1] किया ।

[सुवर्णम्=प्रकृति-तत्त्व उत्तम-वर्णों वाला है । श्वेता० उपनिषद् में प्रकृति को "अजा" अर्थात् अजन्मा कहा है, और इस के ३ घटकों अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् को 'शुक्ल, लोहित, और कृष्ण" कहा है । इस प्रकार इन तीन वर्णों का परस्पर मेल सुवर्ण रूप है, उत्तमवर्णों वाला है । **"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"** (अ० ४, खं० ५) ।

आत्मन्—अपने में, अर्थात् अपने आश्रय में । इसी भावना से प्रकृति को "स्वधा" भी वेदों में कहा है । स्वधा=स्व (परमेश्वर ने जिसे अपने आश्रय में)+धा (धारित किया हुआ है) । यथा "आनीदवातं स्वधया तदेकम्[2]", तथा "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्" (ऋग्वेद १०।१२९.२,५) ।

१. प्रलय में प्रकृति साम्यावस्था अर्थात् अनुत्पादनावस्थामें होती है, परमेश्वर ने सृष्ट्युत्पादनार्थं प्रकृति को साम्यावस्था से वैषम्यावस्थोन्मुख किया ।

२. प्रलयकाल में, स्वाश्रय में निहित प्रकृति के साथ वह एक ब्रह्मतत्त्व प्राणवान् था, उस काल में वायु आदि की सत्ता न थी ।

स्वधा अर्थात् स्वाश्रित-प्रकृति, निचली शक्ति है, और प्रयति अर्थात् परमेश्वर का प्रयत्न, ऊंची शक्ति, श्रेष्ठ शक्ति है।

अपश्यत्:—कारीगर किसी वस्तु का निर्माण करने से पूर्व उस वस्तु के कारणों को दृष्टिगत करता है। तदनन्तर वस्तु के निर्माण में प्रयत्नशील होता है। परमेश्वर ने भी जगत् के कारण प्रकृति तत्त्व को प्रथम दृष्टिगत किया, इस का ईक्षण या निरीक्षण किया। तदनन्तर उस प्रकृति तत्त्व को जगत् के निर्माणोन्मुख किया, "प्राजनयत्"। इसे ही वेदान्त दर्शन में "ईक्षतेर्नाशब्दम्"—द्वारा प्रकट किया है। तथा "**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**" (छान्दो० अ० ६, खं० २) में भी इसी तथ्य का कथन किया है।

१४२. तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद्ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत्सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥३॥

(तत्) वह प्रथमोत्पन्न तत्व (एकम्) एक रूप (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ललामम्) अभीप्सित सुन्दर (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (महत्) महत्तत्त्व (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ज्येष्ठम्) प्रथमोत्पन्न होने के कारण पश्चादुत्पन्न तत्त्वों से आयु की दृष्टि से ज्येष्ठ (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ब्रह्म) विस्तार में बृहत् (अभवत्) हुआ। (तत्) वह कालान्तर में (तपः) तप्तावस्थावाला (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (सत्यम्) (सत्यम्) सत्ता-सम्पन्न यथार्थ रूप (अभवत्) हुआ, अर्थात् वह मिथ्या या भ्रमरूप न था। (तेन) उस द्वारा (प्राजायत) परमेश्वर प्रजापतिरूप में प्रकट हुआ।

[महत्=मन्त्र में "महद्" द्वारा महत्तत्त्व का वर्णन हुआ है। यह प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम था। इसीलिये इसे "ज्येष्ठम्" कहा है। "**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्**" (सांख्य अ० १, सू० ६१) में "महत्" को "महान्" शब्द द्वारा सूचित किया है। यह महत्तत्त्व एकरूप हुआ। इस में सत्त्वगुण का प्राधान्य था। रजोगुण और तमोगुण केवल अत्यल्पमात्रा में थे, वे भी केवल महत्तत्त्व के स्वरूप की क्रियाशीलता और स्थिति बनाए रखने के लिये। सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण यह प्रकाशमय था—"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्"। इसलिये यह ललामरूप था। महत्तत्त्व को ही बुद्धि कहते हैं। यथा "उस (प्रकृति) से महत्तत्त्व बुद्धि, उस से अहङ्कार आदि" (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लस ८) में महत्तत्त्व को बुद्धि कहा है। यह समष्टि-बुद्धि है। इसी समष्टि-बुद्धि से अस्मदादि की व्यष्टि बुद्धियां या चित पैदा हुए हैं। महत्तत्त्व या समष्टि-बुद्धितत्त्व

विस्तार में बृहत् था, इसी लिये इसे ब्रह्म कहा है। बृंहति वर्धते तत् (उणा० ४।१४७)। यह महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व केवल प्रकाशमय था, प्रतप्तावस्था में न था। अस्मदादि की बुद्धियों के सदृश केवल प्रकाशमय था। अस्मदादि की बुद्धियां प्रकाशमय शीतलरूप हैं, प्रतप्तरूप नहीं। तपो ऽभवत् =कालान्तर में नाना विषमपरिणामों में से गुजरता हुआ महत्तत्व, तपोरूप हुआ, अग्निरूप हुआ। परिणाम रूप में अग्नि-तत्त्व-प्रधान विद्युत्, आग, सूर्य, नक्षत्र और तारागण अग्नि-प्रधान कार्य उत्पन्न हुए।

सत्यमभवत्=यह अग्नि प्रधान कार्य-जगत् सत्यस्वरूप हुआ। मायावादियों की दृष्टि से मायारूप या मिथ्या तथा भ्रमरूप नहीं है। वस्तुतः माया का अर्थ है प्रकृति। यथा "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० उप० ४।१०)।

प्राजायत्=इस सत्य और यथार्थ स्वरूप जगत् को पैदा कर, इस जगत् की विविध रचनाओं द्वारा परमेश्वर—प्रजापति हुआ। माता-पिता[1] न्यायकारी, कर्माध्यक्ष, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि स्वरूपों में प्रकट हुआ। परमेश्वर के सम्बन्ध में जब "जन्" धातु का प्रयोग हो तो उस से परमेश्वर का शारीरिक-जन्म न समझना चाहिये, जैसे कि अवतारवादी समझते हैं। क्योंकि परमेश्वर को "अकायम्, अव्रणम् और अस्नाविरम्" (यजु० ४०।८), अर्थात् कायरहित, कायिक दोषों व्रण आदि से रहित, तथा नस-नाड़ियों से रहित कहा है। तथा "स वा ऋग्भ्योजायत" (अथर्व० १३। अनु० ४। पर्याय ४। मन्त्र ३८) में ऋचाओं द्वारा उसे जनित अर्थात् प्रकट हुआ कहा है। ऋचाओं द्वारा परमेश्वर के गुणधर्म प्रकट होते हैं, इन द्वारा परमेश्वर का शारीरिक जन्म नहीं हो सकता।

१४३. सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ॥४॥

जगत् के उत्पन्न हो जाने पर (सः) वह प्रजापति-परमेश्वर (अवर्धत) गुणकर्मों की दृष्टि से बढ़ा, निज महिमा में बढ़ा, (सः) वह (महान्) महामहिमरूप (अभवत्) हुआ (सः) वह (महादेवः) देवाधिदेवरूप में (अभवत्) प्रकट हुआ।

१. त्वं नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे। (अथर्व० २०।१०८।२) मन्त्र में परमेश्वर के पिता तथा माता स्वरूपों का वर्णन हुआ है।

१४४. स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोभवत्॥५॥

(सः) वह परमेश्वर (देवानाम्) प्रकाशमान सूर्य आदि का (ईशाम् पर्यैत्) अधीश्वर अर्थात् शासक हुआ, (सः) वह (ईशानः) "ईशान" नाम से (अभवत्) प्रसिद्ध हुआ।

[ईशान का अर्थ है शासक। वह सब देवों का शासक हुआ, इसलिये वह महादेव तथा ईशान कहलाया]।

१४५. स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ।६॥

(सः) वह प्रजापति-परमेश्वर (एक व्रात्यः) अब तक अकेला-व्रात्य (अभवत्) था, (सः) उस ने (धनुःआदत्त) धनुष् ग्रहण किया, (तत्) वह धनुष् (इन्द्रधनुः एव) इन्द्रधनुष् ही है।

[एकव्रात्य=काण्ड १५, सूक्त २ से मानुषव्रात्यों का भी वर्णन हुआ है। परन्तु वर्तमान मन्त्र में वर्णित सृष्टि की अवस्था के समय, केवल प्रजापति ही एकमात्र व्रात्य था, जिस ने कि सृष्टि के उत्पादन का व्रत लिया हुआ था। जब मनुष्यसृष्टि हुई तब मानुषव्रात्य भी हुए।

धनुः—वर्षाकाल में अन्तरिक्ष में इन्द्रधनुष् मेघों में दृष्टिगोचर होता है। इस धनुष् द्वारा अग्नितत्त्व (तपोभवत्, मन्त्र ४) के पश्चात् अप्-तत्त्व अर्थात् जल की उत्पत्ति सूचित की है। अप्-तत्त्व के पश्चात्, पृथिवी ओषधियों, वनस्पतियों, अन्नों, रेतस् और प्राणी सृष्टि का सर्जन होता है। यथा **"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः, पुरुषः,स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"**(तैत्ति० आर० ८।२), सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १, पृ० २१, टिप्पणी ५, आर्यसमाज शताब्दी संस्करण,राम लाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़। ऋग्वेद (१।१९०।१) में **"ततः समुद्रो अर्णवः"** द्वारा भी अप्-तत्त्व की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गई है।

१४६. नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥७॥

(अस्य) इस इन्द्रधनुष् का (उदरम्) भीतर का भाग (नीलम्) नीला है, (पृष्ठम्) और पीठ अर्थात् बाहर का भाग (लोहितम्) लाल है।

१४७. नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥८॥

(नीलेन) नीले किरणसमूह द्वारा (एव) ही, (अप्रियम्) स्वराष्ट्र के साथ प्रेम न करने वाले अत एव अप्रिय (भ्रातृव्यम्[1]) भाई-की-सन्तानों-सदृश वर्तमान, परन्तु राष्ट्र के अन्तर्द्वेषी को (प्रोर्णोति) आच्छादित करता है, और (लोहितेन) लाल किरण समूह द्वारा (द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले अर्थात् परराष्ट्र के बाह्य शत्रु को (विध्यति) बींधता है (इति) यह (ब्रह्मवादिनः) वेदवेत्ता (वदन्ति) कहते हैं।

[७वां और ८वां मन्त्र राष्ट्रपरक हैं। राजा इन दोनों प्रकार के किरण समूहों का प्रयोग, शस्त्रास्त्ररूप में करे,—ऐसा कथन वेदवेत्ताओं का है। शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करने के लिये इन किरणों के प्रयोग का विधान, अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में भी हुआ है। यथा, **"इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा। इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि"** (८।८।२४) अर्थात् "इधर से जीत, इधर से विजयी बन, सम्यक्-विजय प्राप्त कर, विजयी बन, एतदर्थ (स्वाहा) युद्धयज्ञ में आहुतियां प्रदान कर। (इमे) ये हमारे सैनिक (जयन्तु) विजयी हों, (अमी) वे परराष्ट्र के सैनिक(पराजयन्ताम्) पराजित हों। (एभ्यः) इन निज प्रजाजनों के लिये (स्वाहा) युद्धयज्ञ में हमारी आहुतियां सुखदायक हों, और (अमीभ्यः) उन परराष्ट्र के प्रजाजनों के लिये (दुराहा) युद्धयज्ञ में उन की आहुतियां दुःखदायक हों। (नीललोहितेन) नीले और लाल किरणसमूह द्वारा (अमून्) उन अन्तःशत्रुओं और बाह्यशत्रुओं के (अभि) संमुख हो कर उन्हें (अवतनोमि) मैं आच्छादित करता हूं, अथवा उन के धनुषों की डोरियों को तनाव से रहित करता हूं।[2]

[स्वाहा=सु+आ+हा (ओहाक् त्यागे)। दुराहा=दुर्+आ+हा

१. "व्यन् सपत्ने" (अष्टा० ४।१।१४५)। सपत्न=एक-राष्ट्रपति के राष्ट्र के अन्तःशत्रु।

२. राष्ट्रों और उन में परस्पर युद्धों के वर्णन द्वारा, अर्थापत्त्या, उन से पूर्व प्राणियों तथा मनुष्यों की उत्पत्ति भी दर्शा दी है।

(ओहाक् त्यागे) । अथवा स्वाहा=सु+आ+हा (ओहाङ् गतौ)=सुगति । दुराहा=दुर्+आ+हा (ओहाङ्गतौ)=दुर्गति । नीललोहितेन=सायणाचार्य ने इस का अर्थ किया है "नीललोहितसूत्रेण"[1] अर्थात् नीले-और-लाल सूत्र द्वारा, धागे द्वारा । ऐसे सूत्र द्वारा शत्रुओं को आच्छादित तथा उन का वध, तथा उन पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है,—यह विचारणीय है । अवतनोमि, अवतानः=Cover (आप्टे)। इस अर्थ में मन्त्र ८ में "प्रोर्णोति" तथा मन्त्र ८।८।२४ में "अवतनोमि" पद एकाभिप्रायक प्रतीत होते हैं]

व्याख्या—वर्षाकाल में कभी कभी बादलों में इन्द्रधनुष् (Rainbow) दृष्टिगोचर होता है। जल के कणों के कारण सूर्य की किरणें फट कर सप्तरंगी धनुष् का निर्माण करती है। इस धनुष् की पीठ अर्थात् बाहिर का घेरा लोहितपट्टी का होता है, और अन्दर की पट्टी बैंगनी (violet) होती है, जिसे मन्त्र में नील कहा है। इन्द्रधनुष् में ७ रंगों की ७ पट्टियां निम्नलिखित क्रम में होती है। लाल (Red), पीत (yellow), नारंगी (orange), हरी (green), आकाशीय या आसमानी (blue), नीलपौदे के रंगवाली (indige), बैंगनी (violet) । मन्त्र में नील और लोहित पद नीली और लाल पट्टियों का निर्देश करते हैं। इन दो प्रकार की या इन दो के मध्यगत भी पट्टियों के सदृश किरणसमूहों का युद्ध में प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है,—इस का निर्देश मन्त्र में नहीं हुआ।

सप्तरंगी रश्मियों में लालरश्मियों के पूर्ववर्ती रश्मियों को Infrared कहते हैं, और बैंगनीरश्मियों के पश्चात्-वर्ती अर्थात् उत्तरवर्ती, या परवर्ती रश्मियों को Ultra-Violet कहते हैं। इन दो प्रकार की रश्मियों का प्रयोग द्वितीय-महायुद्ध में हुआ था। यथाः—

"Infra-red rays show the heating effect. Infra-red Photography Played an important part in warld-war II, in detec ing enemy in dark and finger prints on a piece of paper may be detected by sprinkling fluarescent

१. "नीललोहितेन" पद में समाहार द्वन्द्व है, और चूंकि मन्त्र ६ और ७ में नील और लोहित का सम्बन्ध वर्षा-कालीन इन्द्रधनुष् के साथ दर्शाया है, इसलिये "नील और लोहित" किरण-समूह ही सम्भव हैं, न कि सूत्र ।

powder on the paper and then looking it in the ultraviolet light" (Physics guide, P-310, Published by Raj Hans Prakashan Mandir Meerut), अर्थात् Infra-red रश्मियों द्वारा, द्वितीय महायुद्ध में, फोटो ले कर अन्धकार में भी शत्रुओं की खोज की गई थी। तथा कागज पर पड़ीं अङ्गुली-छापों पर एक प्रकार का चमकीला-चूर्ण डाल कर, Ultra-violet राश्मियों में उन की पर्खें की गई थीं। इसी प्रकार उक्त मन्त्रों में नीलो और लाल रश्मियों का प्रयोग भी युद्ध में किये जाने का निर्देश हुआ है।

इस प्रकार प्रलय से लेकर राष्ट्रों तक की उत्पत्ति में मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक क्रमों का वर्णन इस सूक्त में हुआ है। यह वर्णन परस्पर असम्बद्ध बाल प्रलाप है, या वैज्ञानिक तथ्य रूप, इस का निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं। वर्णन दुर्बोध, अस्पष्ट तथा गूढ़ अवश्य है।

सूक्त २

अध्यात्मम् । व्रात्यदेवतम्

१४८. स उद॑तिष्ठत॒ स प्राचीं॒ दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् ॥१॥

(सः) वह व्रात्य अर्थात् व्रती तथा मनुष्यहितकारी [संन्यासी] (उदतिष्ठत) उठा, प्रयत्नवान् हुआ, (सः) वह (प्राचीं दिशम्) पूर्व दिशा[1] के (अनु) साथ-साथ (व्यचलत्) विशेषतया चला या विचरा ।

[मन्त्र में किसी ऐतिहासिक वृत्त का वर्णन नहीं। प्ररोचनार्थ ऐतिहासिक ढंग के शब्दों में वर्णन किया है। यह केवल अर्थवाद है, काल्पनिक कथारूप है। अर्थवाद में किसी अभिप्रेत वस्तु की सिद्धि के लिये वस्तु का कथारूप में वर्णन किया जाता है।

उदतिष्ठत=यथा "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत" (कठोप०

१. सूक्त २ में संन्यासी के - पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशा में,—गमन का कथन किया है। इस कथन का अभिप्राय यह दर्शाना है कि संन्यासी यथासम्भव सर्वत्र जा कर सदुपदेश किया करे ।

१।३।१४) में उठने का अभिप्राय है,—यत्न करना । अनु=Along, Alongside (आप्टे), अर्थात् साथ-साथ । यथा "अनुगङ्ग वाराणसी । व्यचलत्=विशेषतया अर्थात् दूर तक । सूक्त २ में व्रात्यसंन्यासी का वर्णन है, यह अगले मन्त्रों से स्पष्ट हो जायगा] ।

१४९. तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥

(तम्, अनु) उस व्रात्य के साथ-साथ वा पीछे-पीछे (बृहत् च) बृहत् नामक सामगान, और (रथन्तरं च) रथन्तरनामक सामगान, (आदित्याः च) आदित्यकोटि के विद्वान्, (विश्वे च देवाः) और सब प्रकार के अन्य विद्वान् (व्यचलन्) चले ।

[बृहत् और रथन्तर वैदिक सामगानों के नाम हैं, जिस का कि प्राग्देश के साथ सम्बन्ध दर्शाया है । गानों का विशेष-विशेष काल, यथा—प्रातः काल मध्याह्न काल आदि, ऋतुओं तथा देश विशेष के साथ सम्बन्ध होता है । अभिप्राय यह कि व्रात्य-संन्यासी के साथ-साथ वैदिक गायक भी चले । इन सामगानों के मन्त्रों में जीवन सम्बन्धी विशिष्ट सदुपदेशों का भी वर्णन होता है । अनुयायी लोगों को गान, आह्लादप्रद होने के साथ-साथ उन्हें सदुपदेशों का लाभ भी देते हैं । व्रात्य के अनुयायी, आदित्य, आदि विद्वान् भी हुए] ।

१५०. बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥३॥

(वै) निश्चय से (सः) वह व्यक्ति, (बृहते च) बृहत् सामगानों (रथन्तराय च), और रथन्तरसामगानों, (आदित्येभ्यः च) आदित्यकोटि के विद्वानों (विश्वेभ्यः च देवेभ्यः) और अन्य सब विद्वानों के सत्संग से (आवृश्चते) अपने आपको पूर्णतया वञ्चित कर लेता है, (यः) जोकि (एवम्,-विद्वांसम्, व्रात्यम्) इस प्रकार के विद्वान् व्रात्य के (उप) समीप अर्थात् संगति में रह कर, (वदति) उस के साथ वाद-विवाद करता है ।

[महात्माओं के सदुपदेशों में श्रद्धा करनी चाहिये, वादविवाद नहीं । वादविवादी व्यक्ति महात्माओं की सत्संगति से रहित कर दिया जाता है]

१५१. बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति । तस्य प्राच्यां दिशि ॥४॥

(सः) वह श्रद्धालु व्यक्ति, (वै) निश्चय से, (बृहतः च) बृहत् सामगानों का (रथन्तरस्य च) और रथन्तर सामगानों का, (आदित्यानाम् च) आदित्य कोटि के विद्वानों का (विश्वेषाम् च देवानाम्) और अन्य सब विद्वानों का (प्रियं धाम) प्यारा (भवति) हो जाता है । (तस्य) उस व्रात्य संन्यासी की (प्राच्याम् दिशि) पूर्व दिशा में:—

१५२. श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥५॥

(श्रद्धा) श्रद्धा (पुंश्चली) पुरुष की सहचारिणी धर्मपत्नी के समान होती है, (मित्रः) मैत्रीभावना वाला व्यक्ति (मागधः) सामगायक होता है, (विज्ञानम्) ज्ञान-विज्ञान (वासः) वस्त्र होता है, (अहः) दिन (उष्णीषम्) पगड़ी, और (रात्री) रात्री (केशाः) सिर के केश, (हरितौ) मनोहारी सूर्य-चांद (प्रवर्तौ) दो वृत्ताकार कर्ण-कुण्डल, तथा (कल्मलिः) कुड्मल अर्थात् फलों की कलियां (मणिः) मणियां होती हैं ।

[प्रवर्तौ=प्र+वृत्+अच्=प्रकर्षेण वर्तुलौ वृत्ताकारौ । पुंश्चली=भाष्यकारों ने इस का अर्थ किया है,—व्यभिचारिणी स्त्री । श्रद्धा को व्यभिचारिणी स्त्री से रूपित या उपमित करना हास्यास्पद है । योगदर्शन व्यासभाष्य में श्रद्धा को माता कहा है जोकि योगी का कल्याण करनेवाली और उस की रक्षिका होती है, और उसे विपथगमन से बचाती रहती है । यथा "**श्रद्धा जननीव कल्याणी योगिनं पाति**" । तथा "**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**" (योग १।१०) में श्रद्धा को योगनिष्ठ होने का मुख्य साधन दर्शाया है]।

वासः=वस्त्र होता है शरीर की रक्षा तथा लाज रखनेवाला । संन्यासी के ज्ञान और विज्ञान उस की रक्षा करते, तथा उस की लाज रखते हैं । विज्ञानी महर्षि दयानन्द, लंगोट-धारी वस्त्रहीन संन्यासी बन कर, प्रथम प्रचार करते रहे । वैदिक-प्रथा का अनुकरण जैनी दिगम्बर संन्यासी भी करते हैं । नांगे साधु इस प्रथा के भ्रष्टरूप के उदाहरण हैं ।

उष्णीषम्=पगड़ी । संन्यासी की पगड़ी नहीं होती । उस के व्युप्त-केश-सिर पर चमकते दिन को उस की पगड़ी कहा है । शुक्लवर्ण की पगड़ी श्रेष्ठ होती है । दिन शुक्लवर्ण वाला होता है । अतः वह पगड़ीरूप है । व्युप्तकेशी संन्यासी के केश नहीं होते । केशों के कृष्णवर्ण के कारण रात्री को केशरूप कहा है । कृष्णकेश के वर्णन से यहां युवा[1] वस्था के संन्यास का वर्णन प्रतीत होता है । उष्णीषम्[2]=उष्णता का अपनयन करने वाली ।

[कुड्मल=Blossom of a flower; buds (आप्टे)। कुड्मल किंचिद् विकसित पुष्प (उणा० १।१०९, म० दयानन्द)]

१५३. भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥६॥

संन्यासी का (भूतम् च) भूतकाल में हुआ (भविष्यत् च) और भविष्य में होनेवाला व्रतमय और परोपकारी जीवन (परिष्कन्दौ) इस के चारों ओर से रक्षक होते हैं, (मनः) मन (विपथम्) विविध पथगामीरथ होता है, विविध प्रकार के कठिन-मार्गों में भी ले चलनेवाला रथ होता है ।

[संन्यासी के व्रतमय तथा परहितकारी जीवन ही इस के लिये दो रक्षक-पुरुष हैं । इस का मनोबल इस की कठिन से कठिन जोवन यात्रा में रथ होता है. जो क्लिष्ट पथों पर भी चल सकता है] ।

१५४. मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥७॥

(मातरिश्वा च) अन्तरिक्ष में चलनेवाली वायु और (पवमानः च)

१. संन्यास सर्वोत्तम मार्ग है । वैराग्य हो जाने पर किसी भी आयु में संन्यास ग्रहण किया जा सकता है । यथा "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् (जाबालोपनिषद्, खण्ड ४ के अनुसार), तथा सत्यार्थप्रकाश, (समुल्लास ५) । मन्त्र में युवावस्था में संन्यासको श्रेष्ठ माना है । क्योंकि युवा-वस्था में ही वैराग्यभावना के उदित हो जाने से 'कैवल्यावस्था आसन्न हो जाती है ।

२. उष्णीषम्=उष् (उष्णता)+नी (अपनयने)+सः (उणादि "सः", कित् च ३।६६; बाहुलकात्) ।

शरीरनिष्ठ प्राणवायु (विपथवाहौ) मनरूपी-विपथरथ के वहन करनेवाले दो अश्व होते हैं, (वातः) वातनामक या वाताधिपति परमेश्वर (सारथी) इन दो अश्वों को प्रेरित करता है, (रेष्मा) अश्वों के नथनों के श्वास-प्रश्वास की आवाज के समान संन्यासो के दो नासारन्ध्रों में होनेवाले श्वास-प्रश्वास की आवाज (प्रतोदः) मानो चाबुक होती है ।

[मातरिश्वा[1]=मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनिति वा (निरु० ७।७।२६) । श्वसिति=गच्छति । अनिति गतिकर्मा (निघं० २।१४) । पवमानः[2]=अन्तरिक्षस्थ-वायु शरीरगत हो कर श्वास-प्रश्वास द्वारा शरीर को पवित्र करती रहती है । मातरिश्वा औरपवमान, मन के वाहक दो अश्व हैं । इन दोनों के होते मन कार्यकारी होता है । श्वास-प्रश्वास की समाप्ति में मन निष्क्रिय सा हो जाता है ।

वातः="तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः" (यजु० ३२।१) में परमेश्वर को वायु कहा है । वायु=वात ।यह परमेश्वरही मातरिश्वा तथा-पवमान को प्रेरित कर रहा है । और यह ही परमेश्वर शरीर के श्वास-प्रश्वास रूपी अश्वों को भी प्रेरित कर रहा है । श्वास-प्रश्वास रात-दिन परमेश्वर प्रदत्त शक्ति द्वारा स्वतः चलते रहते हैं ।

रेष्मा=रेषणम्, रेषा=neighing (आप्टे), अर्थात् अश्व की हिनहिनाहट । अश्व के नथनों में हिनहिनाहट होती रहती है । श्वास-प्रश्वास के चलने पर भी शब्द होता है । दौड़ते हुए पुरुष के श्वास-प्रश्वास की आवाज स्पष्ट सुनाई देती है ।सामान्यावस्था में भी छाती के यन्त्र द्वारा छाती में श्वास-प्रश्वास को आवाज स्पष्ट सुनाई देती है । यह आवाज चाबुक समान है । इस आवाज के रहते ही श्वास-प्रश्वास की गति रहती है, अन्यथा शरीर निष्क्रिय हो जाता है । भट्टोजी दीक्षित ने "रेषृ" धातु

१. मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति वर्द्धते वा, अथवा मातरि श्वसिति जीवयति शेते वा स मातरिश्वा, वायुर्वा (उणा० १।१५९), म० दया० ।

२. अन्तरिक्ष की वायु नासिकाछिद्रों द्वारा फेफड़ों में जा कर गन्दे रक्त को शुद्ध करती, और फेफड़ों में उत्पन्न गन्दी वायु (CO_2) को प्रश्वास द्वारा शरीर से बाहिर निकाल; शरीर को पवित्र करती रहती है । अन्तरिक्ष की वायु ही शरीर में प्रवेश पा कर पवमान संज्ञक हो जाती है । श्वास और प्रश्वास इन की गतिरूप हैं ।

के सम्बन्ध में लिखा है कि यह अव्यक्त शब्द (रेषृ अव्यक्ते शब्दे) भेड़िये की घुरघुराहट के लिये प्रयुक्त होता है]।

१५५. कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥८॥

(कीर्तिः च) व्रती तथा परोपकारी संन्यासी के सद्गुणों और सत्कर्मों का संकीर्तन,[1] (यशः च) और यश (पुरः[2] सरौ) इस के आगे-आगे चलते हैं। (एनम्) इस व्यक्ति को भी (कीर्त्तिः) संकीर्त्तन (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (यशः) तथा यश (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (यः) जोकि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता, तथा तदनुसार कर्म या आचरण करता है ।

[कीर्त्ति=यशोगान; "कीर्त्यते संशब्दयते सा कीर्त्तिः" (उणा० ४।१२०, म० दया०)। वेद=जानता है । वैदिक दृष्टि में वेदन अर्थात् ज्ञान "क्रियार्थ" होता है। केवल ज्ञानमात्र से वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, जब तक विचारपूर्वक तदनुसार आचरण न किये जांय]।

यथा "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्" (पूर्व मीमांसा)।

१५६. स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥९॥

(सः) वह व्रती तथा परहितकारी संन्यासी (उदतिष्ठत्)उठा, प्रयत्नवान् हुआ, (सः) वह (दक्षिणाम् दिशम् अनु) दक्षिण दिशा के साथ-साथ (व्यचलत्) विशेषतया चला या विचरा ।

१५७. तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥१०॥

(तम्, अनु) उस के साथ-साथ या पीछे-पीछे (यज्ञायज्ञियम् च) यज्ञायज्ञियनामक सामगान, और (वामदेव्यम्, च) वामदेव्य नामक साम-

१. कीर्तन=संकीर्तन=यशोगान ।

२. संन्यासी की कीर्ति और यश, संन्यासी के अभिप्रेत स्थान में पहुंचने से पहिले ही मानो पहुंचे हुए होते हैं, और प्रजाजन उस के स्वागत के लिये तय्यार रहते हैं।

गान, (यज्ञः, च) और यज्ञ (यजमानः च) तथा यजमान, (पशवः, च) और पशु (व्यचलन्) चले ।

[यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य सामगान, दक्षिण दिशा के जल-वायु तथा ऋतु के अनुकूल प्रतीत होते हैं। यज्ञ के लिये घृतादि चाहिये, इसलिये गौ-पशु की भी आवश्यकता है। पृथिवी का दक्षिण भाग समुद्रप्रायः है। अतः वहां की वायु अधिक जलवाली होने के कारण, तथा वहां की संलग्न भूमि में जलाधिक्य के कारण, मलेरिया आदि रोगों, तथा कफ-प्रधान रोगों की सम्भावना रहती है। तदर्थ यज्ञों की आवश्यकता है, और यजमानों की भी। यज्ञों द्वारा रोगों का निवारण होता है ।

१५८. यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुप वदति ॥११॥

(वै) निश्चय से (सः) वह व्यक्ति, (यज्ञायज्ञियाय च) यज्ञायज्ञिय सामगानों से और (वामदेव्याय च) वामदेव्य सामगानों से, (यज्ञाय च) यज्ञों से (यजमानाय च) तथा यजमानों की सत्संगति से (पशुभ्यः च) गौ आदि पशुओं के दूध आदि से (आवृश्चते) अपने आप को पूर्णतया वञ्चित कर लेता है, (यः) जोकि (एवम्,विद्वांसम्, व्रात्यम्) इस प्रकार के विद्वान् व्रात्य के (उप) समीप अर्थात् संगति में रह कर (वदति) उस के साथ वाद-विवाद करता है। ["च" का बार-बारप्रयोग समुच्चय के लिये होता है। यथा" **चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां प्रयुज्यते– अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव** (ऋ.८।६२।११); (निरु. १।२।४)] ।

१५९. यज्ञायज्ञियस्य-च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति। तस्य दक्षिणायां दिशि ॥१२॥

(सः) वह श्रद्धालु व्यक्ति (वै) निश्चय से (यज्ञायज्ञियस्य, च) यज्ञायज्ञिय सामगानों का (वामदेव्यस्य च) और वामदेव्य सामगानों का,(यज्ञस्य च) यज्ञ का (यजमानस्य च) तथा यजमान का, (पशूनाम्, च) तथा पशुओं का (प्रियं धाम) प्रिय स्थान अर्थात् प्रेमपात्र (भवति) हो जाता है। (तस्य)उस व्रात्य-संन्यासी की (दक्षिणायाम्, दिशि) दक्षिणा दिशा में—

१६०. उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥१३॥

(उषाः) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाली नवोत्पन्ना ज्ञानप्रकाशमयी योगजन्याप्रज्ञा (पुंश्चली) व्रात्यपुरुष की सहचारिणी धर्मपत्नी होती है, (मन्त्रः) [सतत मन्त्रजप द्वारा] मन्त्रमय हुआ व्रात्य (मागधः) स्वयं मानो सामगायक होता है। शेषपूर्ववत् (मन्त्र ५)।

[उषाः="उषाः कस्मादुच्छतीति सत्याः" (निरु० २।६।१९), अर्थात् "उषाः" विवासार्थक 'उच्छी" धातु से निष्पन्न है। विवास का अर्थ है स्थान-से-च्युत करना। ज्ञानप्रकाशमयी योगजन्याप्रज्ञा चित्तस्थ अज्ञान को दूर करती है, जैसे कि प्रातःकाल की उषा रात्री के अन्धकार को स्थान-से-च्युत कर देती है। शेष व्याख्या पूर्ववत् (मन्त्र ५)।

१६१. अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम्॥ मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः॥ कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥१४॥

(अमावास्या च) अमावास्या (पौर्णमासी च) और पौर्णमासी (परिष्कन्दौ) चारों ओर से रक्षक होते हैं, (मनो विपथम्) मन विविध-पथगामी रथ होता है,—शेष पूर्ववत् (मन्त्र ७,८)।

[अमावास्या और पौर्णमासी दोनों का सम्बन्ध दक्षिणदिशा के साथ दर्शाया है। ये दोनों दक्षिण दिशा में इकट्ठे नहीं हो सकते। यदि दक्षिणदिशा में अमावास्या होगी तो उत्तर दिशा में पौर्णमासी, और यदि दक्षिण दिशा में पौर्णमासी होगी तो उत्तर दिशा में अमावास्या होगी। अमावास्या और पौर्णमासी परस्पर छः राशियों के या १८० डिग्री के अन्तर पर स्थित होती हैं। इसलिये यहां अमावास्येष्टि अर्थात् दर्शेष्टि और पौर्णमास्येष्टि का अभिप्राय सम्भव है। सूक्त २, मन्त्र १०,११,१२ में, यज्ञ और यजमान का वर्णन है, जो कि अमावास्येष्टि तथा पौर्णमास्येष्टि के साथ सुसङ्गत प्रतीत होता है।

१६२. स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत्॥१५॥

(सः) वहव्रती तथा परहितकारी व्रात्य-संन्यासी (उदतिष्ठत्) उठा, प्रयत्नवान् हुआ, (सः) वह (प्रतीचीम्, दिशम्, अनु) पश्चिम दिशा के साथ साथ, या उसे लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला या विचरा। [अनु="अनुर्लक्षणे" (अष्टा. १।४।८४) के अनुसार "अनु" लक्षणार्थक भी है]।

१६३. तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन्॥१६॥

(तम्, अनु) उस के अनुकूल होकर, (वैरूपम् च) वैरूप नामक सामगान, (वैराजम्, च) और वैराज नामक सामगान, (आपः, च) जल, (वरुणः, च, राजा) और वरुण राजा (व्यचलत्) चले।

[वैरूप और वैराज सामगान पश्चिमदिशा की जलवायु तथा ऋतु के अनुकूल प्रतीत होते हैं। पृथिवी की पश्चिमदिशा में एटलाण्टक महासागर है, जिस का निर्देश "आपः" द्वारा किया है। पूर्वदिशा में पेसिफिक महासागर है। "वरुणः अपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४) के अनुसार आपः के साथ वरुण का सम्बन्ध है। परन्तु वरुण को राजा कहा है। यह वरुण जगत् का राजा परमेश्वर है। वरुणः=वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः। आस्तिक लोग, जगत्-के राजा का वरण करते हैं, और जगत्-का-राजा आस्तिक-महात्माओं का वरण करता है। वरुण का अर्थ "अपनाना" भी है। व्रात्य संन्यासी जगत्-के राजा की विभूतियों को देखता हुआ प्राची-दिशा से चला, और दक्षिणदिशा से होता हुआ पश्चिमदिशा में आया। यहां की जलीय विभूतियों को देखकर व्रात्य ने जगत्-के-राजा को अपना-लिया, और जगत्-के-राजा ने व्रात्य को अपना-लिया। अब से व्रात्य, निज राजा के संरक्षण में अपने आप को समझने लगा। यह "अपनाना" मन्त्र १३ की योगजन्या प्रज्ञा का भी परिणाम है। "आपः" की अनुकूलता का अभिप्राय यह है जलप्रायःप्रदेश में रहते हुए भी संन्यासी को जलीय रोगों का न होना। योगि-संन्यासी योगाग्नि द्वारा रोगों को भस्मीभूत कर देता है। यथा "न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्" (श्वेता० उप० २।१२) अर्थात् योगाग्नि रोग, जरा और मृत्यु को भस्म कर देती है]।

१६४. वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आवृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥१७॥

(वै) निश्चय से (सः) वह व्यक्ति, (वैरूपाय च) वैरूप सामगानों से, (वैराजाय च) और वैराज सामगानों से, (अद्भ्यः च) सामुद्रिक जलीय दृश्यों से, (वरुणाय च राज्ञः) और वरुण राजा की कृपा से, (आ वृश्चते) अपने-आप को पूर्णतया वञ्चित कर लेता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के (विद्वांसम्) विद्वान् (व्रात्यम्) व्रती तथा परहितकारी संन्यासी के

(उप) समीप अर्थात् संगति में रहकर (वदति) उस के साथ वाद-विवाद करता है ।

१६५. वैरूपस्य॑ च॒ वै स वैरा॒जस्य॑ चा॒पां च॒ वरु॑णस्य च॒ राज्ञः॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति । तस्य॑ प्र॒तीच्यां॒ दि॒शि ॥१८॥

(सः) वह श्रद्धालु व्यक्ति (वै) निश्चय से (वैरूपस्य च) वैरूप सामगानों का, (वैराजस्य, च) और वैराजसामगानों का, (अपाम्, च) सामुद्रिक जलीय द्रव्यों का, (वरुणस्य, च, राज्ञः) और वरुण राजा का (प्रियम्, धाम) प्रेमपात्र (भवति) हो जाता है । (तस्य) उस व्रात्य-संन्यासी की (प्रतीच्याम्) पश्चिम (दिशि) दिशा में:—[अगला मन्त्र देखो]

[प्रियं धाम=प्रेमपात्र होजाने का अभिप्राय यह है कि ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति संन्यासी के सत्संगों से च्युत नहीं किया जाता। संन्यासी जहां भी जाता है वह उसके साथ रह कर सत्संगों का लाभ उठाता है, तथा संन्यासी के सत्संगों के कारण वह परमेश्वर का भी प्यारा बन जाता है] ।

१६६. इरा पुं॑श्च॒ली हसो॑ माग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासोऽह॑रु॒ष्णीषं॒ रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्रव॒र्तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः ॥१९॥

(इरा[1]) वेदवाणी (पुंश्चली) व्रात्यपुरुष-की-सहचारिणी[2] धर्मपत्नी होती है, (हसः) प्रसन्नचित्त (मागधः) गायक होता है, (विज्ञानम्) विज्ञान आदि, पूर्ववत् मन्त्र ५) ।

[वैरूप-और-वैराज-साम (मन्त्र १७,१८), वेदमन्त्रों पर गाए जाते हैं। इन के सहचार में इरा अर्थात् वाणी या वाक् का अभिप्राय है,—वेदवाणी । हसः="हस" का अर्थ है,हंसना, प्रसन्नमुखता । प्रसन्नमुखता निर्भर होती है चित्त की प्रसन्नता पर। अतः चित्त की प्रसन्नता को गायक कहा है. क्योंकि चित्त की प्रसन्नता होते ही गाना गाया जा सकता है]।

---

१. इरा=speech (आप्टे), अर्थात् वाणी।

२ मन्त्र १३ में सतत मन्त्रजप का वर्णन हुआ है, जोकि इरारूप है, वेदवाणीरूप है । मन्त्ररूपी वेदवाणी के सततजप के कारण उसे सहचारिणी अर्थात् साथ-साथ विचरनेवाली कहा है ।

१६७. अह॑श्च॒ रात्री॑ च परिष्क॒न्दौ॑ मनो॑ विप॒थम् ॥ मा॒त॒रिश्वा॑ च॒ पव॑मानश्च विपथवा॒हौ वातः॒ सार॑थी रे॒ष्मा प्र॒तोदः॑ ॥ की॒र्तिश्च॒ यश॑श्च पुरः स॒रावैनं॑ की॒र्तिर्ग॑च्छ॒त्या यशो॑ गच्छति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥२०॥

(अहः च, रात्री च) दिन और रात, इस संन्यासी के (परिष्कन्दौ) चारों ओर से रक्षक होते हैं। (मनो……) मन आदि पूर्ववत् (मन्त्र ६, ७, ८) ।

[जिसने परमेश्वर को वर लिया और जिस को परमेश्वर ने वर लिया, उस के रक्षक प्रत्येक दिन और रात होते हैं । उसे किसी अन्य द्वारा रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती] ।

१६८. स उद॑तिष्ठ॒त् स उदी॑चीं॒ दिश॒मनु॒ व्य॑चलद् ॥२१॥

(सः) वह व्रती तथा परहितकारी संन्यासी (उदतिष्ठत्) उठा, प्रयत्नवान् हुआ, (सः) वह (उदीचीम्, दिशम्, अनु) उत्तर दिशा के साथ साथ, या उसे लक्ष्य करके (व्यचलत्) विशेषतया चला या विचरा ।

१६९. तं श्यै॒तं च॑ नौध॒सं स॑प्त॒र्षय॑श्च॒ सोम॑श्च॒ राजा॒नु॒ व्य॑चलन् ॥

(तम्, अनु) उस व्रात्य-संन्यासी के अनुकूल होकर, (श्यैतम्, च) श्यैतनामक सामगान (नौधसम्,च) और नौधसनामक सामगान, (सप्तर्षयः, च) सप्तर्षि[2] या सप्तर्षिनक्षत्रमण्डल, (सोमः च) तथा जगदुत्पादक परमेश्वर (व्यचलन्) चले ।

---

२. "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५), तथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरु० १२।४।३७) द्वारा शरीरस्थ इन्द्रियों का व्रात्य के अनुकूल होकर चलने का अभिप्राय यह है कि मानसिक दिग्-विचरण द्वारा परमेश्वरीय विभूतियों का साक्षात्कार करके जब व्रात्य उत्तरदिशा में पहुंचा तब अपनी इन्द्रियों पर उसने पूर्णतया वशीकार अनुभव किया । इस वशीकार के कारण वह परमेश्वर की कृपा का पात्र बन गया ।

[श्यैत और नौधस सामगान उत्तरदिशा की जलवायु तथा ऋतु के अनुकूल प्रतीत होते हैं। सप्तर्षिमण्डल उत्तरदिशा का मण्डल है, जोकि उत्तर के ध्रुवतारा के समीपवर्ती है। उत्तरदिशा के अन्य तारामण्डलों का उपलक्षक है,—सप्तर्षिमण्डल । शत० ब्रा० २।१।१।४ में कहा है कि "ऋक्षा इति ह स्म वै पुरा सप्त ऋषीन् आचक्षत" अर्थात् सप्तर्षियों को पहले "ऋक्षाः" कहते थे। इस सम्बन्ध में "अमी ये ऋक्षा निहितास उच्चाः" (ऋ० १।२४।१०) का प्रमाण प्रायः दिया जाता है । इन्हें "ursa major" कहते हैं। इस का अर्थ है "great bear" अर्थात् बड़ा रीछ (ऋक्ष)। परोपकारी महात्मा की सुरक्षा जगदुत्पादक परमेश्वर तथा उस की कृतियां करती हैं] ।

१७०. श्यैतायं च वै स नौधसायं च सप्तर्षिभ्यंश्च सोमाय च राज्ञ आ वृंश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुप वदति ॥१३॥

(वै) निश्चय से (सः) वह व्यक्ति, (श्यैताय च) श्यैतनामक सामगानों से,(नौधसाय च) और नौधसनामक सामगानों से,(सप्तर्षिभ्यः च)सप्तर्षियों अर्थात् पृथिवी के उत्तरध्रुव के समीप तक की यात्रा से या इन्द्रियों पर वशीकार से, (सोमाय च) और जगदुत्पादक परमेश्वर की कृपा से (आवृश्चते) अपने-आप को वञ्चित कर लेता है, (यः) जो कि (एवम्, विद्वांसम्, व्रात्यम्) इस प्रकार के विद्वान् व्रती तथा परोपकारी के (उप) समीप अर्थात् सत्संगति में रहकर (वदति) उस के साथ वाद-विवाद करता है, तर्क-बाजी करता है ।

[वेदनिर्दिष्ट विधि के अनुसार आदित्य-ब्रह्मचारी स्नातक हो कर, लोक संग्रह की दृष्टि से वार-बार सदुपदेशों को देता हुआ पूर्वसमुद्र से उत्तरसमुद्र तक यात्रा करता है। उत्तरसमुद्र का अभिप्राय है,—पृथिवी के उत्तरध्रुव का समुद्र, जिस के ऊपर सप्तर्षिमण्डल चमकता है। यथा:— "स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्" (अथर्व० ११।५।६)। उत्तरं समुद्रम्=Northern ocean (whitney, अथर्ववेद अंग्रेजी अनुवाद) । तथा "पूर्वे न्नार्द्धंसि उत्तरस्मिन् समुद्रे" (अथर्व० ११।२।२५), अर्थात् हे भव ! पूर्वसमुद्र से उत्तरसमुद्र तक गति करता है, हंसि=हन् गतौ । Whitney लिखता है कि "We are surprised to find a "northern" ocean spoken of, and set over against

the "eastern" one, but uttara can not well mean anything else" अर्थात् "हम हैरान हैं यह जान कर कि मन्त्र में उत्तरसमुद्र का वर्णन हुआ है, जिस का कि पूर्वसमुद्र के साथ सम्बन्ध दर्शाया है ॥ वस्तुतः "उत्तर" का और कोई अर्थ नहीं है"। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में उत्तरध्रुव की पदयात्रा का विधान है। उपर्युक्त मन्त्र २१–२३ में भी उत्तरध्रुव तक व्रात्य की पदयात्रा का निर्देश हुआ है। महात्माओं और नेताओं के साथ यात्रा करना गौरव समझा जाता है। वाद-विवाद करनेवालों को इस गौरव से वञ्चित कर दिया जाता है] ।

१७१. श्यैतस्यं च वै स नौधसस्यं च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धामं भवति । तस्योदीच्यां दिशि ॥२४॥

(सः) वह श्रद्धालु व्यक्ति (वै) निश्चय से (श्यैतस्य, च) श्यैतनामक सामगानों का, (नौधसस्य, च) और नौधसनामक सामगानों का, (सप्तर्षीणाम्, च) सप्तर्षि स्थान तथा इन्द्रियवशीकार का, (सोमस्य, च) तथा जगदुत्पादक परमेश्वर का (प्रियम्,धाम) प्रेमपात्र (भवति) हो जाता है। (तस्य) उस व्रात्यसंन्यासी की (उदीच्याम्, दिशि) उत्तर दिशा में:— (अगला मन्त्र देखो)

[अभिप्राय यह कि श्रद्धालु व्यक्ति, व्रात्य का संगी हो कर भक्ति के गान सुनता, उत्तरदिशा के प्रदेशों को यात्रा करता और सत्संगों का लाभ उठाता है] ।

१७२. विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नु मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥२५॥

(विद्युत्) विजुली[1] को चमक (पुंश्चली) व्रात्य-संन्यासी की सह-

१. उत्तरध्रुव या सप्तर्षितारामण्डल के समीप उत्तरध्रुव की ओर प्राकृतिक वैद्युत-प्रकाश भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे कि "Northern lights" या "Aurora borealis" भी कहते हैं। इस का वर्णन निम्नलिखित है, "A luminous meteoric phenomenon of electrical character seen in and towards The Solar regions, with a tremulous motion, and giving forth streams of light" (Chambers's Western Century Dictionary)। अर्थात् उत्तरध्रुव में या उत्तर-

धारिणी धर्मपत्नी होती है, (स्तनयित्नुः) मेघ' की गर्जना (मागधः) गायक होती है। (विज्ञानम्…) विज्ञान…आदि, पूर्ववत् (मन्त्र ५)।

[बढ़े हुए योगाभ्यास में योगी को ध्यान में नानाविध ज्योतियां दृष्टिगोचर होती हैं। ये ज्योतियां आंखों के विषयरूप नहीं होती, अपितु मानसिक होती हैं। नीहार अर्थात् कोहरे की प्रतीति, धूम, सूर्य, वायु के चलने, अग्नि, जुगनू या ताराओं की चमक, विद्युत्, स्फटिक, चांद आदि की प्रतीतियां ध्यानावस्थित योगी को होती हैं। ये प्रतीतियां ईश्वरीयदर्शन से पूर्व होती हैं। इन प्रतीतियों के होते, समय पर, योगी को ईश्वरदर्शन हो जाता है। इन प्रतीतियों में "विद्युत की चमक" भी है, जिसका कि वर्णन मन्त्र २५ में हुआ है। यथा "नीहार धूमार्कानिलानलानाम्। खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे" (श्वेता० उप० अ० २। खण्ड ११)। विद्युत् की प्रतीति व्रात्य-संन्यासी के लिये स्नेहमयी धर्मपत्नी के सदृश है। विद्युत् का वर्णन केवल दृष्टान्त मात्र है। योगी को अन्य प्रतीतियां भी होती रहती हैं। स्तनयित्नु=मेघ की गर्जना। जैसे मेघ में विद्युत् की चमक और मेघ की गर्जना होती है, इसी प्रकार योगी को ध्यानावस्था में विद्युत् आदि की चमक का भी भान होता है, और मेघगर्जना आदि का भी। ऐसी अव्यक्त ध्वनियों को योग की परिभाषा में "नाद" कहते हैं। ये नाद भी कई तरह के हैं। घण्टा बजने का नाद,

ध्रुव की ओर एक चमकता दृश्य दिखाई देता है जो कि विद्युत् का सा होता है, साथ ही उस में कम्पनशील गति होती हैं, और उस में से प्रकाश की धारा या प्रवाह बह रहा होता है। इस प्रकार सप्तर्षि तारामण्डल के साथ प्राकृतिक-विद्युत् का भी सम्बन्ध है। सम्भव है कि मन्त्रोक्त "विद्युत्" पद द्वारा ध्रुवीय प्रकाश अभिप्रेत हो।

२. स्तनयित्नु=मेघगर्जना। यह आध्यात्मिक नादरूप है; जैसे कि विद्युत् आध्यात्मिक-विद्युत् है। मेघ भी आध्यात्मिक मेघ है, न कि अन्तरिक्षस्थ प्राकृतिक-मेघ। इस आध्यात्मिक-मेघ को "धर्ममेघसमाधि" कहते हैं॥ यथा "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः" (योग ४।२९)। इस समाधि में सम्भवतः कोई विशेष प्रकार के नाद होते हों जिन्हें कि मन्त्र में स्तनयित्नु कहा है।

झींगड़ की आवाज, ढोल आदि की ध्वनि आदि। इस अवस्था पर पहुंचे हुए योगी के लिये ये नाद ही गायन रूप होते हैं, और योगी का चित्त इन गायनों का गायक होता है]।

१७३. श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥२६॥

(श्रुतम्, च) वेद का स्वाध्याय, (विश्रुतम्, च) और विविध प्रकार के प्रतिभ' श्रवण (परिष्कन्दौ) व्रात्य-संन्यासी के चारों ओर से रक्षक होते हैं। (मनः…) मन इत्यादि पूर्ववत् (१५।२।६)।

[श्रुतम्=वेद। यथा "मय्येवास्तु मयि श्रुतम्" (अथर्व का० १। सूक्त १। मं० २,३), तथा "सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि" (अथर्व० १।१।४), कि "मुझ में स्थित वेद मुझ में अवश्य स्थित रहे;" श्रुत अर्थात् वेदश्रुति के संग में हम रहें, वेदश्रुति से विमुख मैं न होऊं"]।

१२६. मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥२७॥

अर्थ पूर्ववत् (१५।२।७)।

१७५. कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥२८॥

अर्थ पूर्ववत् (१५।२।८)।

---

२. तथा "ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते (योग ३।३६) में प्रातिभश्रावण, प्रातिभ दिव्यस्पर्शज्ञान, प्रातिभदिव्यरूपों का दर्शन [जैसे कि श्वेता० उप० २।११ में दर्शाया है, प्रातिभ दिव्यरस का आस्वादन, तथा वार्ता अर्थात् प्रातिभगन्धग्रहण। तथा "श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्"(योग ३।४१) में दिव्यशब्दों के श्रवण की योग्यता का वर्णन हुआ है]।

सूक्त ३

अध्यात्मम् । व्रात्यदैवतम्

१७६. स संवत्सर मूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥१॥

(सः) वह व्रती तथा परहितकारी संन्यासी (संवत्सरम्) वर्षभर (ऊर्ध्वः अतिष्ठत्) उठा रहा, प्रयत्नवान् रहा, (तम्) उसे (देवाः) विद्वानों ने (अब्रुवन्) कहा कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (किंनु) क्यों (तिष्ठसि=ऊर्ध्वः तिष्ठति, इति) आप अब प्रयत्नवान् हैं ।

[देवाः संवत्सरम्=देवों का अभिप्राय यह है कि हे व्रात्य ! एकवर्ष लगातार सदुपदेश आप कर चुके हैं, अब भी आप, पुनः यात्रा के लिये, कटिबद्ध प्रतीत होते हैं । क्यों पुनः इस निमित्त आप प्रयत्नवान् हैं ? ऊर्ध्वः, अतिष्ठत्=उद्+अतिष्ठत् (१५।१।१) । तिष्ठति=उर्ध्वः (उद्)+ तिष्ठसि=उत्थानं करोषि । देवाः="विद्वांसो वै देवाः । यथा "विश्वे च देवाः" (१५।२।२,३), अर्थात् व्रात्य की यात्रा के साथी देव]

१७७. सोऽब्रवीदासन्दी मे संभरन्त्विति ॥२॥

(सः) वह व्रात्य (अब्रवीत्) बोला कि अच्छा ! (मे) मेरे लिये (आसन्दीम्) बैठने की कुर्सी (संभरन्तु, इति) तय्यार करो ।

१७८. तस्मै व्रात्यायासन्दी समभरन् ॥३

(तस्मै, व्रात्याय) उस व्रात्य के लिये [देवों ने] (आसन्दीम्) बैठने की कुर्सी को (समभरन्) तय्यार किया ।

[आसन्दी=A small couch or oblong chair (आप्टे)= आराम कुर्सी] ।

१७९. तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥४॥

(वसन्तः, च) वसन्त (ग्रीष्मः, च) और ग्रीष्म ऋतु (तस्याः) उस आसन्दी के (द्वौ पादौ) दो पाद (आस्ताम्) हुए, (वर्षाः, च) वर्षा (शरत्, च) और शरद् ऋतु (द्वौ) शेष दो पाद हुए ।

[आसन्दी के चार पाद होते हैं । वसन्त से शरद् तक चार[1] ऋतुएं उस के चार पाद हुए । इस से ही प्रतीत होता है कि यह आसन्दी शरीर द्वारा बैठने की नहीं, अपितु यह केवल गाथा रूप है । आस्ताम्=अस् भुवि] ।

१८०. बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥५॥

(बृहत् च) बृहत् सामगान (रथन्तरम्, च) और रथन्तर सामगान (अनूच्ये) आसन्दी की लम्बाई की पट्टियां (आस्ताम्) हुईं, (यज्ञायज्ञियम्, च) और यज्ञायज्ञियसामगान (वामदेव्यम्, च) तथा वामदेव्यसामगान (तिरश्च्ये) चौड़ाई की पट्टियां हुईं ।

१८१. ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥६॥

(ऋचः) ऋग्वेद की ऋचाएं (प्राञ्चः) सीधे अर्थात् ताने के (तन्तवः) तन्तु हुए, और (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र (तिर्यञ्चः) टेढ़े अर्थात् बाने के ।

१८२. वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥७॥

(वेदः) सामवेद (आस्तरणम्) बिछौना अर्थात् गद्दी हुआ, (ब्रह्म) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद (उपबर्हणम्) मसनद अर्थात् बड़ा सिरहाना हुआ ।

[वेदः=परिशिष्ट होने के कारण "वेद" से अभिप्राय सामवेद[1] प्रतीत होता है ॥ "ब्रह्म" शब्द अथर्ववेद के लिये प्रसिद्ध है । अथवा वेदः=वैदिक-ज्ञान, तथा ब्रह्म=ब्रह्म का आश्रय । उपबर्हणम्=बड़ा तकिया (बर्हणम्= बृह् वृद्धौ)] ।

१८३. सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥८॥

---

१. ये चार ऋतुएं एक वर्षरूप हैं । अतः संवत्सर-यात्रा के पश्चात्, संवत्सर-विश्राम में वेदस्वाध्याय की सूचना सूक्त द्वारा दी गई है ।

१. "सामवेद" चूंकि उपासनाप्रधान वेद है, इसलिये इसे आस्तरण" अर्थात् बिछौना या गद्दी कहा है, इस पर उपासना में व्रात्य ने स्थिररूप में बैठना है ।

(आसादः) वेदमयी आसन्दी पर बैठना (साम) शान्तिरूप हुआ अर्थात् ऐसी आसन्दी पर बैठ कर व्रात्य को मानसिक शान्ति प्राप्त हुई, (उद्गीथः) ओ३म् का उच्च स्वर में जप (अपश्रयः) आसन्दी की पीठरूप हुआ ।

[मन्त्र ७ में वेदः तथा-ब्रह्म के अर्थ यदि वैदिक ज्ञान-तथा परमेश्वर किये जांय, तो मन्त्र ८ में साम का अर्थ गीतिमयी रचना होगा । इस प्रकार मन्त्र ६ ८ और में ऋक्-यजुः-साम" द्वारा त्रिविध वैदिक रचना का ग्रहण होगा । तथा ऋचः, यजूंषि, वेदः, और ब्रह्म के अर्थ यदि चार वेद किये जांय तो मन्त्र ८ में साम का अर्थ भक्ति-के-गान या चित्त की शान्ति होगा । उद्गीथः="य उद्गीयते उच्चैः शब्दयते स उद्गीथः प्रणवो वा" (उणा० २।१०। म० दयानन्द) । साम=Calming, Soothing (आप्टे) =शान्ति अपश्रय=उपाश्रय]

१८४. तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥९॥

(ताम्) उस (आसन्दीम्) कुर्सी पर (व्रात्यः) व्रात्य-सन्यासी ने (आरोहत्) आरोहण किया ।

[इस आसन्दी अर्थात् कुर्सी के घटक अवयव निम्नलिखित हैं:—(क) वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा,शरद्—ये चार ऋतुएं, (ख) बृहत् आदि चार सामगान; (ग) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार वेद; (घ) वैदिकज्ञान और ब्रह्म की उपासना; (ङ) तथा उच्चस्वर से ओ३म् का जप । वसन्त आदि चार ऋतु विश्राम करके, और इन ऋतुओं में बृहत् आदि सामगानों को करके, चारों वेदों का स्वाध्याय, ब्रह्मोपासना, तथा ओ३म् का सस्वर जप कर के, व्रात्य पुनः प्रचार के लिये यात्रा का आरम्भ करे—यह भावना इस सूक्त में दर्शाई है । पुनः प्रचार की भावना सूक्त ४ से ७ तक में स्पष्ट द्योतित हो रही है ।

आरोहत्[3]=इस पद द्वारा आसन्दी पर आरोहण मात्र दर्शाया है,

२. यदि सकारान्त 'वेदस्' शब्द मान कर "धन" अर्थ करना ही अभीष्ट हो, तब भी प्रकरण की दृष्टि से "वैदिक ज्ञान" रूपी धन अर्थ ही समुचित होगा ।

३. ऋतुमयी-तथा-वेदमयी आसन्दी पर शारीरिक आरोहण सम्भव नहीं, अतः यह आरोहण मानसिक आरोहण ही है । इस से प्रतीत होता है कि १५वें काण्ड का समग्र वर्णन केवल आदर्शवाद है । मानुष घटनारूप नहीं ।

बैठना नहीं । इसलिये "साम आसादः" द्वारा यह दर्शाया है कि व्रात्य इस आसन्दी पर "शान्तिपूर्वक बैठा भी" । इस सब वर्णन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रात्य का वर्णन संन्यासी के आदर्श जीवन का कथनमात्र है, किसी ऐतिहासिक व्रात्य का वर्णन नहीं हैं । ऐतिहासिक व्यक्ति ऐसी काल्पनिक आसन्दी पर नहीं बैठ सकता] ।

१८५. तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्याः विश्वानि भूतान्युपसदः ॥१०॥

(देवजनाः) व्रात्य के सहवासी देव-जन (तस्य) उस व्रात्य-संन्यासी के (परिष्कन्दाः) सब ओर से रक्षक (आसन्) हुए, (संकल्पाः) व्रात्य के संकल्प (प्रहाय्याः) सन्देशहर हुए, और (विश्वानि) सब (भूतानि) प्राणी-अप्राणी (उपसदः) उस के समीप उपस्थित हुए ।

[देवजनाः=विद्वान् जन (मन्त्र १५।२।२,३), विद्वांसो वै देवाः । संकल्पाः=शिवसंकल्प । शिवसंकल्प अधिक शक्तिशाली होते हैं । प्रहाय्याः=प्र+हा (ओहाङ् गतौ)+आय्यः (उणा० ३।९६, ९७, बाहुलकात्) । प्रहाय्याः=प्रेष्याः सन्देशहराः, दूताः । भूतानि उपसदः=योगी संन्यासी के शिवसंकल्परूपी-सन्देशहरों द्वारा, संन्यासी के समीप, यथेष्ट प्राणी-तथा-अप्राणी "भूत" उपस्थित हो जाते हैं । यथा:—

"**यं यमन्तमभिकामो भवति, यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुतिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते**" (छान्दो० उप० अ० ८। खण्ड २। सन्दर्भ १०; तथा सन्दर्भ १—९; तथा अ० ७। खण्ड ४। सन्दर्भ १।४) । अर्थात् "योगी जिस-जिस वस्तु की समीपता चाहता है, जिस-जिस की कामना करता है, वह इस के संकल्प से ही उपस्थित हो जाता है । उससे सम्पन्न होकर योगी महत्त्वशाली हो जाता है" । योगी अपने संकल्प रूपी-सन्देशहरों द्वारा जिस-जिस को अपनी इच्छा का सन्देश पहुंचाता है, वह-वह उसके समीप उपस्थित हो जाता है । इस प्रकार सभी भूत उस के पास उपस्थित हो सकते हैं ।

१८६. विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥११॥

(अस्य) इस व्यक्ति के पास भी (विश्वानि, एव) सब ही (भूतानि)

प्राणी-अप्राणी भूत (उपसदः भवन्ति) उपस्थित हो जाते हैं, (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है ।

सूक्त ४

अध्यात्मम् । व्रात्यदैवतम्

१८७. तस्मै॒ प्राच्या॑ दि॒शः ॥१॥

(तस्मै) उस व्रात्य-संन्यासी के लिए (प्राच्याः दिशः) पूर्वदिशा से:—

१८८. वा॒स॒न्तौ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वक॑र्वन् बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं चा॑नु॒ष्ठा॒तारौ॑ २।

(वासन्तौ) वसन्तऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मासों को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) व्रात्य संन्यासी के लिये रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (बृहत् च) और बृहत् नाम वाले सामगान को (रथन्तरम् च) तथा रथन्तर नाम वाले सामगान को (अनुष्ठातारौ) व्रात्य-संन्यासी के (अनुष्ठातारौ) अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है ।

व्याख्या—व्रात्य संन्यासी ऋतुमयी तथा-वेदमयी आसन्दी (सूक्त ३) पर स्थित हो कर जीवन्मुक्त की अवस्था में जब पहुंच जाता है,तब उस की मृत्यु या मोक्ष में केवल काल की ही प्रतीक्षा रहती है । इस के लिये किसी अन्य नई साधना की प्रतीक्षा अवशिष्ट नहीं होती । इस लिये जीवन्मुक्त के जीवन को बनाए रखने में केवल काल ही कारण होता है । जन्म, जीवन तथा मृत्यु का काल के साथ सम्बन्ध अवश्यंभावी है । इसलिये मन्त्र में ऋतुओं को अर्थात् काल को गोप्ता कहा है । **"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्यते"** (छां० उ० ६।१४।२) । जीवन्मुक्त भी जब तक जीवित रहता है निज अनुष्ठानों को करता रहता है । भक्ति के सामगान उसके अनुष्ठानों में सहायक होते हैं । इसलिये ये सामगान तब तक चलते रहते हैं, जब तक की व्रात्य जीवित रहता है । ऐसी ही भावना अगले मन्त्रों में भी जाननी चाहिये । वासन्तमास=चैत्र, वैशाख । "बृहत्—रथन्तर", चैत्र और वैशाख मासों के सामगान हैं जोकि वसन्त ऋतु के अनुकूल हैं । इसी प्रकार

अगले मन्त्रों में निर्दिष्ट सामगान भी कथित ऋतुओं तथा प्रदेशों के अनुकूलरूप जानने चाहिये ।

१८९. वा॒स॒न्तावे॑नं॒ मासौ॒ प्राच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं चानु॑तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥३॥

(वासन्तौ) वसन्त ऋतुसम्बन्धी (मासौ) दो मास (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से (एनम्) इस श्रद्धालु को (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (बृहत् च) और बृहत् सामगान (च रथन्तरम्) तथा रथन्तर सामगान (अनुतिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जान लेता और तदनुसार जीवन बनाता है ।

१९०. तस्मै॒ दक्षि॑णाया दि॒शः ।४॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिये (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से :—

१९१. ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वक॑र्वन् यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चा॑नु-ष्ठा॒तारौ॑ ॥५॥

(ग्रैष्मौ) ग्रीष्म ऋतु के (मासौ) दो मासों को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) व्रात्य के लिये रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (यज्ञायज्ञियम् च) और यज्ञायज्ञिय नामवाले सामगान को (वामदेव्यम् च) तथा वामदेव्य नाम वाले सामगान को (अनुष्ठातारौ) व्रात्य संन्यासी के अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है ।

१९२. ग्रै॒ष्मावे॑नं॒ मासौ॒ दक्षि॑णाया दि॒शो गो॑पायतो यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥६॥

(ग्रैष्मौ) ग्रीष्मऋतु के (मासौ) दो मास (एनम्) इस श्रद्धालु को (दक्षिणायाः दिशः)दक्षिण दिशा से(गोपायतः) रक्षा करते हैं,(यज्ञायज्ञियम् च) यज्ञायज्ञिय नाम वाला सामगान (वामदेव्यम् च) तथा वामदेव्य नाम वाला सामगान (अनुतिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं । (यः) जोकि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जान लेता और तदनुसार जीवन बनाता है ।

१९३. तस्मै प्रतीच्याः दिशः ।७॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से:—

१९४. वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥८॥

(वार्षिकौ) वर्षा ऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मासों को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (वैरूपम् च) और वैरूपनामक सामगान को (वैराजम् च) तथा वैराजनामक सामगान को(अनुष्ठातारौ)व्रात्य संन्यासी के अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है।

१९५. वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानुतिष्ठतो य एवं वेद ॥९॥

(वार्षिकौ) वर्षा ऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मास (एनम्) इस श्रद्धालु की (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (वैरूपम् च) और वैरूपनामक सामगान (वैराजम् च) तथा वैराजनामक सामगान (अनुतिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं। (यः) जो व्यक्ति कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार जीवनचर्या करता है।

१९६. तस्मा उदीच्या दिशः ॥१०॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर की दिशा से:—

१९७. शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् श्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ११

(शारदौ) शरदृऋतुसम्बन्धी (मासौ) दो मासों को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (श्यैतम् च) और श्यैतनामक सामगान को (नौधसम् च) तथा नौधसनामक सामगान को (अनुष्ठातारौ) व्रात्य संन्यासी के अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है।

१९८. शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानुतिष्ठतो य एवं वेद ॥१२॥

(शारदौ) शरद्‌ऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मास (एनम्) इस श्रद्धालु की (उदीच्याः दिशः) उत्तर की दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं; (श्यैतम् च) और श्यैतनामक सामगान (नौधसम् च) तथा नौधसनामक सामगान (अनुतिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं (यः) जो व्यक्ति कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार जीवनचर्या करता है

१९९. तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥१३॥

(तस्मै) उस संन्यासी के लिये (ध्रुवाया दिशः) ध्रुव अर्थात् भूमि की दिशा से :—

२००. हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ।१४।

(हैमनौ) हेमन्त ऋतुसम्बन्धी (मासौ) दो मासों को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (भूमि च) और भूमि को (अग्निम् च) तथा अग्नि को (अनुष्ठातारौ) व्रात्य संन्यासी के अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है।

२०१. हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानुतिष्ठतो य एवं वेद ॥१५॥

(हैमनौ) हेमन्त ऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मास (एनम्) इस श्रद्धालु की (ध्रुवायाः दिशः) भूमि की दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (भूमिः च) और भूमि (अग्निः च) तथा अग्नि (अनु तिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं (यः) जो व्यक्ति कि (एवम्) इस प्रकार तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार जीवनचर्या करता है।

[भूमिः अग्निः=व्यक्ति भूमिष्ठ होता हुआ तथा भौमाग्नि द्वारा यज्ञों को करता हुआ निज अनुष्ठान करता रहे]

२०२. तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥१६॥

(तस्मै) उस व्रात्य संम्बन्धी के लिए (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्व की दिशा से:—

२०३. शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥१७॥

(शैशिरौ) शिशिर ऋतु सम्बन्धी (मासौ) दो मासों अर्थात् माघ और फाल्गुन को [वैदिक विधियों ने] (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है, (दिवम् च) और द्युलोक को (आदित्यम् च) तथा आदित्य को (अनुष्ठातारौ) व्रात्य संन्यासी के अनुष्ठानों को सिद्ध करने वाला निर्दिष्ट किया है ।

२०४. शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥१८॥

(शैशिरौ) शिशिर ऋतुसम्बन्धी (मासौ) दो मास (एनम्) इस श्रद्धालु की (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (द्यौः च) और द्युलोक (आदित्यः च) तथा आदित्य (अनुतिष्ठतः) इस के अनुष्ठानों में सहायक होते हैं (यः) जो व्यक्ति कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार जीवनचर्या करता है।

[दिवम्, द्यौः, आदित्यः=व्रती और परहितकारी संन्यासी,—रात्रिकाल में नक्षत्रताराजटित द्युलोक की परमेश्वरीय विभूतियों का, तथा दिन में ताप-प्रकाश द्वारा जीवनशक्ति के प्रदाता आदित्यरूपी परमेश्वरीय विभूति का ध्यान तथा चिन्तन करता है। इस प्रकार द्यौः और आदित्य अनुष्ठान में सहायक होते हैं। शिशिर ऋतु में चन्द्रमा और द्युलोक तथा आदित्य प्रायः मेघावृत न होने से अधिक विभूतिमान् प्रतीत होते हैं। यह ऋतु वर्षकाल की अन्तिम ऋतु है। इस ऋतु में संन्यासी परमेश्वर की अन्तिम वार्षिक विभूतियों का दर्शन करता है।

विशेष वक्तव्य=सूक्त २ के अनुसार संवत्सरभर प्रचारार्थ उत्थान के पश्चात्, सूक्त ३ के अनुसार संवत्सर भर व्रात्य ने स्वाध्यायार्थ आसन्दी पर विश्राम किया। सूक्त ४ में पुनः व्रात्य ने संवत्सरभर प्रचारार्थ उत्थान किया। अतः सम्भवतः एक संवत्सर पुनः विश्राम करना वेदाभिप्राय के अनुकूल हो।

सूक्त ५

अध्यात्मम् । व्रात्यदैवतम्

२०५. तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिए [वैदिक विधियों ने] (प्राच्याः दिशः) पूर्वदिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर प्रदेश अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेश से, (भवम्) सुखोत्पादक परमेश्वर को मानो (इष्वासम्) इषुप्रहारी या धनुर्धारीरूप में (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहने वाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

व्याख्याः—[इष्वासम्=इस का अर्थ धनुष् भी होता है, तथा इषुप्रहारी या धनुर्धारी भी। **'यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे'** (यजु० १६।३) में "इषुम् अस्तवे" द्वारा इष्वास की व्युत्पत्ति दर्शाई है। अन्तर्देशात्=पूर्व और दक्षिण के मध्यवर्ती आग्नेय प्रदेश। भवम्=भावयति उत्पादयतीति भवः। अनुष्ठातारम्=निरन्तर स्थित रहने वाला। परमेश्वर मानो धनुर्धारी रूप में व्रात्य की, विरोधी शक्तियों से रक्षा करता हुआ उस के साथ निरन्तर स्थित रहता है]

२०६. भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥२॥

२०७. नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥३॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ स्थित रहने वाला (भवः) सुखोत्पादक परमेश्वर (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी[1] हो कर, (प्राच्याः दिशः

---

१. अभिप्राय यह कि परमेश्वर मानो धनुर्धारी होता हुआ, व्रत के विक्षेपकों या अन्तरायों (योग १।३०) से, तथा काम क्रोधादि दुर्वासनाओं से, व्रात्य की रक्षा करता है। देवासुरसंग्राम रूप में आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रायः वर्णन वैदिक साहित्य में हुआ है। प्रणव अर्थात् ओ३म् को 'धनुष्' तथा आत्मा को 'शर' अर्थात् बाण कह कर मुण्डकोपनिषद् (मुण्डक २, खण्ड २) में भी आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन संग्राम-रूप में हुआ है। इसी भावना में सूक्त ५ के मन्त्रों में परमेश्वर को इष्वास कहा है।

अन्तर्देशात्) पूर्वदिशा सम्बन्धी अवान्तर अर्थात् पूर्व और दक्षिण के मध्य-वर्ती आग्नेय प्रदेश से, (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इसे (न) न (शर्वः) दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) न सर्वाधीश्वर परमेश्वर (हिनस्ति)[1] हिंसित करता या हिंसित होने देता है ।।२।।

(न) और न (अस्य) इस व्रात्य के (पशून्) पशुओं की, (न समानान्) न समान आदि प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता हिंसा होने देता है (यः) जो व्रात्य कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है ।।३।।

व्याख्या—[अनुष्ठाता, अनुतिष्ठति=परमेश्वर सर्वत्र तथा सब के हृदयों में निरन्तर स्थित है, वह व्रात्य के हृदय में भी निरन्तर स्थित हुआ, मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी हो कर, व्रात्य की सदा रक्षा करता है। मन्त्र २ के पिछले पाद का सम्बन्ध, मन्त्र ३ के "हिनस्ति" पद के साथ भी है]।

शर्वः=शृणाति हिनस्तीति=दुःखविनाशक । ईशानः=ईष्टे इति । पशून्=इस अध्यात्म प्रकरण में पशून् का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां । यथा "**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां स्तेषु गोचरान्** ।। (कठ० उप० १।३।४) में इन्द्रियों को हय अर्थात् अश्व कहा है, तथा "गोचरान्" द्वारा इन्द्रियों के विषयों को गोचर कह कर इन्द्रियों को गावः भी कहा है। गोचर अर्थात् गौएं (इन्द्रियां) जिन में विचरती हैं, वे विषय । समानान्= समान आदि प्राण वायुएं । प्राण, अपान, व्यान तो प्रसिद्धि द्वारा ज्ञात हैं । परन्तु समान, उदान नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त, धनञ्जय आदि प्राण-वायुएं अप्रसिद्ध हैं, अतः समानान् में बहुवचन द्वारा समान आदि का कथन मन्त्र में हुआ है ।

---

१. मन्त्र २ के अर्थ की पूर्णता मन्त्र ३ के "हिनस्ति" पद द्वारा होती है । इस प्रकार की पद्धति मन्त्रों में अन्यत्र भी देखी गई है । निरुक्त अध्याय १२, पाद ३, खण्ड २२ में येन पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि" (ऋ० १। ५०।६) की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार "अपि वोत्तरस्याम्" "अपि वा पूर्वस्याम्" "अपि वैतस्यामेव" द्वारा इस पद्धति की परिपुष्टि करते हैं ।

निम्निलिखित श्लोक प्राण आदि के स्वरूपों का परिचय देते हैं । यथा:—

निः श्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः ।
अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादि विसर्जनम् ॥
हानोपादान चेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकलस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र ! तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम् ॥
धनंजयस्य शोफादि सर्वकर्म प्रकीर्त्तितम् । (याज्ञवल्क्य अ० ६६-६९)

श्वास को भीतर लेना, श्वास को बाहर फेंकना, खांसना,=ये प्राण के कर्म हैं। मल मूत्र आदि का त्याग अपान के कर्म हैं । देना, लेना, चेष्टा आदि व्यान के कर्म हैं । देह का उन्नयन, उछलना, कूदना, आदि उदान के कर्म हैं । शरीर की पुष्टि और शरीर में रस-रक्त का संचार समान के कर्म हैं । डकार आदि नाग के कर्म हैं । आंख को बन्द करना आदि कूर्म के कर्म हैं । भूख-प्यास कृकल के कर्म, आलस्य निद्रा सुस्ती देवदत्त के कर्म, तथा सोजश आदि धनंजय के कर्म हैं]

२०८. तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारम-
कुर्वन् ।।४।।

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिए [वैदिक विधियों ने] (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् दक्षिण और पश्चिम के मध्यवर्ती नैर्ऋत्य प्रदेश से (शर्वम्) दुःख विनाशक परमेश्वर को मानो (इष्वासम्) इषुप्रहारी या धनुर्धारी रूप में (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहने वाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है ।

[अन्तर्देश=नैर्ऋत्य प्रदेश । व्याख्या (मन्त्र १)]

२०९. शर्व एनमिष्वासः दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः । नास्य पशून न समानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥५॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ स्थित रहने वाला (शर्वः) दुःख विनाशक परमेश्वर, (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी हो कर, (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् दक्षिण और पश्चिम के मध्यवर्ती नैर्ऋत्य प्रदेश से, (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इस व्रात्य की (न शर्वः) न दुःखविनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) न सर्वाधीश्वर परमेश्वर (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है।

(न) और न (अस्य) इस के (पशून्) पशुओं की (न समानान्) न समान प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है (यः) जो व्रात्य कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है ॥५॥ [व्याख्या मन्त्र २, ३]

२१०. तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥६॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिये [वैदिक विधियों ने] (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा सम्बन्धी (अन्र्देशात्) अवान्तर अर्थात् पश्चिम-और-उत्तर के मध्यवर्ती वायव्य प्रदेश से (पशुपतिम्) पशुओं के प्रति अर्थात् रक्षक को (इष्वासम्) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारीरूप में (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहने वाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

[पशुपतिम्=पशु ५ प्रकार के हैं। यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० ५।२।९), अर्थात् हे परमेश्वर ! तेरे पशुओं के ५ विभाग हैं; गौएं, अश्व, पुरुष, बकरियां तथा भेड़ें। इन सब का रक्षक परमेश्वर है। अथवा पश्यतीति पशुः अर्थात् इन्द्रियसम्पन्न समस्त प्राणिवर्ग का पति परमेश्वर]

२११. पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः । नास्य पशून् न समानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥७॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ रहने वाला (पशुपतिः) पशुओं का पति अर्थात् रक्षक परमेश्वर; (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी होकर, (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् पश्चिम-और-उत्तर के मध्यवर्ती वायव्य प्रदेश से (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनुतिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इसे (न शर्वः) न दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) न सर्वाधीश्वर परमेश्वर (हिनस्ति, मन्त्र ३) हिंसित करता या हिंसित होने देता है।

(न) और न (अस्य) इस के (पशून्) पशुओं की, (न समानान्) न समान आदि प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा होने देता है। (यः) जो व्रात्य कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा जीवनचर्या करता है ॥७॥ (व्याख्या मन्त्र १-३)। मन्त्र में पशुपति पद द्वारा ईशान का वर्णन हुआ है]

२१२. तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥८॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिए [वैदिक विधियों ने] (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् उत्तर-और-पूर्व के मध्यवर्ती ऐशान प्रदेश से (इष्वासम्) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी रूप में (उग्रम्) प्रचण्डस्वभाव वाले, परन्तु तो भी (देवम्) दिव्य स्वभाव वाले परमेश्वर को (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहनेवाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

[उग्रम्, देवम्=परमेश्वर निज नियमों में उग्ररूप है, परन्तु कर्मफल प्रदान आदि उग्र नियम चूंकि व्यक्तियों के सुधार के लिए हैं, इस लिये इस उग्रता में भी परमेश्वर का दिव्य स्वरूप प्रकट हो रहा है]

२१३. उग्र एनं इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति। नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥९॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ रहने वाला (उग्रः देवः) नियमों में प्रचण्ड तो भी दिव्य स्वभाव वाला परमेश्वर (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी हो कर, (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् उत्तर-और-पूर्व के मध्यवर्ती ऐशान प्रदेश से (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इसे (न शर्वः) दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) न सर्वाधीश्वर परमेश्वर (हिनस्ति; मन्त्र ३) हिंसित करता या हिंसित होने देता है।

(न) और न (अस्य) इस के (पशून्) पशुओं की (न) न (समानान्) समान आदि प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है (यः) जोकि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है। ॥९॥ (व्याख्या, मन्त्र १-३)। मन्त्र में "उग्रः देवः" द्वारा शर्व स्वरूप परमेश्वर का वर्णन हुआ है]

२१४. तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१०॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिए [वैदिक विधियों ने] (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवादिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेश से (इष्वासम्) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी (रुद्रम्) रौद्ररूप वाले परमेश्वर को (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहने वाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

[ध्रुवा दिशा=भूतल, पृथिवी पृष्ठ। ध्रुवा सम्बन्धी अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेश अन्तरिक्ष है। ध्रुवा पृथिवी और ऊर्ध्व द्युलोक का मध्यवर्ती प्रदेश अन्तरिक्ष ही सम्भव है। निरुक्त में रुद्र का सम्बन्ध अन्तरिक्ष के साथ दर्शाया है। "अथातो मध्यमस्थाना देवताः" (निरु० १०।१।५) प्रकरण में रुद्र को मध्यमस्थानी कहा है। रुद्ररूप परमेश्वर पृथिवीस्थ पापियों को रुला कर पश्चाताप द्वारा उन्हें सुपथ में प्रवृत्त करता है।

रुद्रः पापिनो रोदयतीति (उणा० २।२२; महर्षि दयानन्द)। पृथिवीस्थ पापियों को रुलाने का कारण रुद्र का सम्बन्ध पृथिवी अर्थात् ध्रुवादिक के साथ भी है। मेघस्थ विद्युत् भी रुद्र है। वर्षा तथा वज्रपात करने के कारण विद्युत् का सम्बन्ध भी पृथिवी के साथ है। विद्युत् को भी रुद्र कहते है।

२१५. रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति। नैनं शर्वो न भवो नेशानः॥ नास्य पशून न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥११॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ रहने वाला (रुद्रः) पापियों को रुलाने वाला परमेश्वर, (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवा दिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् भूतल-और-द्युलोक के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष प्रदेश से, (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी होकर, (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इसे (न शर्वः) न दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) और न सर्वाधीश्वर परमेश्वर (हिनस्ति) हिंसित करता या हिंसित होते देता है। (न) और न (अस्य) इस के (पशून्) पशुओं की, (न समानान्) न समान आदि प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है (यः) जो व्रात्य कि (एवम्) इस प्रकार ने तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है ॥११॥ (व्याख्या, मन्त्र १-३)। मन्त्र में रुद्र द्वारा रौद्रस्वरूप परमेश्वर का वर्णन हुआ है।

[भूतलरूपी-ध्रुवा दिशा की दृष्टि से ऊर्ध्वादिशा द्युलोक है, जिस में कि सूर्य, नक्षत्र, तथा अनन्त तारागण हैं। इस लिये पृथिवी ध्रुवादिग्रूप है, और द्युलोक ऊर्ध्वादिक् है, तथा इन दोनों के मध्यवर्ती प्रदेश अन्तरिक्ष है, जिस में कि वायु, मेघ और विद्युत् का निवास है]

२१६. तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१२॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिए [वैदिक विधियों ने] (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्वादिशा सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेश से (इष्वासम्) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी (महादेवम्) "महादेव" को

(अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहने वाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

[महादेवम्=परमेश्वर को महादेव कहा है। यह महादेव, परमेश्वर के पूर्वोक्त भव, शर्व नामों आदि की अपेक्षा से महाव्यापी है, महाप्रदेश सम्बन्धी है। इस रूप में परमेश्वर, ऊर्ध्वादिक् अर्थात् द्युलोक से महर्लोक तक प्रशासन करता है। महर्लोक के साथ भी सम्बन्ध होने से परमेश्वर को महादेव कहा प्रतीत होता है। द्युलोक से परे स्वर्लोक तथा स्वर्लोक से भी परे "महर्लोक" है। यथाः—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥ (योगदर्शन ३।२६, व्यास भाष्य)। अर्थात् जनः, तपः, सत्यम्, --ये तीन ब्राह्मलोक हैं, इन से नीचे "महः" नाम का प्राजापत्य लोक है, इस से नीचे "स्वः" नाम का माहेन्द्रलोक है, इस से नीचे "द्युलोक" है जिस में कि तारागण हैं, तथा इस से नीचे पृथिवीलोक है जिस में कि मनुष्य आदि प्रजाएं रहती हैं। अतः पृथिवी से परे द्युलोक, द्युलोक से परे स्वर्लोक, और स्वर्लोक से परे महर्लोक है, जिस तक के अधीश्वर को "महादेव" कहा गया प्रतीत होता है। वैदिक दृष्टि में ७ लोक हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इन में से "महः" तक के प्रशासक होने के कारण परमेश्वर को महादेव कहा है]

२१७. महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति। नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥१३॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ रहने वाला (महादेवः) महादेव परमेश्वर, (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्वादिग् सम्बन्धी (अन्तर्देशात्) अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेश से (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी हो कर (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित रहता है। (एनम्) इस व्रात्य को (न शर्वः) न दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) और न सर्वाधीश परमेश्वर (हिनस्ति) हिंसित करता, या हिंसित होने देता है। (न अस्य) और न इस के (पशून्) पशुओं को, (न समानान्) न समान आदि प्राण वायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है ॥ [व्याख्या, मन्त्र १-३]

२१८. तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥१४॥

(तस्मै) उस व्रात्य संन्यासी के लिये [वैदिक विधियों ने] (सर्वेभ्यः) सभी (अन्तर्देशेभ्यः) अवान्तर प्रदेशों से (इष्वासम्) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी (ईशानम्) सर्वाधीश्वर परमेश्वर को (अनुष्ठातारम्) व्रात्य के साथ निरन्तर स्थित रहनेवाला (अकुर्वन्) निर्दिष्ट किया है।

[सर्वेभ्य अन्तर्देशेभ्यः=अर्थात् महर्लोक से ऊपर के जनः, तपः, सत्यम्,—ये तीनलोक, तथा भूः, भुव,, स्वः और महः,—ये ४ लोक, तथा सूक्त ५वें में कथित अवान्तर आदि प्रदेश,— इन सब का, अर्थात् समग्र ब्रह्माण्ड का एक ही सर्वाधीश है, जिसे कि "ईशान" कहा है]

२१९. ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति। नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥१५॥

(अनुष्ठाता) निरन्तर साथ रहने वाला, (ईशानः) सर्वाधीश्वर परमेश्वर, (सर्वेभ्यः) सभी (अन्तर्देशेभ्यः) अवान्तर प्रदेशों से (इष्वासः) मानो इषुप्रहारी या धनुर्धारी हो कर, (एनम्) इस व्रात्य के साथ (अनु तिष्ठति) निरन्तर स्थित है। (एनम्) इसे (न शर्वः) न दुःखनाशक परमेश्वर, (न भवः) न सुखोत्पादक परमेश्वर, (न ईशानः) न सर्वाधीश परमेश्वर (हिनस्ति, मन्त्र १६) हिंसित करता, हिंसित होने देता है।

२२०. नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥१६॥

(न) और न (अस्य) इस के (पशून्) पशुओं की, (न समानान्) न समान आदि प्राणवायुओं की (हिनस्ति) हिंसा करता या हिंसा होने देता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार जीवनचर्या करता है ॥

[(क) वर्तमान सूक्त ५वें में भव, ईशान, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र तथा महादेव नामों द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। भवनामक परमेश्वर व्रात्य संन्यासी में सद्गुणों की उत्पत्ति करता, ईशान नामक पर-

मेश्वर उत्पादित सद्गुणों की रक्षा करता, तथा शर्वनामक परमेश्वर व्रात्य के अन्तरायों और विघ्नों का विनाश करता है। पशुपति और ईशान शब्द समानाभिप्रायक हैं, रक्षार्थक हैं। उग्र तथा रुद्र शब्द शर्व के अभिप्राय को द्योतित करते हैं। महादेव शब्द परमेश्वर की महत्ता अर्थात् महाकार्य-क्षेत्र में विस्तार का वर्णन करता है।

(ख) सूक्त में अवान्तर प्रदेशों तथा अन्तरिक्ष और द्युलोक आदि में व्रात्य संन्यासी की परमेश्वर द्वारा रक्षा का वर्णन हुआ है। जीवन्मुक्त योगी आकाशगमन कर सकता है। यथा—**"कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमात् लघुतूल समापत्तेश्चाकाश गमनम्"** (योग ३।४२); तथा **"मुनयो वातरशनाः"; वातस्यानुध्राजिं यन्ति;उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्; अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्;** इत्यादि(ऋग्वेद १०।१३६। २, ३, ४)।

इस प्रकार योगी सशरीर आकाश विचरण कर सकता है। और मुक्तात्मा तो लोक लोकान्तरों में भी स्वेच्छ विहारी होता है। ऐसी अवस्थाओं में भी योगी की रक्षा परमेश्वर करता है]

—:o:—

सूक्त ६

अध्यात्मम्। व्रात्यदैवतम्

२२१. स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥१॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (ध्रुवाम्) स्थिरता रूपी (दिशम्) दिशा को (अनु) लक्ष्य कर के (वि अचलत्) विशेषतया चला, अर्थात् प्रयत्नवान् हुआ।

[सूक्त ६ में अध्यात्म-तत्त्वों का वर्णन हुआ है। यह कथन सूक्त के व्याख्येय मन्त्रों की व्याख्या द्वारा स्पष्ट हो जायगा। (दिशम्) दिश् शब्द का प्रयोग केवल प्राकृतिक दिशाओं के लिए ही नहीं होता। दिश् शब्द "निर्देश" के लिए भी प्रयुक्त होता है, और उद्देश्य के लिए भी। यथा "इतिदिक्" अर्थात् "यह निर्देशमात्र है"। तथा दिश् (A Point of

Review; manner of considering a subject, आप्टे), अर्थात् विषय के सोचने विचारने का प्रकार; तथा दृष्टि बिन्दु। ध्रुवा=यह शब्द स्थिरता[1] का सूचक है। यथा "ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथिवी। ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्" (अथर्व० ६।८८।१)। व्रात्य अर्थात् समग्र प्रजा का हितकारी संन्यासी, प्रजारक्षा या प्रजा की स्थिरता के आवश्यक साधनों के लिए प्रथम प्रयत्नशील होता है। इन साधनों का वर्णन मन्त्र २ में किया गया है। यथाः—

२२२. तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥२॥

(तम्) उस के [प्रयत्नों के] (अनु) अनुकूल, (भूमिः च, अग्निः च) उत्पादन स्थान भूमि और पाककारी अग्नि, (ओषधयः च, वनस्पतयः च) ओषधियां और वनस्पतियां, (वानस्पत्याः[2] च, वीरुधः च) वनस्पतियों के फल और बेलें (व्यचलन्) चलीं।

[प्रजाहितकारी संन्यासी ने प्रजा के आवश्यक साधनों के उत्पादक के लिए जब प्रयत्न किया, तब राज-प्रजावर्ग ने, भूमि से खाद्य-भोज्य, तथा रोगोपचार के लिए ओषधि आदि पदार्थों को प्रभूत मात्र में उत्पन्न किया, तथा पाकक्रिया के लिए अग्न्युत्पादक काष्ठादि साधनों की भी व्यवस्था की। ओषधि आदि और भूमि तथा अग्नि के सम्बन्ध में, "व्यचलन्" का प्रयोग काव्यदृष्टि से है। वेद महाकवि परमेश्वर की काव्यमय रचनाएं हैं।

२२३. भूमेश्च वै सोऽग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३॥

(यः) जो राज-प्रजावर्ग (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुकूल आचरण करता है, (वै, सः) निश्चय से वह,

१. ध्रुव स्थैर्ये।

२. **"वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्, तैरपुष्पाद् वनस्पतिः"** मन्त्र में इन पदों का प्रयोग, इन द्वारा प्राप्त फल आदि के निमित्त है।

(भूमेः च, अग्नेः च) उत्पादक भूमि का और अग्नि की सत्ता का, (ओषधीनाम् च, वनस्पतीनाम् च) ओषधियों का और वनस्पतियों का, (वानस्पत्यानाम् च, वीरुधाम् च) वनस्पतियों के फलों आदि का और बेलों का (प्रियम्. धाम) प्रिय स्थान (भवति) हो जाता है। अर्थात् ऐसे राजप्रजावर्ग के राष्ट्र में भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ती तथा ये पदार्थ, प्रभूतमात्राओं में उत्पन्न होने लगते हैं।

[भूमिः=भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः, उत्पत्तिस्थानम् (उणा० ४।४६, म० दयानन्द)]

२२४. स ऊर्ध्वां दिशमनुव्यचलत् ॥४॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी, (ऊर्ध्वाम्)[1] भूमि से उत्पन्न पदार्थों से ऊंचे (दिशम्) उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के, (व्यचलत्) विशेषतया चला, प्रयत्नवान् हुआ।

[ऊर्ध्वाम्=इस शब्द का अर्थ केवल दैशिक-ऊंचाई ही नहीं. अपितु मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक ऊंचाई के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। "त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः" (यजु० ३१।४) में महर्षि दयानन्द ने "ऊर्ध्वः" का अर्थ किया है "सब से उत्तम मुक्ति स्वरूप संसार से पृथक्"। इस प्रकार "ऊर्ध्वः" शब्द का प्रयोग महर्षि ने आध्यात्मिक ऊंचाई के लिए भी किया है।

२२५. तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥

(तम्, अनु) उस व्रात्य-संन्यासी के अनुकूल या साथ साथ (ऋतम्, च) जीवन में नियम व्यवस्था (सत्यम्, च) और सच्चाई; (सूर्यः, च) तथा सूर्य (चन्द्रः, च) और चांद (नक्षत्राणि, च) और नक्षत्र भी (अनु व्यचलन्) मानो अनुचर बन कर चले।

[आत्मानात्मविवेकी, व्रती तथा सर्वहितकारी संन्यासी जहां जहां भी जाता है, नियम व्यवस्था और सच्चाई भी मानो उस के साथ साथ चलती हैं, तथा प्राकृतिक शक्तियां भी मानो अनुचरी बन कर उस की सहायता करने लगती हैं। प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित

---

१. ऊर्ध्वां=उरु+अध्वा=विस्तृतमार्ग, बड़ा मार्गः, अभ्युदय से ऊंचा या बड़ा निःश्रेयस मार्ग।

सूत्र विशेष प्रकाश डालता है। यथा "सत्त्व पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च" (योग ३।४९), अर्थात् "चित्त और पुरुष (जीवात्मा) का भेद जानने वाले को, सब भावपदार्थों पर, स्वामित्व अर्थात् अधिकार, और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है"। सर्वज्ञ होने के कारण वह प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग ज्ञानपूर्वक करता, और उन से यथोचित सहायता प्राप्त कर सकता है। मन्त्र १-३ के अनुसार व्रात्य-संन्यासी ने राजप्रजावर्ग को भूमिज सम्पत्तियों के उपार्जन का सदुपदेश दिया, और मन्त्र ४-६ के अनुसार जीवनों में नियम व्यवस्था तथा सच्चाई का उपदेश दिया, तथा प्राकृतिक शक्तियों को स्वानुकूल बना लेने की ओर राजप्रजावर्ग का ध्यान आकृष्ट किया]

२२६. ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥६॥

(यः) जो व्यक्ति या राजप्रजावर्ग (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (वै) निश्चय से (ऋतस्य च) नियमव्यवस्था का, (सत्यस्य च) और सच्चाई का, (सूर्यस्य च, चन्द्रस्य च, नक्षत्राणाम् च) सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र की शक्तियों का (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान (भवति) हो जाता है, अर्थात् वह नियम व्यवस्था, सच्चाई और प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।

२२७. स उत्तमां दिशमनुव्यचलत् ॥७॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (उत्तमाम्) ऊर्ध्वा से भी उत्तम (दिशम् अनु) निर्देश या उद्देश्य को लक्ष्य कर के (वि, अचलत्) विशेषतया चला, प्रयत्नवान् हुआ।

२२८. तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥८॥

(तम्, अनु) व्रात्य संन्यासी के साथ साथ या अनुकूल (ऋचः, च) ऋग्वेद के मन्त्र, (सामानि, च) और सामवेद के मन्त्र, (यजूंषि, च) यजुर्वेद के मन्त्र, (ब्रह्म, च) और ब्रह्म प्रतिपादक अथर्ववेद (वि अचलन्) विशेषतया चले। ब्रह्म" से अभिप्राय ऋगादि द्वारा प्रतिपाद्य परमेश्वर भी सम्भव है।

[मन्त्र द्वारा व्रात्य-संन्यासी के लिए, वेदस्वाध्याय तथा वेद प्रचार का निर्देश हुआ है। ये दोनों कार्य उत्तम हैं, उत्कृष्ट हैं। तभी महर्षि दयानन्द ने नियम बनाया कि "वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना आर्यों (अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों) का परमधर्म है" (आर्यसमाज के नियम, संख्या ३)। तथा "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" (नियम, संख्या २)]

२२९. ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥९॥

(यः) जो व्यक्ति या राजप्रजावर्ग (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (ऋचाम्, च) ऋग्वेद के मन्त्रों का, (साम्नाम्, च) और सामवेद के मन्त्रों का, (यजुषाम्, च) यजुर्वेद के मन्त्रों का, (ब्रह्मणः, च) और ब्रह्म प्रतिपादिक अथर्ववेद का या परमेश्वर का (प्रियम्, धाम) प्रियस्थान (भवति) हो जाता है, अर्थात् वह वेदों का विद्वान् तथा ब्रह्मज्ञ हो जाता है।

२३०. स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥१०॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (बृहतीम्) उत्तमादिक् से भी बड़ी अर्थात् उत्कृष्ट (दिशम्) दिशा अर्थात् और अधिक उच्च निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (वि, अचलत्) विशेषतया चला, प्रयत्नवान् हुआ।

२३१. तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥

(तम्, अनु) उस व्रात्यसन्यासी के अनुकूल या साथ साथ (इतिहासः, च) इतिहास, (पुराणम्, च) और पुराण, (गाथाः, च) गाथाएं, (नाराशंसीः च) और नाराशंसी ऋचाएं (वि, अचलन्) विशेषतया चलीं।

[पुराणम्=प्रकृति। यथा **"यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु संविदुः"** (अथर्व १०।७।२६), अर्थात् जिस सृष्टिरचना काल में, जगदाधार ने सृष्टि का सर्जन करते हुए, "पुराण" में विवर्त्त अर्थात् विविध परिवर्तन किया, वह जगदाधार का एक अङ्ग अर्थात् साधन था, जिसे कि वेदवेत्ता "पुराण" शब्द द्वारा जानते हैं। इस

प्रकार "पुराणम्" पद द्वारा पौराणिक साहित्य अभिप्रेत नहीं, अपितु जगत् का उपादान कारण प्रकृति अभिप्रेत है।

इतिहासः="**येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः। यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणविद्**" (अथर्व० ११।८।७), अर्थात् जो भूमि इस अर्थात् वर्तमान अवस्था से पूर्वावस्था की थी, जिसे कि सत्पथगामी ही जानते हैं। जो कोई उसे और उसके परिणामों के विविध प्रकारों को जानता है, वह अपने-आप को पुराणवेत्ता माने। नामथा=नाम (परिणाम)+था (प्रकारे)।

इस मन्त्र में "पुराणवेत्ता" उसे कहा है जोकि इस तथ्य को यथार्थरूप में जानता है कि भूमि का पूर्वरूप क्या था, और वह किन परिणामों में से गुजरती हुई इस दृढ़ावस्था में आई है। "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**" (यजु० ३२।६)। अथर्व० मन्त्र ११।८।७ में इतः आसीद् और पूर्वा शब्द "इतिहास" पद की मानो व्याख्यारूप हैं। इतिहास=इति+ह्+आस (इतः+आसीत् पूर्वा)[1]। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि मन्त्र में भूमि की पूर्वावस्था अर्थात् प्रकृति में लीन हुई अवस्था तथा उसके विविध परिणामों के यथार्थ स्वरूपों के जानने को "इतिहास" या "इतः आसीत् पूर्वा" कहा है, मानुष इतिवृत्तों को वेद की परिभाषा में इतिहास नहीं कहा इसीलिये सृष्टि के पुरावृत्तों के जानने वाले को ही इतिहासविद् या पुराणविद् कहना चाहिये। "पुराण" शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति और प्रकृति के परिणामों को जानने वाले को ही वेद में इतिहासविद् या पुराणविद् जानना चाहिए। इसलिये वेद में जहां इतिहास पद मिले वहां नित्य इतिहास ही जानना न कि अनित्य मानुष इतिहास। प्रकृति विज्ञाता=पुराणविद्। सृष्टि विज्ञाता=इतिहासविद्। अद्धातयः=अद्धा सत्यनाम (निघं० ३।१०)+अत सातत्यगमने अर्थात् सत्यानुगामी। नामथा=नाम (परिणाम)+था प्रकारे। "प्रकारवचनेथाल्" (अष्टा० ५।३।२३)।

गाथाः=सम्भवतः सामगान। "**सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परि-**

---

१. इत आसीत्=इत+हा+सीत्=इत्+ई+हास=इतिहास। "इत आसीत्" में "आ" के स्थान में "हा" हुआ है। अ और ह का एक ही स्थान है। "अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः, तथा स्थानेऽन्तरतमः"।

ष्कृता" (अथर्व० १४।१।७) । सूर्या के विवाह सम्बन्धी यह मन्त्र है। इसमें दर्शाया है कि विवाह के समय सूर्या के वस्त्र भद्रजनोचित होने चाहियें, तथा उसे "गाथा" अर्थात् संगीत में या सामगान में प्रवीण होना चाहिये। तथा "इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण:। "**इन्द्रं वाणी-रनूषत**" (अथर्व० २०।१८।४; ४७।४; ७०।७) में दर्शाया है कि अर्की अर्थात् ऋग्वेदी अर्कों अर्थात् ऋचाओं द्वारा, और [यजुर्वेदी] यजुर्वेद की वाणियों द्वारा इन्द्र की स्तुति करते हैं, तथा "गाथा वाले" भी इन्द्र के प्रति "बृहत्-, साम" का स्तवन करते हैं। इस द्वारा यह स्पष्ट होता है कि गाथा से अभिप्राय सामगानों का है, क्योंकि बृहत्" सामगान ही है "गाथा" पर महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "गीयते या सा गाथा" (उणा० २।४)। इस से भी ज्ञात होता है कि गाथा का सम्बन्ध गान से होता है।

नाराशंसी:=निरुक्त के अनुसार "नाराशंस" पद "मन्त्र" वाचक है। यथा "नाराशंसो मन्त्र:" "**येन नरा: प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्र:**" (९।१।१०)। तथा अनादिष्ट देवता का मन्त्रा: "नाराशंसा इति नैरुक्ता:" (७।१।४), अर्थात् जिन मन्त्रों में देवता का कथन नहीं हुआ वे नाराशंस देवताक हैं, उन में नरनारियों के व्यवहारों का आशंस अर्थात् कथन जानना चाहिये। यथा—विवाहसम्बन्धी, वर्णाश्रमधर्मों के कथन सम्बन्धी, उपासना तथा मोक्षादि सम्बन्धी मन्त्र। नाराशंसी: पद स्त्रीलिङ्ग में है, इस लिये "नरनारी सम्बन्धी ऋचाएं" ऐसा अर्थ इस पद का करना चाहिये। सूर्या सूक्त के विवाहमन्त्रों में "**नाराशंसी न्योचनी**" (अथर्व० १४।१।७) में न्योचनी का अर्थ है "साथ साथ रहने वाली", नि (नितराम्) +ओचनी (उच समवाये)। नर नारियों के विवाह सम्बन्धी ऋचाओं का सूर्या के साथ सदा रहना भावपूर्ण है, ताकि उसे गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का सदा स्मरण रहे।

इतिहास पुराण आदि उद्देश्यों को इसलिये "बृहती-दिश्" कहा है कि इन उद्देश्यों में सृष्टि के मूलकारण प्रकृति, सृष्टि रचना के अवान्तर प्रकारों, आध्यात्मिक सामगानों, तथा मनुष्योचित कर्त्तव्यों तथा सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का समावेश हुआ है, और ये उद्देश्य ही चारों वेदों के सारभूत विषय हैं]

२३२. इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥१२॥

(इतिहासस्य, च) इतिहास का (वै) निश्चय से (पुराणस्य, च) और पुराण का, (गाथानाम्, च) और सामगानों का, (नाराशंसीनाम्, च) और नाराशंसी ऋचाओं का (स:) वह (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान (भवति) हो जाता है, (य:) जो संन्यासी कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है।

[अभिप्राय यह कि इस तथ्य का वेत्ता व्यक्ति भी, इतिहास आदि का मनन कर, उन्हें निज जीवन का अङ्ग बना लेता है। वैदिक दृष्टि में ज्ञान का पर्यवसान क्रिया या आचरण में होता है। यथा '**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्**" (पूर्व मीमांसा १।२।१)

२३३. स परमां दिशमनुव्यचलत् ॥१३॥

(स:) वह व्रात्य-संन्यासी (परमाम् दिशम्) उत्कृष्ट अध्यात्मधनरूपी उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, प्रयत्नवान् हुआ।

[परमाम्=पर (उत्कृष्ट)+मा (लक्ष्मी, अर्थात् धन)। मा= The goddess of wealth, Lakshmi (आप्टे)]

२३४. तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥१४॥

(आहवनीय:, च) आहवनीय (गार्हपत्य:, च) और गार्हपत्य (दक्षिणाग्नि: च) और दक्षिणाग्नि, (यज्ञ:, च) और यज्ञ, (यजमान: च) और यजमान; (पशव:, च) और पशु (तम्, अनु) उस व्रात्य-संन्यासी के अनुकूल या साथ साथ (व्यचलन्) विशेषतया चले।

आहवनीय:=अध्यात्म प्रकरण होने के कारण आहवनीय आदि भौतिक अग्नियों का मन्त्र में ग्रहण नहीं है। व्रात्य-संन्यासी के लिए भौतिक तीन अग्नियों का विधान नहीं है। संन्यासग्रहण करने पर तीनों अग्नियों का रूप आध्यात्मिक हो जाता है। यथा '**आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मण: प्रव्रजेद् गृहात्**" (मनु० अध्याय ६), अर्थात् "आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि"—इन अग्नियों को आत्मा में समारोपित कर के ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से संन्यास लेवे" (संस्कार विधि, म० दया०)। तदनुसार आहवनीय है,—मुख। "**यन्मुखे तदाहवनीय:**" (तैत्ति० प्रपा० १० अनु ६४;

संस्कार विधि), तथा **"योऽतिथीनां स आहवनीयः"** (अथर्व० ९।२।६।१३), अर्थात् जो अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का संग है वह संन्यासी के के लिए आहवनीय अग्नि है" (सं० विधि)। तथा **"अतिथिरात्मन् जुहोति"** (अथर्व० ९।२।६।४), अर्थात् व्रात्य अतिथि भोजनादि करता है वह मानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में आहुतियां देता है" (सं० विधि)। **"यदश्नाति तद्धविः"** (तैत्ति० १०।६४), जो संन्यासी खाता है वह घृतादि साकल्य के समान है" (सं० विधि)।

दक्षिणाग्निः= **"यस्मिन् पचति स दक्षिणाग्निः** (अथर्व० ९।२।६।१३), संन्यासो जिस जठराग्नि में अन्नादि को पकाते हैं, वह दक्षिणाग्नि है। (सं० विधि)।

गार्हपत्यः =**यो वेश्मनि स गार्हपत्यः"** (अथर्व० ९।२।६।१३), जो संन्यासो का घर में अर्थात् स्थान में निवास है वह उस के लिए गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है (सं० विधि)।

यज्ञः, यजमानः=**"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य, आत्मा यजमानः"** (तैत्ति० १०।६४), इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए उस विद्वान् संन्यासाश्रमरूप अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का यजमान, स्वस्वरूप है" (सं० विधि)। स्वस्वरूप=देहादि व्यतिरिक्त आत्मस्वरूप।

पशवः=**"मन्युः पशुः** (तैत्ति० १०।६४), पापों के निराकरण और पापियों के सुधार के लिए, संन्यासी में जो विचार और मननपूर्वक किया गया क्रोध है, वह पशु[1] है।

व्यचलन्=सूक्त ६ में पद यात्रा सम्बन्धी चलन नहीं है। इस सूक्त में अपने आश्रम में ही स्थित रहने वाले संन्यासी की क्रमिक उन्नति का वर्णन है। इस लिये "व्यचलत्" अर्थात् विचरते द्वारा संन्यासी के साथ इन भावनाओं के सहचार अर्थात् विद्यमान होने का ही वर्णन हुआ है। अर्थात् ये भावनाएं तथा विचार संन्यासी के साथ सदा रहते हैं, ताकि वह अधिकाधिक आत्मविकास कर सके]

---

१. पशु दुग्ध, घृत आदि के प्रदान द्वारा यज्ञ और यजमान के सहायक होते हैं। इसी प्रकार संन्यासी का मन्यु भी पापों के निराकरण और पापियों के सुधार के लिए संन्यासी का सहायक होता है।

२३५. आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥१५॥

(यः) जो संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार आचरण करता है, (सः) वह (वै) निश्चय से, (आहवनीयस्य, च) आहवनीय का, (गार्हपत्यस्य, च) और गार्हपत्य का, (दक्षिणाग्नेः, च) और दक्षिणाग्नि का, (यज्ञस्य, च) यज्ञ का, (यजमानस्य, च) तथा यजमान का, (पशूनाम्, च) और पशुओं का, (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान अर्थात् आश्रय (भवति) हो जाता है।

[जीवन्मुक्त-संन्यासी के लिए कोई विशेष कर्त्तव्य शेष नहीं रहते। वह अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा में केवल शारीरिक स्थिति बनाए रखने के लिए ही अन्न ग्रहण करता, तथा जीवन-यज्ञ को रचाए रहता, और पाप-कर्मों के निराकरण में उग्रतापूर्वक यत्नवान् रहता है। यह स्थिति उस के लिये "परमा" स्थिति है, परमादिश् अर्थात् परम-उद्देश्य है]

२३६. सोऽनादिष्टां दिशमनुव्यचलत् ॥१६॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी, (अनादिष्टाम्) अनिर्दिष्ट अर्थात् जिस की इयत्ता का निर्देश नहीं हो सकता, उस (दिशम्) दिश् अर्थात् उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के, (व्यचलत्) विशेषतया चला।

२३७. तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥१७॥

(तम्, अनु) उस संन्यासी के अनुकूल या साथ साथ (ऋतवः, च) ऋतुएं (आर्तवाः च) ऋतुसमूह अर्थात् उत्तरायण काल तथा दक्षिणायन काल और वर्ष, (लोकाः, च) लोक, (लौक्याः, च) और लोकवासी, (मासाः, च) महीने, (अर्धमासाः, च) शुक्ल तथा कृष्णपक्ष, (अहोरात्रे, च) और दिन-रात (व्यचलन्) चले, उस की अनुकूलता में हो गये।

[मन्त्र द्वारा काल और लोक लोकान्तरों का संन्यासी के वशीभूत हो जाने का निर्देश है। संन्यासी काल को वशीभूत कर मृत्युञ्जय हो

जाता है, और लोक लोकान्तरों को वशीभूत कर इन में स्वेच्छया विचरण करता तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि विभूतियों को प्राप्त कर लेता है। आकाशगमन की विभूति (योग ३।४२), तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व की विभूति आदि (योग ३।४९ आदि)]

२३८. ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥१८॥

(यः) जो संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (वै) निश्चय से (ऋतूनाम्, च) ऋतुओं का (आर्तवानाम्, च) ऋतुसमूहों अर्थात् उत्तरायण काल, दक्षिणायन काल और वर्ष का, (लोकानाम्, च) लोकों का, (लौक्यानाम्, च) लोकवासियों का, (मासानाम्, च) महीनों का, (अर्धमासानाम्, च) और शुक्ल तथा कृष्णपक्ष का, (अहोरात्रयोः, च) और दिन-रातों का (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान (भवति) हो जाता है।

२३९. सोऽनावृत्तां दिशमनुव्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥१९॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी, (अनावृत्ताम्) जो लौटती नहीं अर्थात् अनावर्तन, अनावृत्ति की (दिशम्) दिशा अर्थात् उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलत्) विशेषतया चला; (ततः) उस दिशा या उद्देश्य से (न, आवर्त्स्यन्) वह न लौटेगा यह (अमन्यत)[1] उस ने माना, या विचार किया।

[अनावृत्ताम्=यह मोक्ष की दिशा या उद्देश्य है। मोक्ष प्राप्त कर के मुक्तात्मा चिरकाल तक मोक्ष सुख भोगते रहते हैं, और चिरकाल तक संसारी जीवात्माओं की तरह पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के शिकार नहीं होते। "अनावृत्ताविश्" का वर्णन "न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते" (छा०

१. अमन्यत=मन्त्र में यह नहीं कहा कि वह "आवर्तन" नहीं करेगा, अपितु यह कहा है कि "उस ने माना कि वह आवर्तन अर्थात् लौटेगा नहीं। क्या इस द्वारा यह ध्वनित नहीं होता कि यह व्रात्य का ही मानना है, परन्तु वस्तुतः यह बात ऐसी नहीं है, अर्थात् नियत काल के मोक्ष के पश्चात् तो लौटना होता ही है।

उप० ८।१५।१), तथा "अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति-शब्दात्" (वेदान्त ४।४।२२) द्वारा भी हुआ है। इन प्रमाणों में भी किसी नियत काल तक सीमित-मुक्ति से पूर्व, पुनरावर्तन का निषेध है, पुनरावर्तन का सर्वदा निषेध नहीं। इस सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९ का मुक्ति प्रकरण विशेषतया द्रष्टव्य है।

२४०. तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥२०॥

(तम् अनु) उस व्रात्य-संन्यासी के अनुकूल या साथ साथ (दितिः, च) दिति अर्थात् विनाश शक्ति (अदितिः, च) और निर्माणशक्ति, (इडा, च) वाक्शक्ति (इन्द्राणी, च) और जीवात्मा की आत्मिक शक्ति (व्यचलन्) विशेषतया चलीं।

[दितिः[1]=दो (अवखण्डने, दीङ्क्षये)+क्तिन्। अर्थात् विनाश करने की शक्ति। अदिति=विनाश शक्ति की विरोधिनी निर्माणशक्ति। जीवन्मुक्त को ये दोनों शक्तियां प्राप्त रहती हैं। वह पापों के विनाश तथा सद्गुणों के आवाप या निर्माण में समर्थ होता है। सर्वभावाधिष्ठातृत्व शक्ति के कारण वह प्राकृतिक वस्तु के विनाश तथा निर्माण का भी सामर्थ्य रखता है।

इडा=वाणी; speech (आप्टे)। जीवन्मुक्त ऋषियों की वाणी सत्यसिद्ध होती है। भवभूति कवि ने कहा है कि "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्तते" (उत्तर रामचरित) अर्थात् आदि के ऋषियों की वाक्शक्ति के अनुसार वस्तुसिद्धि हो जाया करती थी।

इन्द्राणी=इन्द्र (जीवात्मा), उस की निजशक्ति, आत्मिक शक्ति। इसलिये इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के ज्ञान-तथा-कर्म के साधनों को इन्द्रिय कहते हैं।

व्यचलन्=ये शक्तियां जीवन्मुक्त के साथ साथ चलती हैं, अर्थात् उस की सहचारिणी बन जाती हैं]

२४१. दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥

१. अथवा दिति अर्थात् नश्वर प्राकृतिक शक्ति, और अदिति अर्थात् अनश्वर पारमेश्वरी शक्ति उच्चतम कोटि के जीवन्मुक्त की सदा सहायता करती हैं।

(यः) जो संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (वै) निश्चय से (दितेः, च) विनाश शक्ति का (अदितेः, च) और निर्माण शक्ति का, (इडायाः, च) वाक्‌शक्ति का (इन्द्राण्याः च) और जीवात्मा की आत्मिकशक्ति का, (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान, आश्रय (भवति) हो जाता है।

२४२. स दिशोनुव्यचलत् तं विराडनुव्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥२२॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (दिशः) उपर्युक्त सब निर्देशों या उद्देश्यों को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, (तम्, अनु) उस के अनुकूल या साथ साथ (विराट्) दीप्यमान जगत् (व्यचलत्) चला, (सर्वे च देवाः) सब देव, (सर्वाः च देवताः) और सब दिव्यशक्तियां चलीं।

[अर्थात् जीवन्मुक्त के अनुकूल,-जगत्, दिव्यपदार्थ और उन की शक्तियां चलती हैं]

२४३. विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२३॥

(यः) जो संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (वै) निश्चय से, (विराजः च) दीप्यमान जगत् का, (सर्वेषाम्, च, देवानाम्) सब दिव्य पदार्थों का, (सर्वासाम्, च, देवतानाम्) और सब दिव्यशक्तियों का (प्रियम्, धाम) प्रिय स्थान अर्थात् आश्रय (भवति) हो जाता है।

[देवानाम्, देवतानाम्=अथवा सब दिव्यगुणी विद्वानों, तथा दिव्य-गुणी विदुषी देवियों का प्यारा बन जाता है, अर्थात् वे ऐसे व्यक्ति के साथ स्नेह करने लगते हैं]

२४४. स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत् ॥२४॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (सर्वान्) सब (अन्तर्देशान्) अवान्तर निर्देशों को भी (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्)) विशेषतया चला।

[अन्तर्देशान्=योग के गौण निर्देशों अर्थात् शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय आदि। मन्त्र २३ तक योग के मुख्य निर्देशों का कथन हुआ है। वर्तमान मन्त्र द्वारा यह कथन किया है कि जीवन्मुक्त योग के मुख्य निर्देशों के साथ साथ गौण निर्देशों का भी पालन करता रहता है]

२४५. तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥२५॥

(तम्, अनु) उस व्रात्य-संन्यासी के अनुकूल होकर, (प्रजापतिः च) प्रजाजनों का रक्षक राजा, (परमेष्ठी च) और सर्वोच्च स्थान में स्थित सम्राट्, (पिता, च, पितामहः च) तथा प्रजावर्ग के बुजुर्ग (व्यचलन्) विशेषतया चले।

[प्रजापतिः="सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने". (अथर्व० ८।१२।१) में प्रजापति द्वारा राजा का वर्णन हुआ है। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि "सभा (लोकसभा) और समिति (राजसभा) या युद्धसमिति, एकमत होकर, मेरी रक्षा करें और मेरी कामना को पूर्ण करें, या मेरी दो पुत्रियों के सदृश मेरी रक्षा करें। दुहितरौ=दुह प्रपूर्णे।

परमेष्ठी[1]=महाराज, सर्वोपरि राजा, (अथर्व० १३।१।१७, १८, १९), सम्राट्।

२४६. प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२६॥

(यः) जो संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता तथा तदनुसार आचरण करता है (सः) वह (वै) निश्चय से, (प्रजापतेः, च) प्रजापति का, (परमेष्ठिनः, च) और परमेष्ठी का, (पितुः च) पिता का (पितामहस्य, च) और पितामह का प्रजावर्ग के बुजुर्गों का (प्रियम्, धाम) प्रेमपात्र (भवति) हो जाता है।

—:o:—

१. काण्ड १३, सूक्त १ राष्ट्र परक है। यथा "राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत्" (१३।१।१)। काण्ड १३, सूक्त १ के मन्त्र १७, १८, १९ में "परमेष्ठिन्" पद सम्राट् परक प्रतीत होता है। वस्तुतः सूक्त १ में सूर्य, परमेश्वर और सम्राट् का मिश्रित वर्णन है।

सूक्त ७

अध्यात्मम् । व्रात्यदैवतम्

२४७. स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवद् ॥१॥

(सः) वह व्रात्य-संन्यासी (महिमा) महिमारूप (भूत्वा) हो कर (सद्रुः) द्रुतगति से (पृथिव्याः) पार्थिव शरीर के (अन्तम्) प्रान्त भाग अर्थात् शिरःस्थ सहस्रारचक्र तक (अगच्छत्) पहुँचा। (सः) वह वहां (समुद्रः) योगमुद्रा सम्पन्न (अभवत्) हो गया।

[महिमा=व्रात्य की इतनी महिमा बढ़ी कि वह शरीरधारी-महिमा-रूप हो हो गया, अर्थात् वह महामहिम हो गया।

सद्रुः=स+द्रु (गतौ), द्रुत गति वाला, अथवा शीघ्र ही।

पृथिव्याः=पृथिव्याः शरीरम् (अथर्व० ५।१०।८), "पृथिवी शरीरम्" (अथर्व० ५।९।७) इन मन्त्रों में पृथिवी द्वारा शरीर का ग्रहण प्रतीत होता है। क्योंकि शरीर रूपान्तर है, पृथिवी का। जैसे कि कहा है कि "Qust thou art to dust returneth", अर्थात् तुम मिट्टी हो, मिट्टी में ही वापिस लौट जाते हो।

समुद्रः=मुद्रयासहितः (योग मुद्रा सहित; स्वरूपावस्थिति) शरीर के प्रान्तभाग अर्थात् सिर में "सहस्रारचक्र" है, जहां पहुंच कर, अर्थात् ध्यानावस्थित हो कर, योगी परमगति को प्राप्त हो जाता है]

२४८. तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥२॥

(तम्) उस योगी व्रात्य-संन्यासी के (अनु) अनुकूल,—(प्रजापतिः, च) प्रजाजनों का रक्षक राजा (परमेष्ठी, च) और सर्वोच्च स्थान में स्थित सम्राट्, (पिता च, पितामहः च) पिता, पितामह अर्थात् प्रजावर्ग के बुजुर्ग, (आपः, च) व्यापक परमेश्वर (व्यावर्तन्त) वर्तने लगे। (वर्षम् भूत्वा, श्रद्धा च) और श्रद्धा वर्षा का रूप धारण कर वर्तने लगी, बरसने लगी।

[आपः=व्यापक परमेश्वर, आप्लृ व्याप्तौ। यथा "तदेवाग्निस्तदा-द्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में, परमेश्वर को "आपः" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है।

श्रद्धा वर्षंभ भूत्वा=प्रजाजनों, राजा-महाराजाओं, बुजुर्गों को श्रद्धा की वर्षा मानो इस योगमुद्रासम्पन्न व्रात्य-संन्यासी पर बरसने लगती है]

२४९. ऐनमापो गच्छन्त्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥३॥

(यः) जो योगी संन्यासी व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है, (एनम्) इस को भी (आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर (आ गच्छति) अनुकूलरूप में प्राप्त होता है, (एनम्) इसे राजा आदि की (श्रद्धा) श्रद्धा (आगच्छति) प्राप्त होती है, (एनम्) इसे (वर्षम्) श्रद्धा की वर्षा (आ गच्छति) प्राप्त होती है।

[आपः=परमेश्वरार्थ की दृष्टि से "आ गच्छति" में एकवचन। अथवा आपः=सुकर्म।

२५०. तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभि-पर्यावर्तन्त ॥४॥

(तम्) उस योगी व्रात्य-संन्यासी को (श्रद्धा, च) लोगों की श्रद्धा, (यज्ञः, च) परमेश्वर देव की पूजा, संगति तथा आत्मसमर्पण की भावना, (लोकश्च) प्रजाजन, (अन्नम्, च) पेय-लेह्य आदि अन्न, (अन्नाद्यम्, च) और खाद्य-अन्न (भूत्वा) वर्षारूप हो कर (अभि पर्यावर्तन्त) सब ओर से प्राप्त होते हैं।

२५१. ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥५॥

(एनम्) इस योगी संन्यासी को भी (श्रद्धा) श्रद्धा (आगच्छति)

प्राप्त होती है, (एनम्) इसे (यज्ञ:) परमेश्वर देव की पूजा, संगति, तथा आत्मसमर्पण की भावना (आ गच्छति) प्राप्त होगी है, (एनम्) इसे (लोक:) प्रजाजन (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (एनम्) इसे (अन्नम्) पेय तथा लेह्य आदि अन्न (आगच्छति) प्राप्त होता है, (एनम्) इसे (अन्नाद्यम्, च) खाद्य-अन्न तथा उपयुक्त सब कुछ (गच्छति) प्राप्त होते हैं (य:) जो व्यक्ति कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है।

प्रथम अनुवाक समाप्त

सूक्त ८

व्रात्य दैवतम्

५२२. सौ॑ऽरज्यत॒ ततो॑ राज॒न्यो॑ऽजायत ॥१॥

(स:) वह अर्थात् व्रती-व्रात्य (अरज्यत) अनुरागवान् हुआ, (तत:) तदनन्तर (राजन्य:) राजन्यरूप में (अजायत) पैदा हुआ, प्रकट हुआ।

व्याख्या—समग्र १५वें काण्ड का देवता व्रात्य है। इस लिये "स:" द्वारा व्रात्य का ग्रहण किया है। यह व्रात्य "राजन्य" है, राजाओं में श्रेष्ठ है। प्रजाओं के पालन में उसे अनुराग युक्त होना चाहिए, इस निमित्त उसे व्रत धारण करना चाहिए, तभी वह राजन्य अर्थात् राजाओं में श्रेष्ठ कहलाएगा। यजुर्वेद २०।२ में सम्राट् को "धृतव्रतः वरुण:" कहा है। अर्थात् प्रजा द्वारा स्वीकृत किये गए सम्राट् को प्रजापालन का व्रतधारण करना चाहिए कि वह प्रजा को निज देह का अङ्ग, प्रत्यङ्ग जानकर उस का पालन-पोषण तथा संरक्षण करेगा। ऐसा व्रत ग्रहण करना वेद ने सम्राट् या राजा के लिये आवश्यक माना है (यजु० २०।५-८)। सूक्त ८ का राजन्य भी इसी प्रकार का व्रात्य अर्थात् व्रती है।

अरज्यत, राजन्य:—इन शब्दों द्वारा प्रतीत होता है कि राजन्यपद में, वेद ने, "रञ्ज" धातु मानी है, जिस का अर्थ है "राग", अर्थात् प्रजा

के प्रति अनुराग, अर्थात् प्रजारञ्जन, प्रजा की प्रसन्नता। परन्तु उणा० ३।१०० में राजन्यपद का व्युत्पादन "राजृ दीप्तौ" द्वारा किया है। "अजायत" पद द्वारा राज्याभिषेक विधि से, राजन्य के द्वितीयजन्म अर्थात् द्विज होने का निर्देश किया है। अत: "राज्ञ:, अपत्यं राजन्य:" यह व्युत्पत्ति वेदानुमत प्रतीत नहीं होती। कवि ने "राजन्" शब्द में भी रञ्ज् धातु का प्रयोग किया है, यथा "**राजा प्रकृतिरञ्जनात्**" (रघुवंश २।१२); "**राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्ण:**" (रघुवंश ६।१२); तथा ""**तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्** (रघुवंश ४।१२)।

२५३. स विश॒: सब॑न्धूनन्न॑म॒न्नाद्य॑म॒भ्युद॑तिष्ठत् ॥२॥

(स:) उस ने (सबन्धून्) बन्धु-बान्धवों सहित (विश: अभि:) प्रजाओं को लक्ष्य करके, तथा (अन्नम्, अन्नाद्यम्) पेय-लेह्य-चूष्य अन्नों और खाद्यान्नों को लक्ष्य करके: (उदतिष्ठत्)[1] उत्त्थान[1] किया, प्रयत्न किया। इन को समुन्नति के लिए यत्न किया।

२५४. वि॒शां च॒ वै स सब॑न्धूना॒ं चान्न॑स्य चा॒न्नाद्य॑स्य च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य एवं वेद॑ ॥३॥

(य:) जो अन्य राजा भी (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है (स:) वह (वै) निश्चय से (सबन्धूनाम्) बन्धु-बान्धवों सहित (विशाम् च) प्रजाजनों का, (अन्नस्य च, अन्नाद्यस्य च) पेय आदि अन्नों तथा खाद्यान्नों का (प्रियं धाम भवति) प्रिय स्थान बन जाता है।

अर्थात् राजन्य को चाहिये कि वह प्रजाजनों की समुन्नति के साथ-साथ, निज बन्धु-बान्धवों को भी उन्नति करे, और राज्य में खान-पान की सामग्री के लिये भी प्रयत्न करे।

---

१. उदतिष्ठत् (अथर्व० १५, सू० २)। उत्थान=EFFORT (आप्टे)।

सूक्त ९

व्रात्य दैवतम्

२५५. स विशोऽनुव्यचलत् ॥१॥

(सः) वह व्रात्य अर्थात् प्रजापालन व्रतधारी राजन्य, (विशः) प्रजाजनों के (अनु) अनुकूल हो कर (व्यचलत्) विशेषतया चला, अर्थात् उस ने राज्यप्रशासन किया।

२५६. तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥२॥

(तम्) उस व्रात्य-राजन्य की (अनु) अनुकूलता में, (सभा च) राजसभा, धर्मसभा, विद्यासभा, (समितिः च) युद्धसभा, (सेना च) सेना, (सुरा च) और ऐश्वर्य अर्थात् राज्यकोष तथा जल विभाग (व्यचलन्) विशेषतया चले।

[मन्त्र १ के अनुसार राजा प्रजा के अनुकूल चला, अतः परिणाम रूप में प्रजाएं राजा के अनुकूल चलीं। सुरा=षुर=सुर (ऐश्वर्य)। सुरा उदकनाम (निघं० १।१२)। राज्य में कृषि आदि के लिये जल का विभाग]

२५७. सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३॥

(यः) जो अन्य राजा भी (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है, (सः) वह (वै) निश्चय से, (सभायाः, च) पूर्वोक्त तीन सभाओं का, (समितेः, च) और युद्धसभा का, (सेनायाः, च) और सेनाओं का, (सुरायाः, च) और राज्यैश्वर्य का तथा जल विभाग का (प्रियम्, धाम) प्रेमस्थान (भवति) हो जाता है। अर्थात् ऐसे राजा के सुशासन में सभा आदि सहयोग देने लगते हैं।

[सूक्त ८ में अन्न और अन्नाद्य का वर्णन हुआ है। इन की सत्ता जल पर निर्भर है। अतः सूक्त ९ में "सुरा" द्वारा जल का भी वर्णन हुआ है।

सूक्त १०

व्रात्य दैवतम्

२५८. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

(तद्) अतः (एवम्, विद्वान्) इस प्रकार का विज्ञानी (व्रात्यः) व्रती तथा प्रजाजन हितकारी (अतिथिः) बिना तिथि नियत किये अतिथि (यस्य, राज्ञः) जिस राजा के (गृहान्) गृहवासियों या घरों में (आगच्छेत्) आ जाय,—

[एवं विद्वान्=पूर्व सूक्त ३ और ७ में वर्णित योगमुद्रा सम्पन्न विज्ञानी। गृहान्=घरवाची गृह शब्द नपुंसक लिङ्गी होता है, अतः गृहान् का अर्थ है गृहवासी। [तात्स्थ्यात् गृहाः दाराः]

२५९. श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥२॥

(एनम्) इस अतिथि को (आत्मनः) अपने से (श्रेयांसम्) श्रेष्ठ जान कर (मानयेत्) इसका मान करे। (तथा) इस प्रकार राजा (क्षत्राय) क्षात्रधर्म से (न आवृश्चते) अपने आप को वञ्चित नहीं करता, (तथा) इस प्रकार (राष्ट्राय) राष्ट्र से (न आवृश्चते) अपने-आप को वञ्चित नहीं करता।

[क्षत्राय=क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः (कालिदास, रघुवंश २।५३)। सब की रक्षा और पालन करना क्षत्रियों का धर्म है। राष्ट्राय नावृश्चते=रक्षा से विपरीतवृत्ति राजा राष्ट्रशासन से अपने को वञ्चित कर लेता है, प्रजा द्वारा च्युत कर दिया जाता है (द्र० अथर्व० ६।८७।१)

२६०. अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥३॥

(वै) निश्चय से, (अतः) इस विद्वान् व्रात्य अतिथि से, (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्मसम्बन्धी और क्षत्रसम्बन्धी उपदेश (उदतिष्ठताम्) उठे,

प्रकट हुए। (ते) वे ब्रह्म और क्षत्र (इति अब्रूताम्) यह बोले कि (कम्) किस में (प्रविशाव) हम प्रवेश करें?

[मन्त्र में ब्रह्म और क्षत्र कोई व्यक्ति विशेष नहीं, जो कि वस्तुतः बोल सकें और पूछ सकें। ये दोनों भावद्योतक शब्द हैं। कविता की दृष्टि से इन अचेतन भावों को भी चेतनदृष्ट्या वर्णित किया है। ऐसे वर्णन वेदों में प्रायः हुए हैं, जिन्हें ऐतिहासिक मान लेना भ्रान्तिमूलक ही है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि राजा द्वारा सम्मान का अधिकारी ऐसा ही विद्वान् तथा व्रात्य अतिथि होना चाहिए, जोकि ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म का उपदेश दे सके]

२६१. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ४।

(अतः) इसलिये (वै) निश्चय से, (बृहस्पतिम्, एव) बृहस्पति में ही (ब्रह्म) ब्राह्मधर्म (प्राविशतु) प्रवेश करे, (इन्द्रम्) और इन्द्र में (क्षत्रम्) क्षात्रधर्म प्रवेश करे (तथा, वै, इति) इस प्रकार निश्चय से यह उत्तर मिला।

२६२. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥५॥

(अतः) इस लिये (वै) निश्चय से (बृहस्पतिम्, एव) बृहस्पति में ही (ब्रह्म) ब्राह्मधर्म (प्राविशत्) प्रवेश पाया, और (इन्द्रम्) इन्द्र में (क्षत्रम्) क्षात्रधर्म प्रवेश पाया।

२६३. इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥६॥

(वै, उ) निश्चय से ही, (इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (बृहस्पतिः) बृहस्पति है, और (द्यौः एव) द्युलोक ही (इन्द्रः) इन्द्र है।

[बृहस्पतिः=बृहती (छन्दः)+पतिः। बृहती आदि वैदिक छन्दों से युक्त वेदवाणी की रक्षिका=पृथिवी। क्योंकि पृथिवीस्थ मनुष्यजाति, वेदों के स्वाध्याय द्वारा वेदवाणी की रक्षिका है। इन्द्र=इदि परमैश्वर्ये। चन्द्र, तारागण और नक्षत्रादि ऐश्वर्य का आधार द्युलोक है। अतः इन्द्र=द्यौः। पृथिवी ऐश्वर्य का खजाना है। पृथिवी सूर्य से पैदा हुई है, अतः सूर्य बड़ा खजाना है,—ऐश्वर्य का। और सूर्य द्युलोक का एक अङ्ग है, अतः द्युलोक सूर्य से भी बड़ा खजाना है,—ऐश्वर्य का। अतः इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यों का आधार है,—द्युलोक।

२६४. अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥७॥

(वै, उ) निश्चय से ही, (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (ब्रह्म) ब्राह्मधर्मरूप है, अर्थात् ब्राह्मधर्म का आधार है, और (असौ) वह (आदित्यः) सूर्य (क्षत्रम्) क्षात्रधर्मरूप अर्थात् क्षात्रधर्म का आधार है।

[अग्निः, आदित्यः=आदित्य उग्ररूप है, उग्र तेज का आश्रय है; और अग्नि अनुग्ररूप है। क्षात्रधर्म भी उग्ररूप है, और ब्राह्मधर्म अनुग्र अर्थात् शान्तरूप है। क्षात्रधर्म दण्डधर है, ब्राह्मधर्म क्षमाधर। अतः अग्नि ब्राह्मधर्म की प्रतिनिधि है, और आदित्य क्षात्रधर्म का प्रतिनिधि है]

२६५. ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥८॥

२६६. यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥९॥

(एनम्) इसे (ब्रह्म) ब्राह्मधर्म (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (ब्रह्मवर्चसी) वह ब्राह्मतेज से सम्पन्न (भवति) हो जाता है ॥८॥ (यः) जो कि (पृथिवीम्) पृथिवी को (बृहस्पतिम्) बृहस्पति और (अग्निम्) अग्नि को (ब्रह्म) ब्रह्म (वेद) जानता तथा तदनुकूल आचरण करता है।

[ब्रह्म=ब्राह्मधर्म या परमेश्वर]

२६७. ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥१०॥

२६८. य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥११॥

(एनम्) इसे (इन्द्रियम्) राजलक्ष्मी (आ गच्छति) प्राप्त होती है, वह (इन्द्रियवान्) राजलक्ष्मी वाला (भवति) हो जाता है ॥१०॥ (यः) जो (आदित्यम्) आदित्य को (क्षत्रम्) क्षत्र और (दिवम्) द्युलोक को (इन्द्रम्) इन्द्र (वेद) जानता तथा तदनुकूल आचरण करता है। इन्द्रियम् =धननाम (निघं० २।१०)।

[अनुसन्धान सम्बन्धी निर्देशः—

पृथिवी=बृहस्पति, द्यौः=इन्द्रः
अग्निः=ब्रह्म आदित्यः=क्षत्रम्

इस प्रकार "बृहस्पतिः, पृथिवी, ब्रह्म, अग्निः" शब्द मन्त्रार्थ में

लगभग पारस्परिक सम्बन्धी रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, प्रकरणानुसार। तथा "इन्द्रः, द्यौः, क्षत्रम्, आदित्यः" शब्द भी लगभग पारस्परिक सम्बन्धीरूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, प्रकरणानुसार। निर्देश में वाण द्वारा ब्रह्म का बृहस्पति में, तथा क्षत्र का इन्द्र में प्रवेश दर्शाया है]

सूक्त ११

व्रात्य दैवतम्

२६९. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

(तद्) अतः (एवम्, विद्वान्) इस प्रकार का विज्ञानी (व्रात्यः) व्रती तथा प्रजाजन हितकारी (अतिथिः) विना तिथि नियत किये अतिथि (यस्य गृहान्) जिस के गृहवासियों या गृहों में (आ गच्छेत्) आ जाय—

२७०. स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥

(स्वयम्) गृहस्थी अपने-आप (एनम्) इस अतिथि के (अभि) सम्मुख (उदेत्य) उठ आकर (ब्रूयात्) कहे कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (क्व) कहां (अवात्सीः) निवास था, अर्थात् कहां से आप आए हैं, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (उदकम्) जल या जलपान स्वीकार कीजिये, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (तर्पयन्तु) मेरे गृहवासी या भोज्यपदार्थ आप को तृप्त करें, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जिस प्रकार (ते) आपकी (प्रियम्) प्रिय वस्तु सिद्ध हो (तथा अस्तु) वैसा किया जाय, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जिस प्रकार (ते) आप की (वशः) इच्छा हो (तथा, अस्तु) वैसा हो, या किया जाय, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जिस प्रकार (ते) आप की (निकामः) विशेष कामना हो (तथा, अस्तु, इति) वैसा हो, या किया जाय।

[सूक्त ११ से व्रात्य राजगृह का अतिथि न होकर, प्रजा के गृह का अतिथि प्रतीत होता है। व्रात्यपद द्वारा व्रती तथा प्रजाजनहितकारी, विज्ञानी अतिथि का ग्रहण है]

२७१. यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एवं तेन देवयानानवरुन्द्धे ॥३॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी करता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (क्व) कहां (अवात्सीः, इति) आप का निवास था, अर्थात् आप कहां से पधारे हैं, (तेन) उस द्वारा गृहस्थी (देवयानाम् पथः, एव) विद्वान् तथा दिव्यगुणी लोगों के शिष्टाचारमार्गों को ही (अवरुन्द्धे) स्वीकार करता है।

२७२. यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एवं तेनावरुन्द्धे ॥४॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी कहता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (उदकम्, इति) जल या जलपान ग्रहण कीजिये, (तेन) उस द्वारा गृहस्थी (अपः, एव, अवरुन्द्धे) जल या जलपान को ही उपस्थित करता है।

२७३. यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥५॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी कहता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (तर्पयन्तु, इति) मेरे गृहवासी या भोज्यपदार्थ आप को तृप्त करें, (तेन) उस द्वारा (प्राणम्, एव) अतिथि के प्राण या जीवन को या प्राणप्रद भोजन को (वर्षीयांसम्) प्रवृद्ध (कुरुते) करता है, बढ़ाता है।

[खानपान से जीवन बढ़ता है, और अनशन से जीवन घटता है। वर्षीयांसम्=अधिक वर्षों वाला। वृद्ध (वर्ष), "प्रिय...वृद्ध...वृन्दारकाणां प्र—वर्षि" (अष्टा० ६।४।१५७)+ईयसुन्]

२७४. यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनावरुन्द्धे ॥६॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी कहता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जिस प्रकार (ते) आपकी (प्रियम्)

प्रिय वस्तु सिद्ध हो (तथा, अस्तु, इति) वैसा किया जाय, (तेन) उस द्वारा (प्रियम्, एव) अतिथि की प्रिय वस्तु को ही (अवरुन्द्धे) गृहस्थी उपस्थित करता है।

२७५. ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥७॥

(एनम्) इस गृहस्थी को (प्रियम्) अतिथि की प्रिय वस्तु (आ गच्छति) प्राप्त हो जाती है, और गृहस्थी (प्रियम्) अतिथि की प्रिय वस्तु का (प्रियः) प्यारा[1] (भवति) हो जाता है, (यः) जो गृहस्थी कि (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता तथा तदनुकूल व्यवहार करता है।

२७६. यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनावरुन्द्धे ॥८॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी कहता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य! (यथा) जैसी (ते) आप की (वशः) इच्छा हो (तथा) वैसा (अस्तु इति) किया जाय, (तेन) उस द्वारा (वशम्, एव) अतिथि की इच्छा की ही गृहस्थी (अवरुन्द्धे) पूर्ति करता है। (वशः=कान्तौ, कान्तिः इच्छा)

२७७. ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥९॥

(एनम्) इस गृहस्थी को (वशः) इष्ट वस्तु (आ गच्छति) प्राप्त हो जाती है, और गृहस्थी (वशिनाम्) इष्ट वस्तुओं को (वशी भवति) अपने वश में करने वाला हो जाता है, (यः) जो गृहस्थी कि (एवम्) इस प्रकार जानता और तदनुसार यत्न करता है।

२७८. यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनावरुन्द्धे ॥१०॥

(यद्) जो (एनम्) इस अतिथि को (आह) गृहस्थी कहता है कि (व्रात्य) हे व्रात्य! (यथा) जैसी (ते) आप की (निकामः) विशेष कामना है (तथा) उसी तरह (अस्तु, इति) किया जाय, (तेन) उस द्वारा गृहस्थी (निकामम्, एव) अतिथि को विशिष्ट काम्य वस्तु को ही (अवरुन्द्धे) एकत्रित करता है।

१. अर्थात् अतिथियों को जो वस्तु प्रिय होती है, गृहस्थी घर में सदा उस वस्तु का संग्रह करता है।

२७९. ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥१०

(यः) जो गृहस्थी (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, वह (निकामस्य) अतिथि द्वारा विशिष्ट काम्य वस्तु की (निकामे) कामना अर्थात् प्राप्ति में (भवति) यत्नवान् हो जाता है, और (एनम्) इस गृहस्थी को (निकामः) विशिष्ट काम्य वस्तु (आ गच्छति) प्राप्त[1] हो जाती है।

सूक्त १२

व्रात्य दैवतम्

२८०. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहाना गच्छेत् ॥१॥

२८१. स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति ॥२॥

(तद्) तो (अग्निषु) गार्हपत्य-अग्नि से अग्नि के अङ्गारों को (उद्धृतेषु) उठा लाने पर, और (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र की सामग्री के (अधिश्रिते) वेदी पर रख देने पर, (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्, अतिथि) विद्वान् अतिथि (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आ जाय,—

(स्वयम्) अपने-आप गृहस्थी (एनम्, अभि) इस अतिथि की ओर (उदेत्य) उठ आकर (इति) यह (ब्रूयात्) कहे कि (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ! (अति सृज) आज्ञा दीजिये (होष्यामि) मैं हवन करूंगा।

२८२. स चाति सृजेज्जुहुयान्न चाति सृजेन्न जुहुयात् ॥३॥

(च) और (सः) वह अतिथि (अति सृजेत्) आज्ञा दे (जुहुयात्) तो हवन करे, (च) और (न, अतिसृजेत्) न आज्ञा दे, (न, जुहुयात्) तो न हवन करे।

१. अतिथि सेवक गृहस्थी, प्रयत्नपूर्वक, अतिथि की काम्यवस्तु का संग्रह करता है।

[अग्निहोत्र की सामग्री के जुटा लेते, यदि व्रात्य अतिथि विशेष कार्यवश गृहस्थी के घर आ उपस्थित हो, तो गृहस्थी सर्वप्रथम अतिथि के प्रयोजन को सिद्ध करे, और अतिथि से आज्ञा पाने पर अग्निहोत्र करे, और यदि अतिथि आज्ञा न दे, तो अतिथि के प्रयोजन को सिद्ध कर देने के पश्चात् अग्निहोत्र करे]

२८३. स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥४॥

२८४. प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥५॥

२८५. न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥६॥

२८६. पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्ये-
नातिसृष्टो जुहोति ॥७॥

(यः) जो गृहस्थी (एवम्) इस प्रकार के (विदुषा) विद्वान् (व्रात्येन) व्रतनिष्ट अतिथि द्वारा (अतिसृष्टः) आज्ञा पाया हुआ (जुहोति) अग्निहोत्र करता है, (४):—

(सः) वह गृहस्थी मानो (पितृयाणम्) पितृपरम्परा द्वारा चले आए (पन्थाम्) शिष्टाचार के मार्ग को (प्र जानाति) ठीक प्रकार जानता है, और (देवयानम्) विद्वानों द्वारा चले आए मार्ग को भी (प्र) ठीक प्रकार जानता है, (५):—

[पितृयाणम्=माता-पिता की परम्परा द्वारा चलाई गई अतिथियज्ञ की पद्धति । देवयानम्=विद्वान् लोगों द्वारा चलाई गई अतिथियज्ञ की पद्धति]

वह गृहस्थी (देवेषु) विद्वत्समाज में उन के सत्संग से अपने आप को (न, आ वृश्चते) नहीं वञ्चित करता, और (अस्य) इस गृहस्थी का (हुतम्) हवन (भवति) सम्पन्न हो जाता है, (६):—

[अभिप्राय यह कि अग्निहोत्र के नियत काल को जानने वाला विद्वान् अतिथि, गृहस्थी के नियम में बाधा न डाल कर उसे अग्निहोत्र के करने की आज्ञा दे देता है और गृहस्थी का अग्निहोत्र सम्पन्न हो जाता है ।

(यः) जो गृहस्थी (एवम्) इस प्रकार (विदुषा) जानने वाले अतिथि से (अतिसृष्टः) आज्ञा पाया हुआ (जुहोति) अग्निहोत्र करता है, (अस्य)

इस गृहस्थी का (आयतनम्) स्थान, (अस्मिन्, लोके) इस गृहस्थाश्रम में (परि शिष्यते) आदर पूर्वक बना रहता है, (७) ।

२८७. अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥८॥

२८८. न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥९॥

२८९. आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥

२९०. नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनान-
तिसृष्टो जुहोति ॥११॥

(अथ) और (यः) जो गृहस्थी (एवम्) इस प्रकार के (विदुषा) विद्वान् (व्रात्येन) व्रतनिष्ठ अतिथि से (अनतिसृष्टः) आज्ञा न पाया हुआ (जुहोति) अग्निहोत्र करता है, (८):—

वह (न) न (पितृयाणम्) पितृयाण और (न) न (देवयानम्) देवयान (पन्थाम्) पद्धति को (जानाति) जानता है, (९):—

वह (देवेषु) विद्वत्समाज में उन के सत्संग से (आ वृश्चते) पूर्णतया अपने-आप को वञ्चित कर लेता है, और (अस्य) इस का किया अग्निहोत्र (अहुतम्, भवति) न किया हो जाता है, (१०):—

और (न) न (अस्य) इस गृहस्थी का (अस्मिन् लोके) इस गृहस्थाश्रम में (आयतनम्) स्थान (शिष्यते) शिष्ट लोगों द्वारा आदर-पूर्वक बना रहता है, (यः) जोकि (एवम्) इस प्रकार के (विदुषा) विद्वान् (व्रात्येन) व्रतनिष्ट अतिथि द्वारा (अनतिसृष्टः) आज्ञा न पाया हुआ (जुहोति) अग्निहोत्र करता है [११] ।

सूक्त १२ में अग्निहोत्र और अतिथियज्ञ में युगपद्-कालिकता की उपस्थिति में किसे प्रथम करना चाहिये,—इस का निर्णय किया है, वह यह कि विद्वान् व्रात्य यदि गृहस्थी के घर आए, और यदि वह समय अग्निहोत्र का हो तो गृहस्थी अतिथि से आज्ञा प्राप्त कर अग्निहोत्र करे, और अतिथि यदि आज्ञा न दे तो उस समय अग्निहोत्र को स्थगित कर, पहिले अभ्यागत अतिथि को इच्छापूर्ति करे, और तत्पश्चात् अग्निहोत्र करे । अग्निहोत्र भी एक यज्ञ है, और ऐसे अभ्यागत अतिथि को मांग को पूरा करना भी यज्ञ है, अतिथि यज्ञ है । सूक्त १२ में अग्निहोत्र की अपेक्षा, विद्वान् व्रतनिष्ठ अतिथि की सेवा को, गृहस्थी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य दर्शाया है ।

अग्निहोत्र तो सेवा करने के पश्चात् भी किया जा सकता है। व्रतनिष्ठ विधिज्ञ विद्वान् अतिथि से यह आशङ्का नहीं की जा सकती कि वह नियत समय में किये जाने वाले अग्निहोत्र के कालातिपात में कारण बनेगा, यदि वह बनेगा भी तो वह किसी अत्यन्त आवश्यक अल्पकालिक कार्यवश ही बनेगा। 'अव्रात्य' का भी सत्कार इसलिये करने का विधान है ताकि अतिथि सेवा की भावना का विलोप न हो जाय, यह भावना गृहस्थियों में सदा बनी रहे, ताकि सुयोग्य अतिथि भी कहीं इस सत्कार से कभी वञ्चित न हो जांय]

—:०:—

सूक्त १३

व्रात्य दैवतम्

२९१. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥१॥

(तद्) तो (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान् व्रात्यः) विद्वान् व्रती तथा प्रजाजन हितकारी (अतिथिः) जिस के आने की तिथि निश्चित नहीं ऐसा अतिथि, (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहे) घर में (एकाम्, रात्रिम्) एक रात (वसति) निवास करता है,—

२९२. ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥२॥

(तेन) अतिथि के उस एक रात के निवास के कारण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ये) जो (पुण्याः लोकाः) पुण्य लोक हैं (तान्, एव) उन्हें ही, गृहस्थी (अव रुन्द्धे) अवरुद्ध कर लेता है, अपना लेता है, प्राप्त कर लेता है।

[अतिथि प्रथम रात्रि में गृहस्थी को, शारीरिक तथा पार्थिव भोगों सम्बन्धी सदुपदेश देकर, गृहस्थी के पार्थिव-जीवन को पुण्यमय करता है, जिस से गृहस्थी पृथिवी के पुण्य स्थानों तथा महात्माओं के पुण्याश्रयों के के लिये रुचि वाला हो जाता है, और पुनर्जन्म में भी पुण्यात्माओं के घरों में जन्म धारण करता है]

१. देखो (सू० १३) मन्त्र ११-१४॥

२९३. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥३॥

(तद्) तो (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्, व्रात्यः) विद्वान् व्रती तथा प्रजाजन हितकारी (अतिथिः) जिस के आने की तिथि निश्चित नहीं ऐसा अतिथि, (यस्य) जिस गृहस्थ के (गृहे) घर में (द्वितीयाम्, रात्रिम्) दूसरी रात (वसति) निवास करता है—

२९४. येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥४॥

(तेन) अतिथि के उस दूसरी रात के निवास के कारण, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (ये) जो (पुण्याः लोकाः) पुण्यलोक हैं (तान्, एव) उन्हें ही, गृहस्थी (अवरुन्द्धे) अपनाता है, प्राप्त करता है।

२९५. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥५॥

(तद्) तो (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्, व्रात्यः) विद्वान् व्रती तथा प्रजाजन हितकारी (अतिथिः) अनिश्चित तिथि वाला अतिथि, (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहे) घर में (तृतीयाम्, रात्रिम्) तीसरी रात (वसति) निवास करता है,—

२९६. ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥६॥

(तेन) अतिथि के उस तीसरी रात के निवास के कारण, (दिवि) द्युलोक में (ये) जो (पुण्याः लोकाः) पुण्यलोक हैं (तान्, एव) उन्हें ही, गृहस्थी (अव रुन्द्धे) अपनाता है, प्राप्त करता है।

२९७. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥७॥

(तद्) तो (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्, व्रात्यः) विद्वान् व्रती तथा प्रजाजनहितकारी (अतिथिः) अनिश्चित तिथि वाला अतिथि, (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहे) घर में (चतुर्थीम्, रात्रिम्) चौथी रात (वसति) निवास करता है।

२९८. ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥८॥

(तेन) अतिथि के उस चौथी रात के निवास के कारण, (ये) जो (पुण्यानाम्, पुण्याः) पुण्यों में भी अधिक पुण्य या पुण्यात्माओं के पुण्य

(लोकाः) लोक हैं (तान्, एव) उन्हें ही गृहस्थी (अव रुन्द्धे) अपनाता है, प्राप्त करता है।

२९९. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ।९।

(तद्) तो (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्, व्रात्यः) विद्वान् व्रती तथा प्रजाजनहितकारी (अतिथिः) अनिश्चित तिथि वाला अतिथि, (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहे) घर में (अपरिमिताः) असंख्यात (रात्रीः) रातें (वसति) निवास करता है,—

३००. य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥१०॥

(तेन) अतिथि के उन असंख्यात या अनिश्चित संख्या वाली रात्रियों के कारण, (ये, एव) जो ही (अपरिमिताः) अनिश्चित परिणाम वाले (पुण्याः लोकाः) पुण्यलोक हैं, (तान् एव) उन्हें ही गृहस्थी (अवरुन्द्धे) अपनाता है, प्राप्त करता है।

[एवम् विद्वान्=पूर्व सूक्तों में कथित योगमुद्रासम्पन्न आदि विद्वान्। ऐसा विद्वान् गृहस्थी के घर में जितनी भी रातें वास करेगा, गृहस्थी को सदुपदेशों द्वारा पुण्यकर्मा तथा पुण्यात्मा बना कर, उसे पुण्य, पुण्यतर, और पुण्यतम लोकों के लिए अधिकार सम्पन्न कर देगा। अतः ऐसे व्रती तथा उपकारी अतिथि के सत्संग के लिए गृहस्थी को सदा आकांक्षावान् होना चाहिये। इन मन्त्रों द्वारा पुनर्जन्म भी सूचित किया है, तथा यह भी दर्शाया है कि पृथिवी के अतिरिक्त और भी नाना लोक हैं जिन में पुण्यकर्मा आत्माएं बस रही हैं, और जो कि पुण्यलोक होने के कारण अधिकाधिक सुखों के धाम हैं। वैदिक साहित्य के अनुसार उपरि उपरि ७ भुवन हैं जो कि उत्तरोत्तर पुण्य, पुण्यतर और पुण्यतम हैं, और तदनुसार अधिकाधिक सुखों के धाम हैं। वे हैं भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यम्। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का विचार निम्नलिखित है:—

"पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का "वसु" नाम इस लिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ तथा प्रजा वसती हैं, और ये ही सब को बसाते हैं। जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता, तो क्या इतने असंख्य

लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है? अन्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि की……कुछ कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है"। (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास ८)]

३०१. अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नाम बिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत्॥

(अथ) तथा (अव्रात्यः) जो व्रती और प्रजाजनहितकारी नहीं, (व्रात्यब्रुवः) परन्तु जो अपने को व्रात्य कहता है, (नाम, बिभ्रती[1]) जो केवल व्रात्यनामधारी है,—(अतिथिः) ऐसा अतिथि (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहान्) घरों में (आ गच्छेत्) आ जाय:—

३०२. कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥१२॥

(एनम्) इसे गृहस्थी क्या (कर्षेत्) कष्ट पहुँचाए [अन्नादि न देने से] (न, च, एनम् कर्षेत्) इसे न कष्ट पहुंचाए [अपितु]:—

३०३. अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥१३॥

गृहस्थी, भृत्य से कहे कि (अस्यै देवतायै) इस अतिथि में जो अतिथि-रूप-देवतापन है उस के लिये, (उदकम्) जल या जलपान को (याचामि) मैं चाहना करता हूं, (इमाम्) अतः इस (देवताम्) देवता को (वासय) निवास दो, (इमाम्, इमाम्) इस इस प्रत्येक (देवताम्) देवता को (परि वेवेष्मि) मैं परसवाता हूं (इति) यह कह कर, (एनम्) इसके लिये (परिवेविष्यात्) अन्न परसवाए।

३०४. तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥१४॥

(यः) जो गृहस्थी (एवम्) इस प्रकार जानता तथा तदनुसार व्यवहार करता है (अस्य) इस गृहस्थी का अन्न, (तस्याम्, एव) अतिथि निष्ठ-देवतापन में ही (हुतम्) अतिथि यज्ञ में आहुति रूप (भवति) होता है।

[अतिथि को देवता कहते हैं। यथा "अतिथि देवो भव" (तैत्तिरीय उप० वल्ली० १। अनुवाक ११)। अतिथि देव की सेवा, अतिथि यज्ञ है। अतिथि को दिया अन्न, अतिथि यज्ञ में, अतिथि में जो देवत्व है उस के

१. "बिभ्रती, अतिथि देवता"।

प्रति आहुत होता है। अतः अभ्यागत की सेवा करना गृहस्थी का धर्म है। विद्वान् तथा व्रात्य अतिथि की सेवा तो गृहस्थी स्वयं करे, परन्तु अव्रात्य-अतिथि की सेवा भृत्यों द्वारा कराए, अतिथि यज्ञ की भावना बनी रहे। अतिथि यज्ञ में अतिथि, देवता है]

—:०:—

सूक्त १४

व्रात्य दैवतम्

३०५. स यत् प्राचीं दिशमनुव्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्य्चलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥१॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यत्) जो (प्राचीम्) प्रगति को (दिशम्) दिशा अर्थात् निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, (मारुतम्) मानो मानसून वायु को (शर्धः) बल वाला (भूत्वा) हो कर (अनुव्यचलत्) निरन्तर चलता रहा, (मनः) मन को (अन्नादम्) अन्नभोजी (कृत्वा) कर के।

[सूक्त में प्राणाग्निहोत्री का वर्णन है। प्राणाग्निहोत्र का अभिप्राय है "शरीरवयवों, इन्द्रयों तथा मन आदि को देव जान कर, उन के स्वास्थ्य तथा शक्तिवर्धन की दृष्टि से, उन के निमित्त भोजन में अन्नाहुतियां प्रदान करना"। इस से भोक्ता भोगवादी न बन कर आत्मवादी बन जाता है। अगले मन्त्रों में हुतः, आहुतिम् स्वधाकारम् स्वाहाकारम्, वषट्कारम्" आदि यज्ञसम्बन्धी शब्द सूचित करते हैं कि सूक्तोक्त अन्नभोग यज्ञरूप है, अग्निहोत्र रूप है। इस भावना को लक्ष्य कर के, मन्त्रों में "प्राचीम् दिशम्" -आदि प्रयोगों के अर्थ भी, आध्यात्मिक दृष्टि में किये गए हैं।

प्राचीम्=प्र+अञ्च् (गतौ)=प्रगतिम्। दिशम्=निर्देश, उद्देश्य। सूक्त ६ भी इसी प्रकार आध्यात्मिक उद्देश्य परक है। अनु=लक्ष्य करके, तथा निरन्तर। मारुतम्=मरुतः का अर्थ मानसून वायु भी वेदानुमोदित है। यथा "अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" (अथर्व० ४।२७।४);

अर्थात् जो जल को समुद्र से द्युलोक को और उठा लिये जाते हैं, तथा द्युलोक से पृथिवी की ओर उसे प्रेषित करते हैं, तथा जो "मरुतः" जलों द्वारा शासन करते हैं, वे हमें कष्टों से बचाएं। शर्धः बलनाम (निघं० २।९)। मानसून वायुएं बलपूर्वक[1] चलती हैं। मनः अन्नादम्=शरीर में मुख्य शक्ति मन है। मन के स्वास्थ्य पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है, तथा मन के पवित्र होने पर इन्द्रियों, शरीर, तथा आत्मा की पवित्रता अवलम्बित है। इस लिये मन को लक्ष्य करके सात्विक तथा पौष्टिक अन्न खाना चाहिये। यह समझना चाहिये कि मानो मन अन्न खा रहा है, अपने स्वास्थ्य और पुष्टि को ध्यान में रख कर। इस से भोक्ता तामसिक-राजसिक तथा अपुष्टिकर अन्न का भोजन नहीं करता।

३०६. मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है वह (अन्नादेन), अन्न खाने वाले (मनसा) मन के द्वारा (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) खाता है।

[अर्थात् यह जान कर अन्न खाता है कि ऐसा अन्न मैंने खाना है जिस से मन का बल, स्वास्थ्य और पवित्रता बढ़े]

३०७. स यद् दक्षिणां दिशमनुव्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य्चलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥३॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यद्) जो (दक्षिणाम्) समृद्धिकारक (दिशम्) दिशा अर्थात् निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह मानो (इन्द्रः) विद्युत्रूप (भूत्वा) हो कर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) चलता रहा, (बलम्) शारीरिक बल को (अन्नादम्) अन्नभोजी (कृत्वा) करके।

[दक्षिणाम्="दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः" (निरु० १।३।६), दक्ष वृद्धौ। इन्द्रः=विद्युत्। "वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्ष स्थानः" (निरु० ७।२।५)।

---

१. मन्त्र में मानसिक बल की भावना है। इसलिये बल प्रदर्शनार्थ मरुतः का वर्णन है।

बलम्="या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्" (निरु० ७।३।१०)। प्राणाग्निहोत्री शारीरिक बल की दृष्टि से अन्न सेवन करता है। शरीरबलक्षयकारी अन्न का ग्रहण नहीं करता। इन्द्रः भूत्वा=विद्युत् के सदृश हो कर। इन्द्र का अर्थ जीवात्मा भी सम्भव है]

३०८. बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥४॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार तथ्य को (वेद) जान लेता है वह (बलेन, अन्नादेन) बल को अन्नभोगी मान कर (अन्नम्) बलदायक अन्न का (अत्ति) भोजन करता है।

[अर्थात् मानो शारीरिक बल द्वारा निज वृद्धि के लिये, बलदायक भोजन करता है]

३०९. स यत् प्रतीचीं दिशमनुव्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥५॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यद्) जो (प्रतीचीम्) विषय प्रतीप भावना की (दिशम्) दिशा अर्थात् निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह (वरुणः) अध्यात्म मार्ग का वरण करने वाला, (राजा) तथा इन्द्रियों का राजा, वशयिता (भूत्वा) होकर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) विशेषतया चला, (अपः) शारीरिक रसों को (अन्नादीः) अन्न भोगी (कृत्वा) कर के, अर्थात् शारीरिक रसों के स्वास्थ्य तथा वृद्धि की दृष्टि से।

[अपः=शारीरिक रस-रक्त के लिये भी "आपः" शब्द का प्रयोग होता है। यथा "**को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥**" (अथर्व० १०।२।११)। इस मन्त्र में "आपः" को तीव्राः अरुणा (किंचित् लाल) लोहिनीः (लाल), ताम्रधूम्राः (ताम्बे के धूएं जैसा नीला अर्थात् शिराओं (veins) का नीला रक्त), तथा सिन्धु पद द्वारा हृदय का निर्देश किया है। वरुणः "**वृणोतीति सतः**" (निरु० १०।१।३)। मन्त्र ५ में "अपः" =द्वितीया विभक्ति, बहुवचन]

३१०- अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥६॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है वह (अन्नादीभिः) अन्नभोगी शारीरिक रस-रक्तों की दृष्टि से (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) खाता है।

[प्राणाग्निहोत्री, शारीरिक रस-रक्त के स्वास्थ्य तथा परिपुष्टि की दृष्टि से, निज मुखाग्नि में, अन्नाहुतियां देता है]

३११. स यदुदीचीं दिशमनुव्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥७॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यद्) जो (उदीचीम्) और उन्नति की ओर ले जाने वाली (दिशम्) दिशा अर्थात् निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह (सोमः) चन्द्रसमान शान्तरूप या सोमशक्ति वाला और (राजा) इन्द्रियों का राजा अर्थात् वशयिता या शासक (भूत्वा) हो कर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) विशेषतया चला। वह (सप्तर्षिभिः) सात ऋषियों द्वारा (हुतः) अन्नाहुति को प्राप्त हुआ (आहुतिम्) सप्तर्षियों द्वारा प्राप्त आहुति को (अन्नादीम्) अन्न भोगी (कृत्वा) करके चला।

[उदीचीम्=उद् (उन्नति)+अञ्च् (गतौ)। सोमः=चन्द्रसमान शान्तरूप, वा वीर्यरक्षा की दृष्टि वाला। वीर्यपक्ष में सोम+अच् (अर्श आद्यच्, अष्टा० ५।२।१२७)। सोमः चन्द्रमाः (उणा० १।१४०) महर्षि दयानन्द। सोमः=वीर्यम् (अथर्व० १४।१।२-५)। सप्तर्षिभिः=५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और विद्या। यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे**" (यजु० ३४।५५)। **सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यातामि** (निरु० १२।४।३८)। ये सात शक्तियां सत्त्वमय हो कर जब ऋषिरूप हो जाती हैं, तब इन द्वारा ज्ञान पूर्वक दी गई अन्नाहुति, वस्तुतः आहुतिरूप हो कर, जीवन को यज्ञमय बना देती है। तब व्यक्ति द्वारा अन्नग्रहण आहुतिरूप हो जाता है]

३१२. आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥८॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, वह (अन्नाद्या) अन्न भोगिनी (आहुत्या) आहुति द्वारा (अन्नम्) अन्न को खाता है।

[अर्थात् वह उस अन्न को खाता है जो कि आहुतिरूप है, और समझता है कि वह अपने शरीर में अग्निहोत्र करता है]

३१३. स यद् ध्रुवां दिशमनुव्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥९॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (ध्रुवाम्) स्थिरता की (दिशम्) दिशा अर्थात् निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलद्) विशेषतया चला, वह (विष्णुः) किरणों से व्याप्त सूर्यरूप (भूत्वा) हो कर (अनु) तदनुसार (व्यचलद्) विशेषतया चला, (विराजम्) विराट् को (अन्नादीम्) अन्न का भोजन करने वाली (कृत्वा) कर के।

[ध्रुवाम्=ध्रुव स्थैर्ये, स्थिरता। विष्णुः[1]=विष्लृ व्याप्तौ। विराजम्=विशेषेण राजते दीप्यते। अभिप्राय यह कि प्राणाग्निहोत्री निज खान-पान को अग्निहोत्र जान कर, निज जीवन को यज्ञमय बनाने में जब स्थिरता प्राप्त कर लेता है, दृढ़ निश्चय वाला हो जाता है, तब नियम से मित-तथा-पथ्य अन्न के सेवन द्वारा वह विष्णु अर्थात् सूर्य के सदृश तेजस्वी हो कर, शरीर और मुख से विराट् अर्थात् विशिष्ट दीप्ति से सम्पन्न हो जाता है, और सदा "विराट्" की स्थिरता बनाए रखने वाले अन्न का ही सेवन करता है।]

३१४. विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥१०॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, और तदनुसार आचरण करता है, वह (अन्नाद्या) अन्न का भोजन करने वाली (विराजा) विशिष्ट दीप्ति की दृष्टि से (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) खाता है। अर्थात् वह इस दीप्ति को बनाए रखने की दृष्टि से अन्न खाता है।

३१५. स यत् पशूननुव्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥११॥

(सः) वह प्राणाग्नि होत्री व्रात्य (यद्) जो (पशून्) पशुओं को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलद्) विशेषतया चला, वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र होकर (अनु) तदनुसार (व्यचलद्) चला, (ओषधीः) ओषधियों को (अन्नादीः) अन्न खाने वाली (कृत्वा) करके।

[रुद्रः=रु (शब्दे)+द्रु। **रोगजन्यं दुःखमयं रवं शब्दं द्रावयति,**

1. विष्णुः=विष्लृ व्याप्तौ=रश्मिभिः व्याप्त, सूर्यः।

अपगमयतीतिरुद्रः वैद्यः। इसी लिये रुद्र अर्थात् शिव को वैद्यनाथ भी कहते हैं। प्राणाग्निहोत्री व्रात्यः वैद्यरूप होकर ऐसे अन्न का सेवन करे जोकि उस के शरीरस्थ ओषधियों को स्वस्थ तथा परिपुष्ट करे। यह यह अन्न सादा होना चाहिये; जैसे कि पशु सादा घास खाते और स्वस्थ तथा पुष्ट रहते हैं।

ओषधोः अन्नादीः=इस द्वारा शरीरस्थ ओषधियों को अन्नादीः, अर्थात् अन्न का भक्षण करने वाली कहा है, ताकि शरीरस्थ ओषधियां शक्ति सम्पन्न हो सकें। अथर्ववेद में ४ प्रकार की ओषधियां कही हैं,— आथर्वणीः, आङ्गिरसीः, दैवीः, मनुष्यजाः। यथा **"आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि** ॥११।४।१६॥ इन ४ प्रकार की ओषधियों में आथर्वणीः और आङ्गिरसीः ओषधियां शरीरस्थ ओषधियां हैं, जिनके परिपोषणार्थ तदनुकूल अन्न का भोजन करना चाहिये। आथर्वणीः ओषधियां हैं मनोबल, या दृढ़ शिवसंकल्प, जोकि मन की स्थिरता और बल पर आधारित होते हैं। आथर्वणीः=अ+थर्वतिः चरति कर्मा। अर्थात् मन की चञ्चलता के न होते, उस की स्थिरता पर आश्रित ओषधियाँ। मनोबल या दृढ़ शिवसंकल्प द्वारा रोग चिकित्सा या रोगोपचार किया जाता है। इसे WILL-POWER कहते हैं। Hhpnotism तथा Suggestion, और mesmerism आथर्वणीः ओषधियां हैं। आङ्गिरसीः ओषधियां हैं पाचकाग्नि, और श्वास-प्रश्वास अर्थात् प्राणशक्ति तथा प्राणायाम। इन द्वारा भी रोगचिकित्सा या रोगोपचार होता है। पाचकाग्नि द्वारा कोष्ठबद्धता आदि की चिकित्सा होती है। प्राणशक्ति या प्राणायाम, रक्तशोधक होने से, शारीरिक रोगों का शामक तथा निवारक है। **"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि"** (यजु० ३।३) द्वारा अधिदैविक दृष्टि में अङ्गिरा का अर्थ है अग्निहोत्राग्नि, और आध्यात्मिक दृष्टि में अङ्गिरा का अर्थ है प्राणाग्निहोत्र की अग्नि अर्थात् पाचकाग्नि। इसी प्रकार अङ्गिरा का अर्थ "प्राण" भी है। अङ्गिरा **"अङ्गानां हिरसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः, तस्माद्यस्मात् कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव शुष्यति, एष हि वा अङ्गानां रसः"** (बृहदा० उप० ब्रा० ३ खं० १९)। शुद्ध वायु के सेवन तथा श्वास-प्रश्वास के संयम अर्थात् प्राणायाम द्वारा, रक्त शोधन होकर रोग चिकित्सा होती है। इसी लिये श्वास-प्रश्वास को अश्विनौ भी कहते

हैं, जोकि शरीर में भिषक् अर्थात् वैद्य का काम करते रहते हैं, **अश्विनौ देवानां[1] भिषजौ"** (श० ब्रा० ११।३३।७)।

अश्विनौ का नाम नासत्यौ भी है, जिन की कि नासिका में सतत गति रहती है। नासात्यौ=नासा (नासिका)+अत्यौ (अत सातत्यगमने)। नासत्यौ के सम्बन्ध में कहा है कि ये "भुरण्यथः"[2] शरीर का भरण-पोषण करते हैं, तथा "भिषज्यथः" शरीर के रोगों की चिकित्सा भी करते हैं (अथर्व० २०।१४०।१)। नासत्यौ=नासिका प्रभवौ बभूवतुरिति वा" (निरु० ६।३।१३)। नासिका प्रभवौ श्वास-प्रश्वास ही हैं, जोकि आङ्गिरसी ओषधिरूप हैं]

३१६. ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥१२॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है और तदनुसार आचरण करता है, वह (अन्नादीभिः) अन्नभोगी (ओषधीभिः) शरीरस्थ ओषधिरूप तत्त्वों की दृष्टि से (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है।

३१७. स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥१३॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यत्) जो (पितॄन्) पिता, पितामह आदि वृद्ध पुरुषों को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलद्) विशेषतया चला, वह (यमः) यम नियमों का पालन करने वाला तथा संयमी, (राजा) और इन्द्रियों का राजा, वशयिता (भूत्वा) हो कर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) चला, (स्वधाकारम्) निज के धारण-पोषण रूप कर्म को (अन्नादम्) अन्न भोगी (कृत्वा) कर के।

---

१. देवानाम्=इन्द्रियाणाम्। इन्द्रियों के श्वास-प्रश्वास के निग्रह अर्थात् प्राणायाम द्वारा शरीर के दोष दग्ध हो जाते हैं। "तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्" (मनु०)।

२. भुरण्यथः का अर्थ "शीघ्र गति करने वाले" भी होता है। श्वास प्रश्वास शीघ्रता से नासिका में गति करते रहते हैं। भुरण्यति गतिकर्मा (निघं० २।१४), भुरण्युः क्षिप्रनाम (निघं० २।१५)।

[अर्थात् वृद्ध पिता आदि यमनियमों का पालन करते हुए संयमपूर्वक तथा निज शरीर के केवल धारण-पोषण के निमित्त भोजन करते हैं, विषय भोग के लिए नहीं, इसी प्रकार प्राणाग्निहोत्री भी करे। स्वधाकारम् स्व+धा (धारण, पोषण)+कार (कर्म)]

३१८. स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ।१४॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है वह, (अन्नादेन) अन्न भोगी (स्वधाकारेण) निज धारण-पोषण करने की दृष्टि से (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है।

३१९. स यन्मनुष्याँ३ मनुव्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥१५॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यत्) जो (मनुष्यान्) मनुष्यों को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह (अग्निः भूत्वा) अग्निरूप होकर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) चला, (स्वाहाकारम्) स्वाहाकार को (अन्नादम्, कृत्वा) अन्न खिलाने वाला करके।

[मन्त्र में अग्निहोत्र करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य दर्शाया है। स्वाहाशब्द का उच्चारण करके अग्नि में आहुतियां दी जाती हैं। प्राणाग्निहोत्री निज स्वरूप को अग्नि जानकर उस में, स्वाहा शब्द का उच्चारण करता हुआ, अन्नाहुतियां देता है। इस प्रकार अन्न सेवन को यज्ञकर्म दर्शाकर, इस कर्म की पवित्रता को सूचित किया है]

३२०. स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१६॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है, वह (अन्नादेन) अन्न खिलाने वाले (स्वाहाकारेण) स्वाहोच्चारण द्वारा (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है।

३२१. स यदूर्ध्वां दिशमनुव्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥१७॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य, (यत्) जो (उर्ध्वाम्) सांसारिक भोगों

से उठी हुई, ऊंची (दिशम्) दिशा अर्थात्, निर्देश या उद्देश्य को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलद्) विशेषतया चला, वह (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पति अर्थात् स्वामी (भूत्वा) हो कर, (अनु) वेदवाणी के सदुपदेशों के अनुसार (व्यचलद्) चला, (वषट्कारम्) पापविनाश कर्म को (अन्नादम्) अन्न भोगी (कृत्वा) कर के।

[ऊर्ध्वाम् दिशम्=ऊंचा उद्देश्य। ऊर्ध्व शब्द का प्रयोग केवल दैशिक-ऊंचाई के लिये ही नहीं होता है। अपितु आध्यात्मिक ऊंचाई के लिये भी प्रयुक्त होता है। "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः" (यजु ३१।४) में 'ऊर्ध्वः' शब्द की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं। सब से उत्तम मुक्तिस्वरूप, संसार से पृथक्"। इसी अर्थ के अनुसार मन्त्र में "ऊर्ध्वांदिशम्" की व्याख्या की गई है।

बृहस्पतिः=बृहस्पति का अर्थ "बृहती वेदवाणी का पति अर्थात् पूर्ण विद्वान्"—यह अर्थ यहां संगत प्रतीत होता है। ऋग्वेद १०।७१।१-११ मन्त्रों का देवता है—ज्ञानम्। इस सूक्त में वेदवाणी और वेदज्ञान का वर्णन है। प्रथम मन्त्र में "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्" द्वारा बृहस्पति का सम्बन्ध, वाणियों में श्रेष्ठ तथा प्रथम वेदनामधेय, अर्थात् वेदवाणी के प्रवक्तारूप में दर्शाया है।

वषट्=इस शब्द का प्रयोग याज्ञिक अर्थ में नहीं किया गया। अपितु वष् हिंसार्थः+अति (शतृवत्, बाहुलकात्, उणा० २।८५), अर्थात् हिंसार्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक प्राणाग्निहोत्री पापकर्मों और उन के संस्कारों के विनाश के लिये, वैदिक सदुपदेशों को निज जीवन में चरितार्थ करता है, और इस दृष्टि से अन्न सेवन करता है। वषट् (हिंसा) +कारम् (करना, कर्म)।

---

१. वषट्कार="वषट्" शब्द याज्ञिक भावना से अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण है—"स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारः" (अथर्व० १३।४ पर्याय ३। मन्त्र ४) में रुद्र (परमेश्वर) के सम्बन्ध में कहा है कि "वह रुद्र वसु (धन) के प्रदान में वसुदाता (वनिः=वन संभक्तौ) है, और नमस्कारोक्तियों पर वह वषट्कार है, वषट् करता है। इस सम्बन्ध में वषट् का अर्थ याज्ञिक प्रतीत नहीं होता, अपितु "पापकर्म विनाशक" अर्थ ही सम्भावित है।

३२२. वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१८॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है वह (अन्नादेन) अन्नभोगी (वषट्कारेण) पाप विनाशक कर्म की दृष्टि से (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है।

[वषट् कारेण=पापकर्मों और उन के संस्कारों को विनष्ट करने की दृष्टि से]

३२३. स यद् देवाननुव्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥१९॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यद्) जो (देवान्) देवों को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलद्) विशेषतया चला, वह (ईशानः) शासक (भूत्वा) हो कर (अनु) तदनुसार (व्यचलद्) चला, (मन्युम्) ज्ञानपूर्वक क्रोध को (अन्नादम्, कृत्वा) अन्नभोगी कर के।

[ईशानः=इस का अर्थ है, शासक। अच्छे शासक के दो कर्त्तव्य होते हैं, प्रजा को दिव्य कर्मों के करने में प्रेरित करना, तथा आसुर और राक्षसकर्मों के करने से निवारित करना। देवान्=प्राणाग्निहोत्री देवपथ का अनुगमन करता है, और अपने आप को प्रेरित करता है दिव्यकर्मों के करने और अदिव्य कर्मों से छुटकारा पाने के लिए। एतदर्थ वह मन्यु का आश्रय लेता है, अदिव्यकर्मों को मन्युपूर्वक निवारित करने के लिए। मन्यु का अर्थ ज्ञानपूर्वक क्रोध (मन ज्ञाने) है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर जहां क्रोध की आवश्यकता हो वहीं क्रोध करना चाहिये, ताकि जीवन समुन्नत हो सके। अज्ञानपूर्वक किया क्रोध त्याज्य है। इस मन्यु को परिपुष्ट करने की दृष्टि से प्राणाग्निहोत्री तदनुकूल अन्न-ग्रहण करता है]

३२४. मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२०॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है, वह (अन्नादेन) अन्नभोगी (मन्युना)

ज्ञानपूर्वक-क्रोश की परिपुष्टि की दृष्टि से (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है ।

३२५. स यत् प्रजा अनुव्यचलत् प्रजापतिं भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥२१॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यत्) जो (प्रजाः) उत्पादक वीर्य की शक्तियों को (अनु) लक्ष्य करके (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह (प्रजापतिः)वीर्य का रक्षक (भूत्वा) होकर (व्यचलत्) विशेषतया चला, (प्राणम्) प्राणशक्ति को (अन्नादम्) अन्नभोजी (कृत्वा) कर के ।

मन्त्र में 'प्रजा' पद वीर्यार्थक है । प्रजा=semen (आप्टे) । योग-शक्ति के संवर्धन में ऊर्ध्वरेतस् होना आवश्यक है । "श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १।२०) में वीर्य को योग संवर्धन में सहायक माना है । वीर्य द्वारा प्राणशक्ति बढ़ती है, जो कि प्राणायाम तथा जीवन में सहायक होती है । प्राणाग्निहोत्री प्राणशक्ति से संवर्धन की दृष्टि से तदुपयोगी अन्न खाता है]

३२६. प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२२॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण करता है, वह (अन्नादेन) अन्नभोजी (प्राणेन) प्राण की दृष्टि से (अन्नम्, अत्ति) अन्न खाता है । अर्थात् प्राण की परिपुष्टि की दृष्टि से अन्न खाता है, भोगदृष्टि से नहीं ।

३२७. स यत् सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलद् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥२३॥

(सः) वह प्राणाग्निहोत्री व्रात्य (यत्) जो (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब अर्थात् पूर्व के मन्त्रों में उक्त तथा उन के अन्य भी निर्देशों या उद्देश्यों को (अनु) लक्ष्य कर के (व्यचलत्) विशेषतया चला, वह (परमेष्ठी) परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म में स्थित (भूत्वा) हो कर, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर (अनु) तदनुसार (व्यचलत्) चला, (ब्रह्म) ब्रह्म को (अन्नादम्) अन्नभोगी (कृत्वा) कर के ।

व्याख्या—पूर्वोक्त मन्त्रों में योगमुद्रासम्पन्न जीवन्मुक्त व्रात्यसंन्यासी

का वर्णन हुआ है (काण्ड १५ । सू० ६, ७) । और वर्तमान सूक्त १४ में व्रात्य वर्णन प्राणाग्निहोत्रीरूप में हुआ है । सूक्त १४, मन्त्र २३ में उसे परमेष्ठो पद द्वारा ब्रह्मनिष्ठ कहा है, उसे ब्रह्म का साक्षात् द्रष्टा कहा है, इस अवस्था में ब्रह्म अन्नाद हुआ है । व्रात्य ने ब्राह्मीस्थिति की परिपुष्टि के लिए ब्रह्म के प्रति अन्न का उपहार देना है । वह ब्रह्मोचित अन्नोपहार है "ईश्वरप्रणिधान", ईश्वर के प्रति सर्वस्वसमर्पण; निज शक्तियों, इच्छाओं और निज आत्मा का समर्पण ।

३२८. ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२४॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता और तदनुसार आचरण या जीवनचर्या करता है वह (अन्नादेन) अन्न भोगी (ब्रह्मणा) ब्रह्म की दृष्टि से (अन्नम् अत्ति) अन्न खाता है ।

अभिप्राय यह कि वह व्यक्ति ऐसा अन्न खाता है, जिस के कि खाने से ब्रह्मदेय अन्न अर्थात् "सर्वस्वसमर्पणरूपी-अन्न" की स्थिति अक्षुण्णरूप में बनी रहे, ऐसे सात्त्विक, लघु तथा सुपाच्य अन्न का वह सेवन करता है । अथवा इस ब्राह्मी स्थिति को बनाए रखने के लिये वह आध्यात्मिक अन्न अर्थात् प्रणवजाप, अध्यात्मस्वाध्याय, तथा ब्रह्मध्यानरूपी अन्न का सतत सेवन करता रहता है ।

सूक्तसारः—सूक्त १४वें का अभिप्राय यह है कि प्राणाग्निहोत्री अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा अपने शारीरिक अङ्गों के स्वास्थ्य तथा उन की पुष्टि के लिए; तदनुकूल ही अन्नों का ग्रहण करे । इस निमित्त लोभ तथा भोगभावना का सर्वथा परित्याग करे । जैसे कि जिस-जिस शारीरिक अङ्ग के रोग के निवारणार्थ उस-उस अङ्ग के रोग के अनुकूल औषध का चुनाव किया जाता है, वैसे ही प्राणाग्निहोत्री भी, निज आध्यामिक उन्नति के लिए, अपने मन आदि अङ्गों के लिए निज उद्देश्य की पूर्ति में सहायक अन्नों का चुनाव करता है । और अन्त में निज जीवन के अङ्ग-भूत ब्रह्म के प्रति निज ब्राह्मीस्थिति बनाए रखने के लिये, ब्रह्मोचित अन्न समर्पित करता है । मन्त्र में साथ ही यह भी दर्शाया है कि अन्न के ग्रहण, और शारीरिक अङ्गों के स्वास्थ्य, तथा मानसिक शक्तियों का अन्तिम उद्देश्य है ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करना, अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति । अतः अन्नग्रहण इसी अन्तिम उद्देश्य के निमित्त होना चाहिये ।

—:o:—

सूक्त १५

व्रात्यं दैवतम्

३२९. तस्य॒ व्रात्य॑स्य ॥१॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर को [सृष्टि में]—

३३०. स॒प्त प्रा॒णाः स॒प्ताप॒ानाः स॒प्त व्या॒नाः ॥२॥

(सप्त) ७ (प्राणाः) प्राण, (सप्त) ७ (अपानाः) अपान और (सप्त) ७ (व्यानाः) व्यान हैं।

३३१. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प्र॒थमः प्रा॒ण ऊ॒र्ध्वो नामा॒यं सो अ॒ग्निः ॥३॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (प्रथमः प्राणः) प्रथम प्राण है (ऊर्ध्वः=नाम) वह "ऊर्ध्व" नाम वाला है,(अयम्) यह (सः) वह (सः) वह (अग्निः) अग्नि है।

[ऊर्ध्वः=अग्नि की ज्वाला ऊपर की ओर उठती है, अतः अग्नि "ऊर्ध्व" है]

३३२. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य द्वि॒तीयः॑ प्रा॒णः प्रौ॒ढो नामा॒सौ स आ॑दि॒त्यः ॥४॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (द्वितीयः प्राणः) दूसरा प्राण है (प्रौढ़ः नाम) वह "प्रौढ़" नाम वाला है, (असौ) वह है (सः आदित्यः) वह सूर्य।

[प्रौढ़ः=सूर्य से सब ग्रह-उपग्रह उत्पन्न हुए हैं जो कि शीत पड़ गए हैं, परन्तु सूर्य अभी तक गर्मी और प्रकाश की दृष्टि से प्रौढ़ावस्था में है, युवावस्था में है]

३३३. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य तृ॒तीयः॑ प्रा॒णो॑ऽभ्यू॒ढो नामा॒सौ स च॒न्द्रमाः॑ ॥५॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः प्राणः) तीसरा प्राण है, वह (अभ्यूढः नाम) "अभ्यूढ" नाम वाला है,(असौ) वह है (सः, चन्द्रमाः) वह चन्द्रमा।

[अभ्यूढः=अभि (सम्मुख स्थित हुआ)+ऊढः (वह प्रापणे, परिवाहित)। चन्द्रमा सूर्य के सम्मुख स्थित रहता है, और पृथिवी के वेग के साथ साथ आकाश में, पृथिवी के आकर्षण द्वारा आकृष्ट हुआ, परिवाहित होता रहता है]

३३४. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थः प्रा॒णो वि॒भूर्नामा॒यं स पव॑मानः ॥६॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में] (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (चतुर्थः प्राणः) चौथा प्राण है, वह (विभूः नाम) "विभू" नाम वाला है, (अयम्) यह है (सः) वह (पवमानः) वायु।

[पवमानः=गतिमान् तथा पवित्र करने वाला वायु। यह आकाश में व्यापक होने से "विभू" है]

३३५. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मः प्रा॒णो योनि॒र्नाम॒ ता इ॒मा आपः॑ ॥७॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में] (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (पञ्चमः प्राणः) पांचवां प्राण है, वह (योनिः) नाम "योनि" नाम वाला है, (ताः इमाः) वे हैं ये (आपः) जल।

[योनिः=यु मिश्रणामिश्रणयोः,जो कि मिश्रण करता तथा अमिश्रण अर्थात् पृथक् करता है। "यौ ति संयोजयति पृथक् करोति वा स योनिः" (उणा० ४।५२; महर्षि दयानन्द)।

जल में दोनों गुण हैं वस्तुओं को मिला देना, तथा पृथक् पृथक्

गारना, अतः आपः योनिनामक है । तथा योनि=स्त्रीयोनि । इस में वीर्य-रस और रजोरस का मिश्रण तथा अभिक्षरण हो कर, शिशु जन्म लेता है । अतः आपः के लिए योनि शब्द औपचारिक है, गौण है । योनि और आपः के साथ मिलती-जुलती भावना छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रकट की की गई है । यथा "**योषा वा गौतमाग्निः तस्या उपस्थ एव समित्...... योनिरर्चिः**" । "**इतितु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**" (अध्या० ५ । खं० ८-९) । पञ्चमः योनिः=आपः (मन्त्र ७) इस प्रकार पञ्चमी आहुति में योनि और आपः का सम्बन्ध छान्दोग्य में भी दर्शाया है ।

३३६. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥८॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (षष्ठः प्राणः) छठा प्राण है, वह (प्रियः नाम) "प्रिय" नाम वाला है, (ते), वे (इमे) ये (पशवः) पशु हैं ।

[वेद में ५ पशुओं की अधिक महिमा है । वे हैं गावः, अश्वाः, पुरुषाः अजाः, अवयः । यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषाः अजावयः**" (अथर्व० ११।२।९) । इन में से गौएं, अजा और अवि (भेड़) तो दूध के लिए प्रिय हैं, अश्व सवारी के लिए प्रिय हैं, और पुरुष अर्थात् सन्तानें तथा बन्धु बान्धव तो परस्परानुराग के कारण प्रिय हैं, अतः ये सब प्राणवत् प्रिय होने के कारण प्राणरूप हैं । यथा "**अन्नं वै प्राणिनां प्राणः**", अर्थात् अन्न प्राणियों का प्राण है]

३३७. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥९॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः)जो (अस्य) इस परमेश्वर का(सप्तमः प्राणः[1])

---

[1]. अग्नि आदित्य, चन्द्रमा, पवमान, आपः, पशवः और प्रजा,—ये जीवनीय तत्त्वों का प्रदान करते हैं, अतः प्राण हैं ।

सातवां प्राण है, वह (अपरिमित) "अपरिमित" (नाम) नाम वाला है, (ताः) वे हैं (इमाः) ये (प्रजाः) प्रजाएं ।

[मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मत्स्य आदि परमेश्वर की प्रजाएं हैं, जिन की संख्या असंख्यात है, मापी नहीं जा सकती । इन्हें भी अपने प्राणवत् जानकर इन की सुरक्षा करनी चाहिये । बलियज्ञ में भी सर्वभूत-मैत्री की भावना ओत प्रोत है । यथा—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ मनु० ॥

अर्थात् गृहस्थी,—कुत्तों, पतितों, कुत्ते का मांस खाने वालों, पाप रोगियों, कृमियों, कौओं आदि के लिए भी अन्न प्रदान करें, उन की सुरक्षा करे]

सूक्त १६

व्रात्य दैवतम्

३३८. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥१॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (प्रथम) प्रथम (अपानः) अपान है (सा) वह (पौर्णमासी) पौर्णमासी है ।

[मन्त्र ४ और ७ तक में श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणाओं का वर्णन है । इस से प्रतीत होता है कि पौर्णमासी, तथा मन्त्र २ और ३ में कथित अष्टका तथा अमावास्या शब्द "इष्टियों" के निर्देशक हैं, जोकि पौर्णमासी आदि कालों में की जाती हैं । तभी श्रद्धा आदि का वर्णन समुचित होता है । (काण्ड १५ । अनु० १ । सूक्त २ । मन्त्र १४) इस सम्बन्ध में देखो]

३३९. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥२॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी पर-

मेश्वर की [सृष्टि में] (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (द्वितीयः) दूसरा (अपानः) अपान है (सा) वह (अष्टका) अष्टमी है ।

[पौर्णमासी के पश्चात् कृष्णपक्ष की अष्टमी को अष्टका कहा है, तभी इस को द्वितीय अपान कहा जा सकता है । प्रथम अपान है, पौर्णमासी, इसलिये तत्पश्चात् अष्टमी है,—द्वितीय अपान । अष्टका से अभिप्राय है "अष्टमी तिथि को की जानेवाली इष्टि" । अथर्ववेद ३।१०।५,८,१२ में एकाष्टका[1] का वर्णन है, जो कि नवसंवत्सर की द्योतिका है । यह "एकाष्टका" मन्त्र २ में वर्णित प्रतीत नहीं होती]

३४०. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॑ऽपा॒नः सामा॑वा॒स्या ॥३॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) तीसरा (अपानः) अपान है, (सा) वह है (अमावास्या) अमावास्या, अर्थात् अमावास्येष्टि ।

३४१. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । योऽस्य चतु॒र्थो॑ऽपा॒नः सा श्र॒द्धा ॥४॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (चतुर्थ) चौथा (अपानः) अपान है, (सा) वह है (श्रद्धा) श्रद्धा ।

[इष्टियों और यज्ञों के लिए श्रद्धा चाहिये । श्रद्धा प्रेरक भावना है । श्रद्धा द्वारा कर्म में रुचि होती है ।

३४२. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य पञ्च॒मो॑ऽपा॒नः सा दी॒क्षा ॥५॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (पञ्चमः) पांचवा (अपानः) अपान है, (सा) वह है (दीक्षा) दीक्षा ।

[दीक्षा=यज्ञ करने के निमित्त व्रतग्रहण करने का संस्कार विशेष । दीक्ष् "मौण्डयेज्योपनयन-नियम-व्रतादेशेषु"]

१. यथा "आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव" । मन्त्र में संवत्सर को एकाष्टका का पति कहा है ।

३४३. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो॑ऽपा॒नः स य॒ज्ञः ॥६॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (षष्ठः) छठा (अपानः) अपान है, (सः) वह है (यज्ञः) यज्ञकर्म ।

३४४. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो॑ऽपा॒नस्ता इ॒मा दक्षि॑णाः ॥७॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्रजावर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (सप्तम) सातवां (अपानः) अपान है, (ताः) वे (इमाः) ये हैं (दक्षिणाः) दक्षिणाएं ।

[सूक्त से स्पष्ट है कि इस में इष्टियों और यज्ञों का वर्णन है । और श्रद्धा, दीक्षा, तथा दक्षिणाएं,—इन का वर्णन है इष्टियों और यज्ञों के साधन रूप में । अपान वस्तुतः इष्टियां और यज्ञ हैं । श्रद्धा आदि ३ उपकारी या साधन होने से अपान हैं[1]]

—:०:—

सूक्त १७

व्रात्य दैवतम्

३४५. तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प्र॒थ॒मो व्या॒नः सेयं भूमिः॑ ॥१॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति और प्रजावर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (प्रथमः) पहिला (व्यानः) व्यान है, (सा) वह (इयम्, भूमिः) यह भूमि है ।

१. अपान वायु गुदाद्वार से निःसरण कर मल को निकाल कर, सुख देती है । इसी प्रकार इष्टियां और यज्ञ रोगनिवारण द्वारा सुखकारी होते हैं । अपानः=अप+अन (प्राणने); यथा अपानति (अथर्व० ११।४।१४)=अप+अनिति ।

३४६. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति और प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (द्वितीयः) दूसरा (व्यानः) व्यान है, (तद्) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है।

३४७. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥३॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) तीसरा (व्यानः) व्यान है, (सा) वह (द्यौः) द्युलोक है।

३४८. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (चतुर्थः) चौथा (व्यानः) व्यान है, (तानि) वे (नक्षत्राणि) नक्षत्र हैं।

३४९. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥५॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (पञ्चमः) पांचवा (व्यानः) व्यान है। (ते) वे (ऋतवः) ऋतुएं हैं।

३५०. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ॥६॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (षष्ठः) छठा (व्यानः) व्यान है, (ते) वे (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयव या समूह हैं।

[आर्तवा=ऋतुओं के अवयव=मास । समूह=उत्तरायण, दक्षिणायन]

३५१. तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥७॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी

परमेश्वर की [सृष्टि में], (यः) जो (अस्य) इस परमेश्वर का (सप्तमः) सातवां (व्यानः) व्यान है, (सः) वह (संवत्सरः) वर्ष है।

[प्राण, अपान, व्यान=ये दो प्रकार के हैं, व्यष्टि[1] तथा समष्टि। व्यष्टिरूप में तो अस्मदादि प्राणियों में वर्तमान हैं, और समष्टिरूप में ब्रह्माण्ड में। व्यष्टिरूप प्राण, नासिका से फेफड़ों तक गति करता है, और फेफड़ों में रक्त में मिलकर शरीरावयवों को पुष्टि देता है। अपान का कार्य है शरीर के मल को शरीर से बाहिर फेंकना। फेफड़ों की मलिन वायु CO२ (कार्बन डायोक्साइड) को नासिका द्वारा प्रश्वासरूप में बाहिर फेंकना, तथा मल-मूत्र और पसीने आदि को शरीर से पृथक् करना,—अपान का कार्य है। अपान[2] शब्द में "अप" का अर्थ है पृथक् करना। व्यष्टिरूप में व्यान का स्थान है,—सुषुम्णा, इडा, तथा पिङ्गला नाड़ियां। सुषुम्णा अतिसूक्ष्म नली के सदृश हैं, जो कि गुदा के निकट से मेरुदण्ड (Spinal Column) के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गई है। इसी गुदा के स्थान से इस के वामभाग से इडा और दक्षिणभाग से पिङ्गला नासिकामूल पर्यन्त चली गई हैं। सुषुम्णा नाड़ी, शाखा-प्रशाखारूप में समग्र शरीर में फैल कर, शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सक्रिय बना रही है। यह नाड़ी-संस्थान, व्यान का स्थान है। इसी लिये कहा है कि "व्यानः सर्वशरीरगः"। समष्टि-ब्रह्माण्ड के प्राण, अपान, और व्यान के आश्रय पर व्यष्टि शरीर के प्राण आदि की स्थिति है। ब्रह्माण्ड के प्राण, अपान और व्यान के मन्त्रों में सप्तविध-सप्तविध रूप में दर्शाया है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, पवमान, आपः, पशवः, प्रजाः ये सब प्राणरूप हैं। पार्थिव, अग्नि पाकक्रिया में सहायक होने के कारण तथा औदर्य अग्नि अन्न पचा कर शरीर के तापमान को बनाए रखने के कारण प्राण है। आदित्य वर्षा के कारण, तथा ताप-प्रकाश देने के कारण प्राण है। चन्द्रमा द्वारा ओषधियों में रस संचार होता है जिन का कि हम सेवन कर जीवित रहते हैं, इसलिये चन्द्रमा भी प्राण है। "चन्द्रमा ओषधीनामधिपतिः" है। वायु और जल प्राणरूप हैं यह अतिस्पष्ट है। पशु भार ढोने, कृषिकर्म में सहायक होने, तथा दूध आदि देने से प्राणरूप हैं। वैयक्तिक, सामाजिक आदि कार्यों में परस्पर सहायक होने से प्राजाजन

---

१. देखो अथर्व० १५।१।५।३ की व्याख्या।

२. अपान=अप (पृथक्)+अन (प्राण)।

भी प्राणरूप हैं। अकेला व्यक्ति केवल अपने ही आश्रय पर जीवित नहीं रह सकता, न उत्पन्न ही हो सकता है। ये सातों प्राण समष्टि प्राण हैं। इन्हीं के आश्रय प्रत्येक प्राणी जीवित रहता और उत्पन्न होता है।

सात अपान हैं—पौर्णमासेष्टि, अष्टकेष्टि, अमावास्येष्टि, यज्ञ, श्रद्धा, दीक्षा, तथा दक्षिणा। इन में से श्रद्धा आदि तीन तो प्रेरक रूप हैं, और प्रेर्य इष्टियां तथा यज्ञ अपानरूप हैं। प्रेरक होने के कारण श्रद्धा आदि को भी अपान कहा है। यज्ञों से वर्षा हो कर अन्नाभाव दूर होता, रोग और रोगकीटाणु नष्ट होते, वायु जल स्थल की शुद्धि होती,—इस अपाकरण के कारण इन्हें अपान कहा है। यज्ञ और श्रद्धा आदि जीवन के अविनाभावरूप में साधक नहीं, इस लिये प्राणरूप भी नहीं। अग्नि, आदित्य आदि जीवन के अविनाभावरूप में साधक हैं, अतः प्राणरूप हैं।

व्यान हैं,—भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः, नक्षत्र, ऋतुएं ऋतुओं के अवयव या समूह, तथा संवत्सर। भूमि आश्रय हैं अग्नि-प्राण का, अन्तरिक्ष आश्रय है पवमान-प्राण का, द्यौः आश्रय है आदित्य-प्राण का, नक्षत्र आश्रय हैं चन्द्रमा-प्राण का। ऋतु आदि काल सामान्य आश्रय हैं, प्राणी और अप्राणी जगत् के। इस प्रकार समस्त प्राणी और अप्राणी जगत् के आश्रय होने के कारण भूमि आदि, व्याष्टिव्यान के सदृश व्यापी होने से, व्यानरूप[1] हैं]

३९२. तस्य॒ व्रात्य॑स्य। स॒मा॒नमर्थं॒ परि॑ यन्ति दे॒वाः सं॑वत्स॒रं वा ए॒तदृ॒तवो॒ऽनु॒ऽ परि॑ यन्ति॒ व्रात्यं॑ च ॥८॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य), व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर के (समानम्) एक (अर्थम्) प्रयोजन को, (च) और (व्रात्यम्)

१. वस्तुतः भूमि, अन्तरिक्ष, तथा द्यौः त्रिलोकीरूप हैं। नक्षत्र द्युलोक के ही अवयव हैं। नक्षत्रों का पृथक् वर्णन इसलिये वेदों में होता है, चूंकि नक्षत्रमण्डलों में ही सूर्य और उस के परिवार का परिभ्रमण हो रहा है। नक्षत्र और अन्य तारागण मिलकर, द्यौः है। ऋतु, आर्तव और संवत्सर कालरूप हैं। शेष समग्र प्राणि-अप्राणी जगत्, इसी त्रिलोकी और काल के आश्रय में विद्यमान है। अतः त्रिलोकी और काल का व्यापी-रूप होने के कारण इन्हें व्यान कहा है। जैसे कि व्यष्टि व्यान, शरीर में व्यापी होने के कारण, व्यानरूप है।

व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर को (अनु) लक्ष्य कर के, (देवाः) दिव्यगुणी जन, तथा त्रिलोकी के दिव्य तत्त्व अर्थात् ग्रह-उपग्रह सूर्यचन्द्र, तारा-नक्षत्रगण आदि (परि यन्ति) मानो परिक्रमाएं कर रहे हैं, (एतत्) इस प्रकार परिक्रमा कर रहे हैं, (वै) निश्चय से जैसे कि (ऋतवः) ऋतुएं (संवत्सरम्, अनु) संवत्सर को लक्ष्य कर, (परि यन्ति) मानो संवत्सर की परिक्रमा कर रही हैं।

[अर्थम् - सृष्टि की रचना का प्रयोजन है, जीवात्माओं पर परमेश्वरीय अनुग्रह अर्थात् कृपा तथा कर्मफल प्रदान द्वारा मोक्ष। यथा "अनुग्रहः सर्गः" (तत्त्वसमास सांख्यसूत्र १७)। इस अनुग्रह की दृष्टि से जड़ जगत् की सृष्टि हुई है, ताकि जीवात्माएं भोग समाप्ति पर समयान्तर में मोक्ष पा सकें। यह मोक्ष ही एक प्रयोजन है दिव्यगुणी तथा दैवी जड़-सृष्टि का। "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग २।१८) अर्थात् यह रचना, भोग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिए है। भोग का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। प्राकृतिक जगत् भी स्वमोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति के निमित्त मानो प्रयत्नशील है। यथा,—

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा। यत्र प्रेप्सन्तीरभि यन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः" इत्यादि (अथर्व० १०।७।४-६), अर्थात् "कहां जाने की इच्छा करती हुई अग्नि, ऊर्ध्व-ज्वाला वाली हो कर प्रदीप्त होती है, कहां जाने की इच्छा वाला वायु सतत गति कर रहा है। जहां जाने की इच्छा वाले वायु-भंवर गति कर रहे हैं, उसे स्कम्भ तथा जगदाधार कहो, वह आनन्दस्वरूप ही है"। कतमः=क (सुख)+तमप् (सर्वातिशायी, सुखस्वरूप)। प्रलयकाल में प्रकृति, सर्जन से मानो मोक्ष पाकर, अपने प्रभु में लीन हो जाती है]

३५३. तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यदा॑दि॒त्यम॑भिसं॒वि॒शन्त्य॑मावा॒स्यां॑ चै॒व तत्पौ॑र्णमा॒सीं च॑ ॥९॥

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर के (आदित्यम्) आदित्य में, (यद्) जब (अभि संविशन्ति) दिव्यगुणी उपासक (मन्त्र ८) साक्षात् सम्यक् प्रवेश पाते हैं, (तद्) तब वे (अमावास्याम्, च) कृष्णपक्ष से उपलक्षित पितृयाण मार्ग को (च) और या (पौर्णमासीम्) शुक्लपक्ष से उपलक्षित देवयान मार्ग को (अभि संविशन्ति) प्रथम प्राप्त होते हैं।

[आदित्यम्=सौरमण्डल, आदित्य से पैदा हुआ है और प्रलय में आदित्य में ही लीन होगा । आदित्य में स्थित आदित्यनामक (यजु० ३२।१) परमेश्वर, आदित्य द्वारा, सौरमण्डल का नियन्त्रण कर रहा है। **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म** ।। (यजु० ४०।१७) । मुक्त जीवात्माएं, शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष अर्थात् देवयान मार्ग और पितृयाण मार्ग द्वारा, आदित्य में प्रवेश कर, आदित्यनामक परमेश्वर में रमण करती हैं । यथा "**अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रान्तो भवति, अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते, स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति**" (छा० उप० अध्या० ८। खं० ५) । इस खण्ड द्वारा प्रतीत होता है कि जीवात्मा, शरीर छोड़ कर, रश्मियों द्वारा ऊपर की ओर आक्रमण कर आदित्य को प्राप्त होते हैं। पितृयाणमार्गी भी या तो सीधे या परम्परया भवसागर से तैर जाते हैं। यथा "**ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन**" (अथर्व० ६।१२२।२), अर्थात् गृहस्थयज्ञ का विस्तार करने के पश्चात् कई गृहस्थी भी तैर जाते हैं, जो कि विधिपूर्वक पितृ-ऋण चुका देते हैं। आदित्य पद परमेश्वरवाचक भी है (यजु० ३२।१) ।

अभिसंविशन्ति= '**आत्मनात्मानमभि सं विवेश**" (यजु० ३२।११) द्वारा भी प्रतीत होता है कि मोक्ष में जीवात्मा, केवल आत्मस्वरूप से, परमात्मा में प्रवेश पाता है]।

३५४. तस्य व्रात्यस्य । एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ।।१०।।

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर का [सृष्टि रचना में] (एकम्) एक प्रयोजन [समानर्थम्, मन्त्र ८] है। (तत्) वह है (एषाम्) इन देवों [मन्त्र ८] का (अमृतत्वम्) मोक्ष । (इति) यह मोक्ष जो कि (आहुतिः, एव) आहुतिरूप है, आदित्यनामक [मन्त्र ६] परमेश्वर में आहुत हो जाना, प्रवेश पा लेना है ।

—:०:—

सूक्त १८

व्रात्य देवतम्

३५५. तस्य व्रात्यस्य ।।१।।

(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी परमेश्वर को [सृष्टि में],

३५६. यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ।।२।।

(अस्य) इस परमेश्वर की (यद्) जो (दक्षिणम्, अक्षि) दायीं आंख है (सः) वह है (असौ) वह दूरस्थ (आदित्यः) सूर्य, और (अस्य) इस परमेश्वर की (यद्) जो (सव्यम्) बायीं (अक्षि) आंख है (सः) वह (चन्द्रमाः) चांद है।

["**यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः**" (अथर्व० १०।७।३३) । आदित्य शक्ति प्रदाता है, और चन्द्रमा शक्तिग्रहण करता है, आदित्य प्राण है, है, और चन्द्रमा रयि है (प्रश्न० उप० १। खं० ४) । इसलिये दक्षिण आंख आदित्य है, और सव्य आंख चन्द्रमा है । शरीर में दायां भाग अधिक शक्तिमान् होता है और बायां कम शक्तिमान् । सम्भवतः इस दृष्टि से दायीं आंख को आदित्य और बायीं को चन्द्रमा कहा हो। वेदों में जगत् को, परमेश्वर के शरीररूप में, वर्णित किया है। यह अवगत कराने के लिए कि जैसे अस्मदादि शरीरों में आत्मा, ज्ञान, इच्छा, कृति आदि शरीरों को सक्रिय कर रहे हैं, वैसे समष्टि जगत् में भी एक महती आत्मा और उस के ज्ञानादि, जगत् को सक्रिय कर रहे हैं। परमेश्वर तो वस्तुतः अशरीरी है, "**अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्**" (यजु० ४०।८) है।

३५७. योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ।।३।।

(अस्य) इस परमेश्वर का (यः) जो (अयम्) यह (दक्षिणः) दायां (कर्णः) कान है, (सः) वह है (अग्निः) अग्नि। (अस्य) इस परमेश्वर का (यः) जो (अयम्) यह (सव्यः) बायां (कर्णः) कान है, (सः) वह है (पवमानः) वायु।

[दाहिने कान को अधिक शक्ति शाली माना प्रतीत होता है, इस लिये इसे अग्नि कहा है, और बाएं कान को कम शक्ति वाला माना है, इसलिये इसे पवमान कहा है।" जातकर्मसंस्कार" में भी दाहिने कान में "**वेदोऽसि**", हे शिशु ! तू वेद है, ऐसे कथन का विधान है (संस्कार विधि, महर्षि दयानन्द) । कान का सम्बन्ध शब्द श्रवण के साथ है। पवमान

अर्थात् वायु शब्द का माध्यम है। अतः कान को पवमान कहना भी उचित प्रतीत होता है। कान का सम्बन्ध अग्नि के भी साथ है,—यह अनुसन्धान के योग्य है। इतना तो समझ में आ सकता है कि वायु जो वायुरूप में है,—वह सौराग्नि के ताप के कारण है, अन्यथा यह भी अतिशैत्य के के कारण द्रवरूप हो जाती, और अन्तरिक्ष, वायु से शून्य हो जाता, और शब्द सुनाई न देता। इसलिये सम्भवतः अग्नि का दक्षिण कर्ण के साथ, तथा पवमान (वायु) का सव्यकर्ण के साथ सम्बन्ध,मन्त्र में दर्शाया हो।

३५८. अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ।४

(नासिके) नासिका के दो छिद्र (अहोरात्रे) दिन और रात्रि हैं, (शीर्षकपाले) सिर के दो कपाल (दितिः च, अदितिः[1] च) दिति और अदिति हैं, (शिरः) सिर (संवत्सरः) वर्ष है।

३५९. अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥५॥

(अह्ना) दिन में (व्रात्यः) व्रात्य (प्रत्यङ्) पश्चिम की ओर, और (रात्र्या) रात्रि में (प्राङ्) पूर्व की ओर गति करता है, (व्रात्याय) व्रात्य के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[मन्त्र ४ और ५ में आदित्य के वर्णन द्वारा, आदित्य का तथा आदित्य के अधिष्ठाता परमेश्वर का ग्रहण होता है। दिन के समय, आदित्य की उपस्थिति में, नासिका के दहिने छिद्र द्वारा श्वास प्रश्वास चलना चाहिये, और रात्रिकाल में, आदित्य की अनुपस्थिति में, नासिका के बाएं छिद्र द्वारा श्वास प्रश्वास चलना चाहिए। यह स्वास्थ्य का चिह्न है। श्वास-प्रश्वास की इस से विपरीत गति रोग का चिह्न है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास को अहोरात्र कहा है। चूं कि श्वास-प्रश्वास का सम्बन्ध अहोरात्र के साथ है, तथा इन का सम्बन्ध नासिका के दो छिद्रों के भी साथ है, अतः परम्परया[2] नासिका के छिद्रों का अहोरात्र के साथ सम्बन्ध,

१. यजुर्वेद में भी अदिति का सम्बन्ध सिर के साथ दर्शाया है। यथा "अदितिं शीर्ष्णा" (२५।२)।

२. नासिका के दो छिद्रों का श्वास-प्रश्वास के साथ सम्बन्ध, श्वास-प्रश्वास का अहोरात्र के साथ, तथा अहोरात्र का व्रात्य-आदित्य के साथ, तथा व्रात्य-आदित्य का आदित्य-पुरुष के साथ सम्बन्ध है। "सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" (गोभिल २।१०।१६) द्वारा सूर्य भी व्रतपति होने से व्रात्य है।

और तद्द्वारा आदित्य का सम्बन्ध नासिका के दो छिद्रों के साथ भी, मन्त्र में दर्शाया है। दाएं नासिका छिद्र से चलने वाले श्वास-प्रश्वास को सूर्य स्वर तथा बाएं से चलने वाले को चन्द्र-स्वर कहते हैं। ये स्वर अहोरात्र में कई बार वारीवारी से बदलते रहते हैं। "हठयोग प्रदीपिका" आदि में इन गतियों का वर्णन है।

मन्त्र में संवत्सर को आदित्य का तथा आदित्यस्थ पुरुष का सिर कहा है। आदित्य का संचालन कालाधीन है। यथा "कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः" (अथर्व० १९।५४।१)। काल की इकाई संवत्सर है। क्योंकि प्रतिसंवत्सर की समाप्ति पर ऋतुएं तथा मास आदि पुनः पूर्ववत् चक्कर काटने लगते हैं। जैसे सिर के आश्रय समस्त शरीर अवलम्बित है, वैसे संवत्सर के आश्रय दिन-रात, मास तथा ऋतुएं अवलम्बित हैं। इसलिये संवत्सर को व्रात्य अर्थात् आदित्य का, या आदित्यस्थ पुरुष का "शिरः" कहा है।

इस संवत्सर के दो विभाग हैं, उत्तरायण तथा दक्षिणायन। ये दो मानो संवत्सर रूपी शिरः (सिर) के दो कपाल हैं, खोपड़ी के भी दो खण्ड हैं। इन में से उत्तरायण-भाग या खण्ड को अदिति कहा है, और दक्षिणायन-भाग या खण्ड को दिति कहा है। अदिति का सम्बन्ध है आदित्य से, और दिति का दैत्य से। उत्तरायण का सूर्य आदित्य है, और दक्षिणायन का सूर्य दैत्य है जो कि उत्तर भाग के ताप और प्रकाश को हर लेता है। दक्षिण भाग को असुर-भाग भी कहते हैं, तथा उत्तर-भाग को देवभाग। दिन के समय व्रात्य-आदित्य पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता है, और रात्रि के समय पश्चिम से पूर्व की ओर गति करता हुआ प्रातः काल पुनः पूर्व में उदित होता है, व्रात्य-आदित्य रथ है,आदित्य-पुरुष का। मानो आदित्य-पुरुष, आदित्य-रथ द्वारा दिन-रात गति करता रहता है।

व्रात्य-आदित्य की गति द्वारा व्रात्य-आदित्य-पुरुष की गति का औपचारिक वर्णन अभिप्रेत है, इसलिये व्रतपति तथा प्राणिवर्गों के हितकारी आदित्य-पुरुष को "नमः" द्वारा नमस्कार किया है। योऽसावादित्ये पुरुषः

सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१८) । मन्त्र में जड़-आदित्य को नमस्कार नहीं किया।

द्वितीय अनुवाक समाप्त

श्री प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड कृत

"अथर्ववेद १५ वें काण्ड" का

हिन्दी-भाष्य सम्पूर्ण हुआ ॥

—:०:—

सोलहवां काण्ड

सूक्त १

प्राजापत्यम्

३६०. अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥१॥

(अपाम्) जलों की (वृषभः) वर्षा करने वाला (अतिसृष्टः) मैंने छोड़ दिया है, (दिव्याः) मादक (अग्नयः) अग्नियां (अतिसृष्टाः) मैंने छोड़ दी हैं।

[१६ वें काण्ड में दो अनुवाक हैं। अनुक्रमणी में इन्हें "प्राजापत्य" कहा है। प्राजापत्य का अभिप्राय सम्भवतः है "प्रजापतिदेवताक" अर्थात् प्रजापति-परमेश्वर द्वारा प्रोक्त। अथर्ववेद १९।२३।२६ में "प्राजापत्याभ्यां स्वाहा" द्वारा १६ वें काण्ड के ये दो अनुवाक निर्दिष्ट किये हैं। १९।२३।२६ के अनुसार अनुक्रमणी में इन दो अनुवाकों को प्राजापत्य कहा प्रतीत होता है।

अपाम्=आपः शब्द वेद में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा जल, प्राण, रक्त, अन्तरिक्ष आदि। महर्षि दयानन्द ने आपः की व्युत्पत्ति की है "आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः (उणा० २।५९)। इस से ज्ञात होता है कि महर्षि को आपः द्वारा "रक्त" अर्थ भी अभिप्रेत है अथर्व० १०।२।१२ में भी आपः का अर्थ रक्त प्रतीत होता है। यथा—

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥

(अथर्व० १०।२।११)

मन्त्र में "सिन्धु" पद द्वारा हृदय कहा है, और "पुरुषे आपः" द्वारा पुरुषस्थ रक्त आदि। आपः के विशेषण: हैं "तीव्राः, अरुणाः, लोहिनीः, धूम्रवर्णाः आदि जो कि रक्त के बोधक हैं।

अपाम्, वृषभः=इन पदों द्वारा वीर्य-वर्षुक कामी व्यक्ति सूचित किया है। वीर्य, विलीन रहता है रक्त रूपी-आपः में। इस दृष्टि से वृषभ पद के साथ "अपाम्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस वीर्य-वर्षुक कामी व्यक्ति के कुसङ्ग के परित्याग का वर्णन मन्त्र में हुआ है। इस कुसङ्ग का परिणाम यह होता है कि कुसङ्गी का संगी भी कामी बन जाता है। मन्त्र में–कुसङ्गी के सङ्ग का परित्यागी व्यक्ति, संकल्प और प्रतिज्ञा करता है कि मैंने अब मादक अग्नियों का भी परित्याग कर दिया है। स्त्रियों का पुरुषों के साथ, तथा पुरुषों का स्त्रियों के साथ नर्तन, कीर्त्तन, केलि, अनुरागमय भाषण अवैधरति आदि कुकाममयी अग्नियां हैं, जो कि मानसिक और शारीरिक शक्तियों को भस्मीभूत कर देती हैं। यह अग्नियां दिव्य हैं, पार्थिव अग्नियों की रूपाकृति के सदृश नहीं। ये मनोगत और शरीरगत अग्नियां हैं। दिव्य पद में दिव्-धातु का अर्थ है "मद"। अतः "दिव्याः अग्नयः" का अर्थ "मादक अग्नियां" किया है। ये अग्नियां मद-मस्ती पैदा कर देती हैं[1]। अथवा मन्त्र में "अग्नयो दिव्याः"=अग्नयोऽदिव्याः]

३६१. रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥२॥

[उपर्युक्त मादक अग्नियों में प्रत्येक मादक-अग्नि] (रुजन्) शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का तोड़-फोड़ करने वाली है, (परि रुजन्) सब प्रकार के तोड़-फोड़ करने वाली है, (मृणन्) हिंसा करने वाली है, (प्र मृणन्) सर्वथा मार देने वाली है। मादक अग्नियां=भिन्न-भिन्न प्रकार की कामाग्नियां।

[रुजन्=रुज् भङ्गे; भग्न करने वाली। प्रमृणन्=प्र (प्रकर्षरूप में) मृणन्=मृण् हिंसायाम्]

३६२. ओको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥३॥

मादक-अग्नि (ओकः) चञ्चलता पैदा करती, (मनोहा) मननशक्ति या मन का हनन करती, (खनः) शारीरिक शक्तियों का अवदारण करती,

१. १६ काण्ड में आपः अर्थात् जल, रस-रक्त, और वीर्य का; आपः में स्थित दो प्रकार की अग्नियों का; दुःस्वप्न और उस के परिणामों का; तथा स्वप्नों के के कारणों आदि का वर्णन हुआ है।

(निर्दाहः) मन और शरीर में दाह पैदा करती, (आत्मदूषिः) आत्मा को दूषित करती, (तनूदूषिः) तथा शरीर को दूषित करती है।

[ओकः अुच् गतौ)। गति=चञ्चलता। खन=खनु अवदारणे]

३६३. इदं तमतिसृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥४॥

(तम्) उस मादक-अग्नि को (इदम्) अभी ही (अति सृजामि) मैं परित्यक्त कर देता हूँ, (तम्) उस मुझ को, हे मादक अग्नि! (मा, अभ्यवनिक्षि) तू चुम्बन या आलिङ्गन से रहित कर, अर्थात् तू मेरा स्पर्श न कर।

[इदम्=इदानीम् अर्थ में। अभ्यवनिक्षि=अभि+अव (Away off, Away from, down; आप्टे)+निक्ष (णिक्ष् चुम्बने)]

३६४. तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५॥

(तेन) इस कारण (तम्) उस मादक अग्नि को (अति सृजामः) हम सब त्याग देते हैं, (यः) जो मादक अग्नि को (अस्मान्) हमारे साथ (द्वेष्टि[1]) द्वेष करती है, और इस लिये (यम्) जिस मादक अग्नि के साथ (वयम्) हम (द्विष्मः[1]) द्वेष करते हैं।

[तम्=मादक-कामाग्नि के लिए एकवचन का प्रयोग है। और त्याग करने वालों के लिये बहुवचन के प्रयोग हैं। जो काम, व्यवहार, या आचार बहुतों को दूषित करता है, उसे द्वेषी जान कर, उस का परित्याग करना चाहिये, जैसे कि आत्मदूषि और तनूदूषि (मन्त्र ३) शब्दों द्वारा प्रकट किया है। ऐसे आचार ऐसी भावना के साथ परित्याग करना चाहिये. जिस भावना के साथ हम अपने द्वेषी के साथ द्वेष अर्थात् अप्रेम कर उस का परित्याग करते हैं। (द्विष् अप्रीतौ)। वेद में द्विष् का प्रयोग अप्रीति के लिये समझना चाहिये, घातक द्वेष के लिये नहीं। राजनैतिक दृष्टि में

१. द्वेष्टि और द्विष्मः शब्दों द्वारा सर्वसाधारण मनुष्य का यह स्वभाव प्रदर्शित किया है कि वह अकर्तव्य-कर्म करते करते जब उस द्वारा पीड़ित हो जाता है तभी वह उस अकर्तव्य-कर्म का परित्याग करने लगता है, कर्तव्य-अकर्तव्य का बुद्धिपूर्वक निर्णय कर के, पूर्वतः ही, वह प्रायः अकर्तव्य-कर्म से पराङ्मुख नहीं हो जाता। अकर्तव्य-कर्म से पीड़ा का होना ही अकर्तव्यकर्मकृत द्वेष है।

३९६. विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा संविद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥५॥

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं, (अभूत्याः) अभूति का (पुत्रः) परिणाम (असि) तू है,— शेष, मन्त्र १-३ की तरह।

[अभूत्याः, अभूति=भूति अर्थात् धन का न होना, धन के न संग्रह करने की भावना। इसे योग परिभाषा में अपरिग्रह कहते हैं। अपरिग्रह योगाङ्ग है (योगदर्शन २।२९), चूंकि यह "यम" है यथा "अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योग २।३०)। योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होता है (योग २।२८), अशुद्धि के क्षीण होने पर शुभ संस्कारों द्वारा सुस्वप्न होते हैं, दुःस्वप्न नहीं। "यम" पद द्वारा नियमों का भी ग्रहण होता है, "त्यक्तानुबन्ध ग्रहणे सामान्य ग्रहणम्। सन्तोष भी नियम है, यथा—"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः" (योग २।३२)। सन्तोष से अपरिग्रह, और अपरिग्रह अर्थात् अभूति से सुस्वप्न होते हैं। इस प्रकार सुस्वप्न, "नियम" अर्थात् सन्तोष का कर्म है]

३९७. विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा संविद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्याद् पाहि ॥६॥

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं, (निर्भूत्याः) निर्भूति का (पुत्रः) परिणाम (असि) तू है,— शेष, मन्त्र १-३ की तरह।

[निर्भूति=संगृहीत सम्पति का निराकरण अर्थात् परित्याग, वित्तैषणा से व्युत्थान। अभूति=सम्पत्ति का संग्रह न करना, निर्भूति है संग्रहीत सम्पत्ति का परित्याग]

३९८. विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥७॥

(स्वप्न) हे सुस्वप्न! (ते) तेरे (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं, (पराभूत्याः) पराभव का (पुत्रः) परिणाम (असि) तू है, शेष, मन्त्र १-३ की तरह।

[पराभूति=पराभव, विषयों का पराभव, विषयों पर विजय, विजयों का इन्द्रियों और मन पर प्रभाव न होने देना। विषय भावना, दुःष्वप्न और दुष्वप्न्य का कारण बनती है]

३९९. विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।८।

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं, (देव जामीनाम्) देवजामियों का (पुत्रः) परिणाम (असि) तू है, (यमस्य) यम-नियम रूप अपरिग्रह और सन्तोष वृत्ति का और संयम का (करणः) तू कर्म है।

[देवजामीनाम्=देवपत्नीनाम्=देवकोटि के महात्माओं की पत्नीरूप अर्थात् जामिरूप चित्त वृत्तियां। देवलोगों की सात्विक चित्त वृत्तियां मानो उन की पत्नियां या जामियां हैं, जो उन के साथ पतिव्रता रूप में सदा रहती हैं। इन सात्विक चित्तवृत्तिरूप-पत्नियों का पुत्र है, सुस्वप्न। देवों के यम-नियम और सयम का भी कर्म है, सुस्वप्न। सुस्वप्न को "देवानाम् अमृतगर्भः" भी कहा है। यथा "यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न" (अथर्व० ६।४६।१), अर्थात् हे स्वप्न ! जो तू न तो जीवित है, और न मृत है,तू देवों का "न मरने वाला" गर्भ है,पुत्ररूप है। स्वप्न जाग्रदवस्था में नहीं होता, इसलिये वह जीवित नहीं, परन्तु वह मृत भी नहीं, क्योंकि निद्रावस्था में उस की स्थिति भी अनुभूत होती है। ऐसा स्वप्न देवकोटि के सत्पुरुषों का अमृत अर्थात् सदाजीवी गर्भरूप अर्थात् पुत्ररूप है। स्वप्न को गर्भरूप कहते हुए चित्तवृत्तियों को इस की माता कहा है, और सत्पुरुषों की इन चित्तवृत्तियों को, जामियां तथा पत्नियां भी कहा प्रतीत होता है। यतः यह स्वप्न देवों का पुत्र है, इसलिए यह सुस्वप्न है, दुःस्वप्न नहीं।

४००. अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥९॥

हे सुस्वप्न ! (अन्तकः असि) दुष्वप्न्य को समाप्त करने वाला तू है, (मृत्युः असि) उस के लिए मृत्युरूप तू है।

भो उस एक व्यक्ति को द्वेषी जानना चाहिये जोकि समाज या राष्ट्र के साथ द्वेष करता है। ऐसे व्यक्ति का परित्याग या देश निकाला कर देना चाहिये]

कामाग्नि=काम शुभ भी होता है, और अशुभ भी। शुभ काम गृहस्थोपयोगी है। परमेश्वर भी बिना कामना के जगदुत्पत्ति नहीं कर सकता। इसी लिये उपनिषदों में परमेश्वर के सम्बन्ध में "सोऽकामयत" का प्रयोग होता है। किन्तु अशुभ काम जो कि कामाग्निरूप है, वही परित्याज्य है।

३६५. अपामग्रमसि समुद्रं वोभ्यवसृजामि ॥६॥

हे वीर्य ! तू (अपाम्) रक्त रस का (अग्रम्) सर्वश्रेष्ठ भाग (असि) है, अतः हे रस-रक्तो ! (वः) तुम्हें (समुद्रम् अभि) हृदय-समुद्र की ओर मैं (अव सृजामि) प्रेरित करता हूं।

[अवसृज्=To cast, to let go, let loose (आप्टे)। समुद्रम्= "हृद्यात्समुद्रात्" (यजु० १७।९३), तथा "सिन्धुसृत्याय जाता" (अथर्व० १०।२।११), तथा (अथर्व० १६।१।६)। इन तीनों स्थानों में सिन्धु तथा समुद्र पद हृदयार्थक हैं। अभिप्राय यह कि रस-रक्त, जिन में कि वीर्य विलीन रहता है, उन की स्वाभाविक गति हृदय की ओर है, उसे हृदय की ओर ही जाने देने का संकल्प 'ऊर्ध्वरेतस्-पुरुष" करता है]

३६६. यो३ऽप्स्व३ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥७॥

(अप्सु) रक्त-रसरूपी जलों में (यः) जो (अग्निः) मादक कामाग्नि है, (तम्) उसे (अति सृजामि) मैं त्यागता हूं, यह कामाग्नि (म्रोकम्, खनिम्, तनूदूषिम्) मन को चञ्चल करने वाली, शक्तियों को विदीर्ण करने वाली, तथा शरीर को दूषित करने वाली है।

३६७. यो व आपोग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥८॥

(आपः) हे शारीरिक द्रवो ! (वः) तुम में (यः अग्निः) जो अग्नि (आ विवेश) प्रविष्ट हुई है (सः) वह (एषः) यह अशुभ अग्नि है, (वः) तुम में (यद्) जो (घोरम्) घातक अंश प्रविष्ट हुआ है (तद्) वह (एतत्) यह है।

[अशुभ अग्नि और घोरांश का वर्णन मन्त्र १६।१।१।२,३,७) में हुआ। घोरम्=हन् (घुर)+अच् (हन्तेर्घ् घुर च; उणा० ५।६४)। शारीरिक द्रव=रस, रक्त, वीर्य]

३६८. इन्द्रस्य च इन्द्रियेणाभिषिञ्चेत् ॥९॥

(इन्द्रस्य च) आत्मा[1] की (इन्द्रियेण)[1] आत्म शक्ति द्वारा (अभि षिञ्चेत्) आत्मोद्धारक सींचे।

[कामाग्नि को, आत्मशक्ति द्वारा सींचने पर, यह अशुभ अग्नि शान्त होती है, जैसे कि जल द्वारा सींचने पर प्राकृतिक अग्नि शान्त हो जाती है।

३६९. अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥१०॥

(अरिप्राः) पापरहित हुए (आपः) शारीरिक द्रव, (अस्मत्) हम से, (रिप्रम्) पाप को (अप) अपगत करें, दूर करें।

[रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः (निरु० ४।३।२१)। सात्त्विक भोजन और सत्संग तथा सद्विचारों द्वारा शारीरिक-द्रव पापरहित हो कर, मन को पापरहित करते हैं]

३७०. प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥११॥

पापरहित शारीरिक द्रव (अस्मत्) हम से (एनः) पाप को (प्र वहन्तु) प्रवाहित करें। तथा (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्नों और दुःस्वप्नों के परिणाम को (प्र वहन्तु) प्रवाहित करें।

[प्र वहन्तु=शारीरिक द्रवों को आपः कहा है। आपः का प्रसिद्ध अर्थ है,—जल। जैसे जल मल को प्रवाहित करते हैं, वैसे शारीरिक द्रव हमारे पाप-मल को हम से प्रवाहित करें। पापकर्मों तथा पाप विचारों के कारण बुरे स्वप्न, तथा बुरे स्वप्नों के बुरे परिणाम होते हैं। बुरे परिणाम=स्वप्नदोष, भय, कम्प, रोना-चिल्लाना, लड़ाई झगड़ा आदि। ये स्वप्नावस्था में भी होते हैं। तथा देखो (अथर्व० १०।५।२४)।

---

१. इन्द्र आत्मा। तस्य लिङ्गम्=इन्द्रियम् (भट्टो जी दीक्षित, अष्टा० ५।२।९३)।

३७१. शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तुन्वोप स्पृशत त्वचं मे १२

(आपः) जलवत् शान्त हे आप्त महात्माओ ! (शिवेन चक्षुषा) कल्याणकारिणी दृष्टि द्वारा (मा) मुझ पर (पश्यत) कृपादृष्टि कीजिये, तथा (शिवया तन्वा) निज कल्याण कारिणी देह द्वारा (मे) मेरी (त्वचम्) त्वचा अर्थात् शरीर को (स्पृशत) स्पर्श कीजिये।

[मन्त्र ९, १०, ११ द्वारा निष्पाप हुआ व्यक्ति, महात्माओं का संग कर, उन से विनय करता है कि आप कृपा पूर्वक मुझ पर अपनी कल्याण कारिणी दृष्टिपात कीजिये या सदा मुझ पर कृपादृष्टि कीजिये, और निज पवित्र और कल्याणकारी हस्त द्वारा मेरे शरीर का स्पर्श कीजिये। महात्माओं की कृपादृष्टि और उन द्वारा किया गया स्पर्श मनुष्य को पवित्र कर देता हैं। "हस्तस्पर्श चिकिप्सा" वेदानुमोदित है। यथा—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवो।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥

(अथर्व० ४।१३।६,७)॥

अर्थात् यह मेरा हाथ भाग्यशालो है, और यह मेरा हाथ और अधिक भाग्यशाली है। यह मेरा हाथ विश्वभेषज अर्थात् महौषध रूप है, तथा यह स्पर्श द्वारा कल्याण करता है। दस शाखाओं वाले दो हाथों से पहिले, मेरी जिह्वा, रोगनिवारक वाणी को आगे प्रेरित करतो है। रोग निवारक उन दो हाथों द्वारा तेरा हम स्पर्श करते हैं।

[रोगी के रोग को स्पर्श तथा वाक्शक्ति(Suggetion) द्वारा, हटाने का वर्णन मन्त्रों में हुआ है]

३७२. शिवानुग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः।१३

(अप्सुसदः) शारीरिक रस-रक्तों में या जलों में स्थित (शिवान्) कल्याणकारी (अग्नीन्) अग्नियों का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। हे कल्याणकारी अग्नियो ! (मयि) मुझ में (क्षत्रम्) क्षात्र शक्ति (वर्चः) दीप्ति, तथा (देवीः) दिव्य शक्तियां (आधत्त) स्थापित करो।

[रस-रक्तों में स्थित शिव अग्नियां=उत्साह, उमङ्ग,जोश,दृढ़ संकल्प शिव संकल्प आदि। तथा जलों में स्थित रोग निवारक अग्नियां, यथा—

"अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्"॥ (अथर्व० कां० १। अनु० १। सू० ६। मन्त्र २)। अर्थात् सोम ने मुझे कहा है कि जलों के अन्दर सब औषध हैं, और सर्वरोगशमनकारी अग्नि भी है। इस प्रकार जल तथा जलनिष्ठ अग्नियों द्वारा चिकित्सा कर के क्षात्र भावनाए, दीप्ति तथा दिव्य शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं। सोमः= जगदुत्पादक परमेश्वर तथा जल चिकित्सक वैद्य। सोम=Water (आप्टे)। देवीः=द्वितीया विभक्ति का बहुवचन। मन्त्र में यतः अग्नियों का आह्वान किया है, अतः इन द्वारा ही क्षत्र आदि का आधान जानना चाहिये, न कि आपः द्वारा। अतः देवीः पद आपः का कथन नहीं करता]

—:०:—

सूक्त २

(प्राजापत्यम्। वाग् देवत्यम्)

३७३. निर्दुरर्मण्यः ऊर्जा मधुमती वाक् ॥१॥

(निर्दुरमंण्यः) बुरे चक्षू रोगों का निराकरण, (ऊर्जा) बल और प्राणशक्ति, (मधुमती वाक्) तथा मधुर वाणी [हमें प्राप्त हो]।

[निर्दुरमंण्यः=निर्+दुर्+अर्मन्+ङीप्+प्रथमा का बहुवचन। अर्मन्=ऋ+मन् (उणा० १।१४०) चक्षूरोगः (महर्षि दयानन्द)। मन् प्रत्यय में "न्" का लोप न होकर "ऋन्नेभ्यो ङीप् (अष्टा० ५।१।८) द्वारा ङीप्। नैतिक दृष्टि से चक्षूरोग=बुरी दृष्टि से देखना, आंखों के इशारों द्वारा बातचीत करना, विषयों के प्रति आंखों की चञ्चलता आदि। ऊर्जा= ऊर्ज् बल प्राणनयोः।

३७४. मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥२॥

(मधुमतीः) माधुर्यगुण वाले (स्थ) तुम हो, (मधुमतीम्) माधुर्य युक्त (वाचम्) वाणी (उदेयम्) मैं उच्चारण करू। [स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग द्वारा आपः का वर्णन है]

[वैशेषिक दर्शन के अनुसार आपः (जल) माधुर्य गुण वाले हैं। आपः के सेवन से माधुर्य का अनुभव कर, व्यक्ति मधुर वाणी के उच्चारण का संकल्प करता है। ऊर्जा=जल चिकित्सा[1] द्वारा बल प्राप्त होता और प्राण अर्थात् जीवनीय शक्ति प्राप्त होती है। प्रकरण की दृष्टि से रस-रक्त वीर्य, जल, तथा जलनिष्ठ अग्नि का मिश्रित वर्णन इस काण्ड में यत्र तत्र हुआ है]

३७५. उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥३॥

(मे) मेरा (गोपाः) इन्द्रियरक्षक, मैंने (उपहूतः) उपासना विधि द्वारा आहूत किया है, रक्षार्थ बुलाया है, (गोपीथः) इन्द्रिय रक्षक-राजा अर्थात् परमेश्वर (उपहूतः) उपासना विधि द्वारा आहूत किया है, रक्षार्थ बुलाया हैं, स्वाभिमुख किया।

[गोपाः=गावः=इन्द्रियाणि+पा=रक्षक, परमेश्वर। गोपीथः=गाः (इन्द्रियाणि)+पातीति परमेश्वर। परमेश्वर की उपासना द्वारा इन्द्रियां सात्विक हो कर सुरक्षित हो जाती हैं, और विषयों पर विजय पा लेती हैं। यथा "ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" (श्वेता० उप० २।८)। भयावहानि स्रोतांसि—इन्द्रिय स्रोत। ब्रह्मोडुप=ब्रह्मरूपी नौका।

३७६. सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥४॥

(कर्णौ) मेरे दोनों कान (श्रुतौ) अच्छी-श्रवण शक्ति से सम्पन्न हों, (कर्णौ) दोनों कान (भद्रश्रुतौ) कल्याणकारी तथा सुखदायी वचनों का श्रवण करने वाले हों। परमेश्वर की कृपा से (भद्रं श्लोकम्) भद्र-वाणी (श्रूयासम्) मैं सुना करूं।

[श्लोकः वाङ्नाम (निघं० १।११)]

३७७. सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥५॥

(सुश्रुतिः, च) अच्छी-वेदवाणी, (उपश्रुतिः, च) और समीप होकर श्रद्धापूर्वक उस का श्रवण (मा) मुझे (मा) न (हासिष्टाम्) त्यागें।

१. जल द्वारा दुःस्वप्नों के निराकरण की दृष्टि से जल का वर्णन हुआ है।

(सौपर्णम्[1], चक्षुः) गरुड़ समान तीक्ष्ण दृष्टि तथा सूक्ष्मदृष्टि, और (अजस्रम्, ज्योतिः) अनश्वर ज्योति परमेश्वर (मा हासिष्टाम्) मेरा परित्याग न करें।

उपश्रुतिः=अथवा नक्तं निर्गत्य यत्किंचिच्छुभाशुभकरं वचः। श्रूयते तद्विदुर्धीराः देवप्रश्नमुपश्रुति ॥ "A supernatural voice heard at night and personified as a noctunal diety revealing the future (आप्टे)। सुश्रुति, श्रुतिः=श्रुतिस्तु वेदोविज्ञेयः (मनु०)]

३७८. ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥६॥

हे अविनश्वर ज्योतिः परमेश्वर ! आप (ऋषीणाम्) ऋषियों के (प्रस्तरः) बिछौने (असि) हैं, (दैवाय) दिव्य (प्रस्तराय) बिछौने अर्थात् परमेश्वर के लिये (नमः, अस्तु) नमस्कार हो।

[प्रस्तरः=बिछौना। जैसे बिछौने पर शयन कर आराम और शान्ति मिलती तथा सांसारिक बाधाओं और चिन्ताओं से तात्कालिक मुक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार परमेश्वर के आश्रय, समाधि निद्रा में, ऋषियों को आराम, शान्ति तथा बाधाओं-चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है। इस मन्त्र में परमेश्वर को प्रस्तर कहा है, तथा अथर्व० १५।१।३।१–११ में वैदिक-आसन्दी का वर्णन हुआ है। इस प्रकार के अलौकिक वर्णन वेदों में प्रायः मिलते हैं। प्रस्तरः=A couch or bad is general (आप्टे)। वर्तमान सूक्त २ में जिन सद्गुणों का वर्णन हुआ है वह सूक्त १ के ६ से १३ तक मन्त्रों में प्रोक्त दिव्य भावनाओं आदि का परिणाम है। वैदिक साहित्य में परमेश्वर को "उपस्तरण और अपिधान भी कहा है। यथा "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। अमृतापिधानमसि स्वाहा। उपस्तरण= बिछौना। अपिधान=ओढ़नी।

---

१. सौपर्णं चक्षुः=Eagle-like sight; fiercing eye; discerning (आप्टे)। अथवा सुपर्ण=सूर्य की किरणें। सौपर्ण=किरणों के सदृश चमकीली चक्षुः।

सूक्त ३

(प्राजापत्यम्)

३७९. मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥१॥

(रयीणाम्) सम्पत्तियों या सम्पत्तिशालियों का (मूर्धा) मुखिया या शिरोमणि (अहम्) मैं (भूयासम्) होऊं, (समानानाम्) समानों का (मूर्धा) मुखिया या शिरोमणि होऊं। [प्रस्तर परमेश्वर से यह विनय प्रार्थना है (सूक्त २, मन्त्र ६)]

३८०. रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥२॥

(रुजः, च) अविद्या तथा रागद्वेषादि ग्रन्थियों को तोड़ना, (वेनः, च), और तदर्थ ज्ञान (मा) मुझे (मा) न (हासिष्टाम्) त्यागें, (मूर्धा, च) मुखियापन (विधर्मा, च) और विविध गुणों या प्रजा का धारण-पोषण करना (मा, मा, हासिष्टाम्) मेरा त्याग न करें।

[रुजः=रुज् भङ्गे । वेनः=वेनृ ज्ञाने, निशामने । हासिष्टाम्=ओहाक् त्यागे । विधर्मा=वि+धृ (धारणपोषणयोः)। अर्थात् सम्पत्तियों को प्राप्त कर मैं अन्यों का धारण-पोषण करु]

३८१. उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥३॥

(उर्वः, च) अन्न (चमसः, च) और उस का खाना (मा) मुझे (मा) न (हासिष्टाम्) त्यागें, (धर्ता, च) जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर (धरुणः, च) और उस का खजाना (मा) मुझे (मा) न (हासिष्ठाय्) त्यागें।

[उर्वः=उरु, बाहुल्य । चमसः=चमु अदने । चमसः के साहचर्य के कारण उर्वः[1] का अर्थ किया है,—अन्न । अथवा उर्वः=ऊर्वः=सामु-

१. उपजाऊ भूमि को "उर्वरा" कहते हैं । सम्भवतः उर्वरा=उर्व (अन्न)+रा (दाने) । उस भूमि को उर्वरा कहते हैं जो अन्न पैदा कर सकती है । अतः सम्भवतः "उर्व" का अर्थ अन्न हो ।

द्राग्नि । इसी सूक्त के मन्त्र ६ में व्यक्ति अपने आप को "समुद्रः" अर्थात् समुद्र कहता है । इस दृष्टि से सामुद्राग्नि=व्यक्ति की जाठराग्नि अर्थात् पाचकाग्नि ।

३८२. विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥४॥

(विमोकः, च) विमोक्ष (आर्द्रपविः, च) और सरस या स्नेहार्द्र वाणी (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) न त्यागें, (आर्द्रदानुः) दयार्द्र तथा स्नेहार्द्र हृदय से दिया दान (मातरिश्वा, च) और माता में शिशु को बढ़ाने या जीवन प्रदान करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (मा) न (हासिष्टाम्) त्यागें।

[मातरिश्वा=मातरि+टुओश्वि गतिवृद्धयोः । मातरि श्वसिति जीवयति वा (उणा० १।१५९)। विमोकः=वि+मोकः (मुच्लृ मोक्षणे, मुच प्रमोचने), जन्म-मरण से छुटकारा; मुक्ति । पविः=वाङ्नाम (निघं० १।११)। दानुः=दान । यथा "यवं न वृष्टिं दिव्येन दानुना" (अथर्व० २०।१७।७)। तथा दानुनस्पती=दानपती (निरु० २।४।१३)। मातरिश्वा=अथवा प्राणवायु "मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनिति वा" (निरु० ७।७।२६); अर्थात् मैं दीर्घायुः होऊं]

३८३. बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥५॥

(बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा अर्थात् प्रेरक हुआ है, (नृमणा) नरनारियों की अभ्युन्नति में उस परमेश्वर का मन है, (नाम) वह सर्व प्रसिद्ध है, (हृद्यः) हृदय प्रिय या हृदय निवासी है।

[आत्मा=शरीरस्थ जीवात्मा शरीर का प्रेरक होता है। ईश्वर प्रणिधानी योगी के जीवन में, जीवन्मुक्तावस्था में, परमेश्वर उस का प्रेरक होता है, वह उस की आत्मा के सदृश प्रेरक होता है]

३८४. असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥६॥

जीवन्मुक्तावस्था में (मे) मेरा (हृदयम्) हृदय, (असतापम्) शोक

और विषय लालसा के संताप से रहित हो गया है, (गव्यूतिः[१]) मेरी गति (उर्वी) विस्तृत हो गई है, (विधर्मणा) विविध गुणों या प्रजा के धारण पोषण में (समुद्रः) समुद्र सदृश (अस्मि) मैं हो गया हूं।

सूक्त ४

(प्राजापत्यम्)

३८५. नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥१॥

(अहम्) मैं (रयीणाम्) सम्पत्तियों का (नाभिः) केन्द्र, तथा (समानानाम्) स्व सदृशों का (नाभिः) केन्द्र (भूयासम्) बनूं।

[मन्त्र में सम्भवतः जीवन्मुक्त योगी, परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं आध्यात्मिक सम्पत्तियों का केन्द्र बन सकूं, ताकि मैं उन सम्पत्तियों का दान कर सकूं, तथा मैं आत्मसदृश मनुष्य मात्र का केन्द्र बन सकूं ताकि वे मेरे पास एकत्रित हो कर उन सम्पत्तियों का ग्रहण कर सकें। रयीणाम्=रयिरिति धननाम रातेर्दानकर्मणः" (निरु० ४।३।१७)। योगी जिस रयि का केन्द्र बनना चाहता है वह उस का दान करने के लिये ही उस का केन्द्र बनना चाहता है, स्वार्थ लिप्सा के लिये नहीं। रयि का अर्थ ही है वह सम्पत्ति, जिस का कि दान करना होता है।]

३८६. स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥२॥

हे परमेश्वर ! आप (स्वासद्=सु+आ+सद्) प्रशस्त रूप में सर्वत्र स्थित (असि) हैं, व्यापक हैं, (सूषाः) जगदुत्पादक अथवा आध्यात्मिक-उषा के उत्पादक हैं, (मर्त्येषु आ) मर्त्यों में (अमृतः) आप अमृत हैं।

[सूषाः=सू प्रसवे)+षाः (षणु दाने), अथवा "सू+उषाः"=अध्यात्मज्योति का उत्पादक। आ=अभ्यर्थे (निरु० ५।१।५)। अथवा सु+उषाः=सुन्दर उषा का उत्पादक]

---

१. गव्यूतिः=गवते गतिकर्मा+यूतिः (यू मिश्रणे); उर्वी गव्यूतिः मुझ में विस्तृत गति का मिश्रण अर्थात् सम्बन्ध हो गया है। अथवा गव्यूति का प्रसिद्ध अर्थ है एक कोस अर्थात् दो मील। इस का लाक्षणिक अर्थ है लम्बा या विस्तृत मार्ग। अतः "उर्वी गव्यूतिः"=सम्भवतः जीवन का विस्तृत क्षेत्र।

३८७. मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥३॥

(प्राणः) प्राण वायु (माम्) मुझे (मा) न (हासीत्) त्यागे, (मा उ) और न (अपानः) अपान वायु (अवहाय) मुझे छोड़ कर (परा गात्) मुझ से पराङ्मुख हो जाय।

[परा गात्=परे चली जाय। वैदिक योगी, मृत्युकाल की प्रतीक्षा में शरीर धारण करते रहते के विचार वाला नहीं, अपितु परमेश्वर से चिरायु की प्रार्थना वह इसलिये करता है ताकि वह योगमार्ग में अन्यों को दीक्षित करने का अधिक अवसर प्राप्त कर सके]

३८८. सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥४॥

हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (सूर्यः) सूर्य (मा) मेरी (अह्नः) दिन से (पातु) रक्षा करे, (अग्निः) अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी से, (वायुः) वायु (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (यमः) राष्ट्रनियन्ता राजा (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों से, (सरस्वती) विद्या (पार्थिवेभ्यः) पार्थिव उत्पातों तथा कष्टों से मेरी रक्षा करे।

३८९. प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥५॥

(प्राणपानौ) हे प्राण-अपान ! (मा) मुझे (मा) न (हासिष्टम्) तुम त्यागो, (जने) जन समुदाय में (मा) न (प्र मेषि) मैं शीघ्र मरूं।

[मेषि=मीङ् हिंसायाम्]

३९०. स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्वं आपः सर्वगणो अशीय ॥६॥

हे परमेश्वर ! (अद्य) आज (उषसः) उषाएं, (दोषसः) और रातें, (सर्वः) सब संसार, (आपः) सप्त प्राण (स्वस्ति) कल्याणमय हों, (सर्वगणः) सब गणों से सम्पन्न मैं (स्वस्ति, अशीय) कल्याण को प्राप्त होऊं।

[आपः="आपनानीमान्येव शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरु० १२।४।३८)। सर्वगणः=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का गण, पञ्च-तन्मात्रागण, पञ्चज्ञानेन्द्रियगण, पञ्चकर्मेन्द्रियगण, पञ्चभूतगण आदि से सम्पन्न]

३९१. शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥७॥

हे गौओ ! (शक्वरः) शक्ति शालिनी (स्थ) तुम हो, (पशवः) गोपशु (मा) मेरे समीप (उप स्थेषुः) उपस्थित रहें, (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण जो कि (मे) मेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपान हैं वे, तथा (अग्निः) अग्नि, (मे) मुझ में (दक्षम्) बल (दधातु) धारण करे।

शक्वरीः=शकि वनिप्, रेफ, ङीप् (उणा० ४।११४); शक्वरी गोनाम (निघं० २।११)। गौओं में शक्तिशाली दूध देने की शक्ति होती है। इन का दूध सात्विक होता है, अतः इनकी प्राप्ति की प्रार्थना है। प्राण=मित्र; और अपान=वरुण। जीवन में प्राण स्नेहकारी है अतः मित्र है (मिदि स्नेहने); अथवा मित्रः=प्रमीते ! त्रायते (निरु० १०।२।२१), प्राण मृत्यु से रक्षा करता है। अपान शरीरगत मलमूत्र तथा अशुद्ध वायु को अपगत करता हैं, निवारित करता है, अतः वरुण है। शक्वरीः=योगी के लिए सात्विक गोदुग्ध महोपकारी है। शक्वरी गोनाम (निघं० २।११)। "शक्वरीः=(शक्) शक्ति प्रदान में+(वरीः) श्रेष्ठ=गौएं]

प्रथम अनुवाक समाप्त

प्रथम अनुवाक का सार

प्रथम अनुवाक में ४ सूक्त हैं, और द्वितीय अनुवाक में ५ सूक्त हैं। द्वितीय अनुवाक में स्वप्न, दुःष्वप्न, और "दुष्वप्न्य" अर्थात् दुःष्वप्न के दुष्परिणामों, तथा इन के कतिपय कारणों, और निराकरण का वर्णन संक्षेप में हुआ है। प्रथम अनुवाक में मुख्यरूप में दुःस्वप्न के बाधक उपायों का विस्तार से वर्णन हुआ है। ये उपाय निम्नलिखित हैं:—

(१) काम और कामी के सङ्ग का परित्याग। (२) वीर्य रक्षा। (३) आत्मिक शक्ति का विकास। (४) शारीरिक रस-रक्त का पाप और उस के संस्कारों से रहित होना, तथा एतदर्थ उत्साह आदि दिव्य अग्नियों का आह्वान करना (सूक्त १); तथा—

(५) आंखों की पवित्रता। (६) मधुर वाणी। (६) परमेश्वर और उस द्वारा रक्षा की प्रार्थना। (८) भद्रवचनों का सुनना, वेदवाणी का श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन। (९) परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण तथा नमस्कार। (सूक्त २). तथा (१०) राग-द्वेष आदि को ग्रन्थियों को तोड़ना, विमोक्ष की प्राप्ति, स्नेहार्द्रवाणी, स्नेहपूर्वक अध्यात्मज्ञान का प्रदान, ब्रह्माण्ड के पति से प्रेरणा की मांग, ताप-संताप से छुटकारा, तथा हृदय को समुद्रवत् विशाल करना (सूक्त) ३; तथा—

परमेश्वर सर्वव्यापक है,—इस अनुभूति में जीवन को ढालना, परमेश्वर के अमृत स्वरूप का ध्यान, तथा उस से याचना करना कि सांसारिक पदार्थ मेरे सदा रक्षक हों, तथा सात्विक गोदुग्ध आदि का सेवन (सूक्त ४)।

इन निर्दिष्ट उपायों का यदि अवलम्बन किया जाय तो विचार, संस्कार और कर्म पवित्र हो जाते हैं, और दुःस्वप्न और इस के बुरे परिणाम निद्रा मे दृष्टिगोचर नहीं होते।

सूक्त ५

द्वितीय अनुवाक

३९२. विद्म॒ ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ ग्राह्याः॑ पु॒त्रोऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ॥१॥

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्[1]) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं, (ग्राह्याः) निग्रह भावना का (पुत्रः) परिणाम (असि) तू है, (यमस्य) योगाङ्गरूपी यम-नियम या संयम का (करणः) तू कर्म है ।

[स्वप्न=मन्त्र में सुस्वप्न अर्थात् सात्विक स्वप्न का वर्णन है। मन्त्र ३ में "स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि" द्वारा स्वप्न को कहा है कि तू दुःस्वप्न और दुःष्वप्न्य के दुष्परिणामों से हमारी रक्षा कर। रजोगुण और तमोगुण का परिणाम है दुष्वप्न्य। दुःस्वप्न, दुष्वप्न्य से रक्षा नहीं कर सकते। सुष्वप्न या सात्विक स्वप्न ही दुःस्वप्नों को हटा कर दुःष्वप्न्य से रक्षा कर सकते हैं। इसलिये सूक्त ५ में स्वप्न पद द्वारा सुस्वप्न का ग्रहण करना चाहिये। भय, क्रोध, कलह, रोना-चिल्लाना, वीर्यस्खलन आदि दुष्परिणाम हैं दुःष्वप्नों के। दुष्वप्न्यम्=दुःष्वप्ने भवम्।

ग्राह्याः पुत्रः=सुस्वप्न ग्राही का पुत्र है, परिणाम है। ग्राही का अभिप्राय है,—निग्रह भावना, अर्थात् मन का निग्रह, मन की रजोगुणी तथा तमोगुणी विषयों में अप्रवृत्ति। इस से न तो दुःष्वप्न ही होते हैं, और न दुष्वप्न्य अर्थात् दुःष्वप्नों के दुष्परिणाम।

यमस्य करणः=करणः का अर्थ साधन नहीं। साधन अर्थ में "करणम्" शब्द का प्रयोग होता है, करणः का नहीं। करणः शब्द आद्युदात्त है, इस में "कृ" धातु औणादिक "युन्" प्रत्ययान्त है (उणा० ५।४२)। यह स्पष्ट है कि "सुस्वप्न" योगाङ्गयम-नियम या संयम-जीवन के परिणाम होते हैं]

३९३. अ॒न्त॒कोऽसि मृ॒त्युर॑सि ॥२॥

हे सुस्वप्न ! तू (अन्तकः) दुःष्वप्न और दुष्वप्न्य का अन्त करने

१. जनित्रम्=जन्+इत्र (उणा० ४।१६४, १७५)। जनयतीति जनित्रम् उत्पत्तिकारणम्।

वाला (असि) है, (मृत्युः) उन की मृत्यु कर देने वाला असि) है। [अन्तकः=अन्तं करोतीति]

३९४. तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑ स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि ।३।

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (तम्) उस (त्वा) तुझ को (तथा) उस प्रकार का, अर्थात् दुष्वप्न्यविनाशकरूप से (सं विद्म) हम अच्छी प्रकार से या ठीक-ठीक जानते हैं, (सः) वह तू (नः) हमारी (दुष्वप्न्यात्) दुःस्वप्न और उस के दुष्परिणामों से (पाहि) रक्षा कर।

३९५. विद्म॒ ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ निर्ऋ॑त्याः पु॒त्रोऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः। अ॒न्त॒कोऽसि मृ॒त्युर॑सि तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑ स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि[2] ॥४॥

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (ते) तेरे (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण को (विद्म) हम जानते हैं (निर्ऋत्याः पुत्रः असि) निर्ऋति का परिणाम तू है,—शेष, मन्त्र १-३, की तरह।

[निर्ऋत्याः=निर्ऋति के दो अर्थ हैं—पृथिवी और कृच्छ्रापत्ति (निरु० २।२।८)। दोनों ही अर्थ मन्त्र में उपपन्न नहीं होते। कृच्छ्रापत्ति का अर्थ है कष्टापादन। कष्टों का परिणाम दुःष्वप्न हो सकता है, सुस्वप्न नहीं। इस लिये निर्ऋति का यौगिक अर्थ मन्त्रार्थ में अधिक उपपन्न होगा। अतः निर्ऋति=निर्+ऋति (ऋ गतौ), अर्थात् गति का निराकरण, ऐन्द्रियिक-चञ्चलता तथा मानसिक-चञ्चलता का निराकरण अर्थात् अभाव। इस निर्ऋति का परिणाम सुस्वप्न सम्भव है। पुत्रः=सुस्वप्न कहा है। पुत्रः=पुनाति पवित्रं करोति (उणा० ४।१६६, महर्षि दयानन्द)। सुस्वप्न पवित्र करते हैं, और दुःस्वप्न अपवित्रता के कारण होते हैं। सुस्वप्न सात्विक संस्कारों के परिणाम होते हैं, और दुःष्वप्न राजस् और तामस् संस्कारों के परिणाम होते हैं। सात्विक संस्कार पवित्रता के और राजस् तथा तामस् संस्कार अपवित्रता के कारण होते हैं।]

२. सूक्त ५ के प्रारम्भ के और अन्त के तीन-तीन मन्त्र पृथक्-पृथक् मुद्रित हुए हैं, और मध्यवर्ती तीन-तीन मन्त्र, परस्पर मिला कर, एक-एक मन्त्ररूप में मुद्रित मिलते हैं। इस प्रकार मध्यवर्ती १२ मन्त्रों को ४ मन्त्रों में मुद्रित किया है। कारण अनुसंधेय है।

४०१. तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि १०

(स्वप्न) हे सुस्वप्न ! (तम् त्वा) उस तुझ को (तथा) उस प्रकार का (सं विद्म) हम अच्छी प्रकार जानते हैं [जैसे कि मन्त्र ८, ९ में तेरा वर्णन हुआ है]. (स्वप्न) हे सुस्वप्न (सः) वह तू (नः) हमारी (दुष्वप्न्यात्) दुःष्वप्न और दुःष्वप्न के दुष्परिणाम से (पाहि) रक्षा कर।

सूक्त ५ का सार

प्रथम अनुवाक के प्रथम सूक्त में अदित्य-अग्नियों या मादक-अग्नियों के परित्याग, और दिव्य-अग्नियों के उपादान के परिणामभूत सद्गुणों का वर्णन, सूक्त २ से ४ तक में हुआ है। इन सद्गुणों के द्वारा उत्पन्न चित्त की सात्विकता के परिणामरूप सुस्वप्न का वर्णन सूक्त ५ वें में हुआ है।

सूक्त ५ में निम्नलिखित निर्देशों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) इस सूक्त में वर्णित स्वप्न सुस्वप्न है, दुःष्वप्न नहीं। (२) सुस्वप्न ही दुःष्वप्नों तथा दुःष्वप्नजन्य दुष्परिणामों (दुष्वप्न्य) से रक्षा कर सकता है, और उन का अन्त या मृत्यु कर सकता है। (३) स्वप्न का सम्बोधन तथा उस से रक्षा की अभ्यर्थना केवल कविता रूप है।(४)सुस्वप्न के कारण हैं ग्राही, निर्ऋति, अभूति, निर्भूति, पराभूति तथा देवजामयः। इन कारणों के यौगिकार्थ किये हैं। इसी विधि से इन द्वारा जनित स्वप्न सुस्वप्न हो सकता है। इन के अर्थ भाष्यकारों ने निम्न प्रकार भी किये हैं। यथा ग्राही=पकड़ या भूतावेश निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति; अभूति=असफलता; निर्भूति=विनाश; पराभूति=आपत्ति, दुर्भाग्य, संकट; देवजामयः=देवों की पत्नियां। ग्राही आदि ५ शब्दों के इन अर्थों में स्वप्न दुःखदायक और दुःष्वप्नों के उत्पादक ही हो सकते हैं, दुःष्वप्नों और दुष्परिणामों से रक्षा करने वाले नहीं हो सकते। "देवों की पत्नियों" का सम्बन्ध स्वप्नों के साथ कैसा है,—यह नितान्त समझ नहीं पड़ता। देवजामीनाम् का किया हमारा अर्थ बुद्धि के अनुकूल है]

सूक्त ६

(प्राजापत्यम्) दुःष्वप्ननाशनदेवत्यम् ।

४०२. अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥१॥

(अद्य) आज (वयम्) हम ने दुःष्वप्नों और उन के दुष्परिणामों पर (अजैष्म) विजय पाली है, (अद्य) आज (असनाम) हम सुस्वप्नों के भागी बने हैं, और (अनागसः) निष्पाप (अभूम) हो गये हैं।

[असनाम=षण (सन) संभक्तौ। सूक्त ५ में "स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि" द्वारा सुस्वप्न से अभ्यर्थना की गई है कि वह दुष्वप्न्य से हमारी रक्षा करे। सूक्त ६ में प्रथम मन्त्र द्वारा दुष्वप्न्य पर विजय पा लेने की घोषणा की गई है।

४०३. उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥२॥

(उषः) हे उषा ! (यस्मात्, दुष्वप्न्यात्) जिस दुःष्वप्न के दुष्परिणाम से (अभैष्म) हम भयभीत हुए थे (तद्) वह (अप उच्छतु) हम से दूर हो जाय।

[सूक्त ६, मन्त्र ९ में "जाग्रद्-दुष्वप्न्यं स्वप्ने-दुष्वप्न्यम्" द्वारा जागरितावस्था तथा स्वप्नावस्था के दुष्वप्न्यों का वर्णन हुआ है। जागरितावस्था के दुष्वप्न्य हैं, —कुविचार, द्वेषभावना, अशिवसंकल्प आदि। उषः-काल के होते निद्राकाल की स्वप्नावस्था के दुष्वप्न्यों का दूरीकरण तो हो जाता है, परन्तु जाग्रद्-दुष्वप्न्यों का विनाश नहीं होता, अपितु जाग्रद्-दुष्वप्न्यों का प्रारम्भ हो जाता है। अतः जाग्रत्-दुष्वप्न्यों से छुटकारा पाने के लिये आध्यात्मिक उषः-काल की उपस्थिति भी चाहिए। इस लिये मन्त्र २ में "उषः" द्वारा प्राकृतिक और आध्यात्मिक दोनों[२] प्रकार के उषःकाल अपेक्षित हैं। योगाभ्यास द्वारा चित्तगत रजोगुण और तमोगुण के क्षीण होने पर, जब चित्त सत्त्वगुण प्रधान होता है, तब जो आध्यात्मिक प्रकाश प्रकट होता है वह आध्यात्मिक उषा है। इस के प्रकट होते जाग्रद्-दुःष्वप्न्य भी दूर हो जाते हैं, और निद्राजन्य भी]

---

२. वस्तुतः आध्यात्मिक उषः-काल की उपस्थिति में निद्राजन्य दुष्वप्न्य भी नहीं होने पाते।

४०४. द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥३॥

हे प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक उषा ! (तद्) उस दुःष्वप्न्य को, (द्विषते) द्वेषभावना सम्पन्न व्यक्ति के प्रति, (परा वह) प्राप्त करा, (तत्) उसे (शपते) शाप देने के स्वभाव वाले व्यक्ति के प्रति, (परावह) प्राप्त करा ।

[अभिप्राय यह कि जिन व्यक्तियों के चित्त द्वेष भावनाओं द्वारा कलुषित हैं, तथा जो क्रोध के कारण शाप देने के स्वभाव वाले हैं,—दुष्वप्न्य उन पर निज प्रभाव प्रदर्शित करता है, सात्विक भावनाओं वालों पर नहीं]

४०५. यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥४॥

(यत्) जो दुष्वप्न्य अर्थात् दुःष्वप्न का दृश्य (नः) हम प्रजाजनों के प्रति (द्वेष्टि) द्वेष करता है, हमें कष्ट देता है, (च) और इस कारण (यम्=यत्) जिस दुष्वप्न्य को (द्विष्मः) हम अप्रिय जानते हैं, (एनद्) इस दुष्वप्न्य को (तस्मै) उस के लिये अर्थात् द्वेषभावना सम्पन्न तथा शाप देने के स्वभाव वाले व्यक्ति के प्रति ही (गमयामः) हम प्रेषित करते हैं ।

[द्विष्मः=द्विष् अप्रीतौ, प्रेम का अभाव । द्वेषभावना वालों और क्रोधादि से सम्पन्न व्यक्तियों को दुष्वप्न्य होते हैं, यह स्वाभाविक तथ्य हैं । "गमयामः" पद का प्रयोग आलङ्कारिक है]

४०६. उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥५॥

४०७. उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥६॥

(देवी) प्रकाशमयी (उषा) उषा, (वाचा) वाणी के साथ (संविदाना) सामञ्जस्य को प्राप्त हुई; तथा (देवी) दिव्यगुणों वाली (वाग्) वाणी (उषसा) उषा के साथ (संविदाना) सामञ्जस्य को प्राप्त हुई,—॥५॥

(उषस्पतिः) उषा का पति, (वाचस्पतिना) वाणी के पति के साथ (संविदानः) सामञ्जस्य को प्राप्त हुआ; तथा (वाचस्पतिः) वाणी का पति, (उषस्पतिना) उषा के पति के साथ (संविदानः) सामञ्जस्य को प्राप्त हुआ,—॥६॥:—मन्त्र ७,८ के साथ अन्वय ।

[देवी उषा=प्रकाशमयी प्राकृतिक और आध्यात्मिक उषा । देवी वाक्=स्तुति प्रार्थना की दिव्य वाणी । उषस्पतिः=प्राकृतिक उषा का पति सूर्य, तथा आध्यात्मिक उषा का पति परमेश्वर । वाचस्पतिः=स्तुति प्रार्थना की वाणी का पति उपासक । अभिप्राय यह है कि प्रातःकाल सूर्य द्वारा प्रकटित उषा काल में, तथा प्रातःकाल परमेश्वर की कृपा द्वारा प्रकटित आध्यात्मिक उषा काल में जब परमेश्वर और उपासक में परस्पर सामञ्जस्य[1] हो जाता है,—उस का परिणाम होता है:—

४०८. ते३ऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥७॥

४०९. कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान् ॥८॥

(ते) वे [५, ६ मन्त्रों में उक्त तत्त्व] परस्पर मिलकर, (अमुष्मै) उस द्वेष भावना वाले और क्रोधी शाप देने वाले के प्रति (परा वहन्तु) प्राप्त कराएं या प्राप्त कराते हैं (अरायान्) अदान अर्थात् कंजूसी के भावों को, (दुर्णाम्नः) दुष्परिणामी (सदान्वाः) सदा रोने-चिल्लाने के शब्दों के कराने वाली दुष्प्रवृत्तियों को ॥७॥:—

[अरायान्=अ+रा (दाने) अदानभाव । सदान्वाः, यथा "सदान्वे" सदा नोनुवे शब्दकारिके (निरु० ६।६।३०)]

(कुम्भीकाः) कुत्सित और भयकारक दुर्वासनाओं को, (दूषिकाः) दूषित करने वाली भावनाओं को, (पीयकान्) तथा हिंसकर्मों को ॥८॥:=
[पीयकान्+पीयति हिंसाकर्मा (निरु० ४।४।२५)]

४१०. जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्ने दुष्वप्न्यम् ॥९॥

---

१. सामञ्जस्य अर्थात् अभिप्रायों की समानता, दोनों अर्थात् परमेश्वर और उपासक का दण्ड विधान में एक विचार सहमति । मन्त्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि दण्ड विधाता राजवर्ग परमेश्वर विहित नियमों के अनुसार ही दण्ड देने का निर्णय करें । तथा ऐसा निर्णय का अधिकार भी देवकोटि के अधिकारियों को ही देना चाहिये, अदेवों को नहीं । अदेव-अधिकारी लोभ, क्रोध, वैमनस्य आदि से प्रेरित हो कर अनुचित दण्ड भी दे सकते हैं, (सूक्त ७, मन्त्र २ में "देवानाम्" पद का यह अभिप्राय है) ।

४११. अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ।१०।

तथा [मन्त्र ५,६ में उक्त उषा, उषस्पति आदि] (परा वहन्तु) उसे प्राप्त कराएं या प्राप्त कराते हैं। जाग्रद्[1] दुष्वप्न्यम्) जागते समय में भी दुष्वप्न्य को और (स्वप्ने' दुष्वप्न्यम्) सोते समय में भी दुष्वप्न्य को ॥६॥:—

तथा (अनागमिष्यत:) न पूर्ण होने वाली (वरान्) आकाङ्क्षाओं को (अवित्तेः) वित्तनाश के (संकल्पान्) संकल्प-विकल्पों को, तथा (अमुच्याः) न छूटने वाली (द्रुहः) द्रोह भावनाओं के (पाशान्) फंदों को ॥१०॥

[द्वेष भावना वाले और क्रोधी शाप देनेवाले की,—जागते तथा सोते,—मानसिक वृत्तियों का चित्रण, मन्त्र ७ से १० तक में किया गया है]

४१२. तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥११॥

(अग्ने) हे सर्वशक्तियों में अग्रणी परमेश्वर ! (देवा:) आप के न्यायकारी दिव्य नियम (अमुष्मै) उस द्वेषी तथा शाप देने वाले के प्रति (तत्) उस दुष्वप्न्य को (परावहन्तु) प्राप्त कराएं या प्राप्त कराते हैं, (यथा) जिस से कि वह (न साधुः) असाधुः मनुष्य (वध्रिः) नपुंसक के सदृश (असद्) हो जाए या हो जाता है, (विथुर:) और व्यथाओं को प्राप्त हों, या हो जाता है।

[मन्त्र में शिवसंकल्पी श्रेष्ठ मनुष्य, परमेश्वर से अभ्यर्थना करते हैं कि निजकुकर्मों के कारण जो असाधु मनुष्य, जागते तथा सोते, दूसरों के लिये दुष्वप्न्य लेता रहता है, उसे आप के दिव्य नियम, अश्रेष्ठ कामों के करने में नपुंसक का सा कर दें, और निज कर्मों के फल में उसे व्यथाएं प्राप्त कराएं, ताकि इन दण्डों को भोगने से वह सन्मार्गी हो जाय। वस्तुत: परमेश्वर के दिव्य नियम, मनुष्य को दिव्य बनाने के लिये, स्वत: असन्मार्गी को दण्ड दे कर सन्मार्ग पर लाते रहते हैं]

---

१. तथा देखो (१६।७।१०) में "यद् जाग्रद्, यत् सुप्त:" "यद् दिवा,यन्नक्तम्"।

सूक्त ७

प्राजापत्यम्। स्वप्ननाशन देवत्यम्

४१३. तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निभूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥१॥

(तेन) इस लिये (एनम्) इस द्वेष्टा और शप्ता (सू० ६। मन्त्र ३) को (आ विध्यामि) मैं परमेश्वर या राजा वींधता हूं, (अभूत्या) सम्पत्ति प्राप्त न होने देने द्वारा (एनम्) इसको (आ विध्यामि) मैं वींधता हूं, (निभूत्या) प्राप्त हुई सम्पत्ति के निराकरण द्वारा (एनम्) इसे (आ विध्यामि) मैं वींधता हूं, (पराभूत्या) पराभव अर्थात् पराजय तथा अपमान द्वारा (एनम्) इसे (आ विध्यामि) मैं वींधता हूं, (ग्राह्या:) इसको शक्तियों को जकड़ देने द्वारा (एनम्) इसे (आ विध्यामि) मैं वींधता हूं, (तमसा) तमोगुण के कारण या काल कोठरी द्वारा (एनम्) इसे (आ विध्यामि) मैं वींधता हूं।

[प्रकरण के अनुसार द्वेष्टा तथा शप्ता (सू० ६। मन्त्र ३,४) मन्त्र में दण्डों का विधान किया गया प्रतीत होता है। द्वेष करना तथा शाप देना तामसिक मनोवृत्तियों के कारण होता हैं, और ऐसी मनोवृत्तियों वालों को ही दुष्वप्न्य हुआ करते हैं। इस सच्चाई के दर्शाने के लिये दुष्वप्न्य प्रकरण में दुष्वप्न्य के कारणभूत द्वेष और शाप का वर्णन हुआ है। द्वेष और शाप का कथन केवल दृष्टान्त रूप में हुआ है। वध, चोरी, डकैती आदि तामसिक कर्मों का वर्णन भी यहां समझ लेना चाहिये। तभी मन्त्र की समाप्ति पर "तमसा" शब्द का प्रयोग हुआ है। मन्त्र में "आ विध्यामि" द्वारा परमेश्वर तथा राजा दोनों अभिप्रेत हैं। परमेश्वर तो व्यक्ति के कर्मों के अनुसार अपने ढंग से दण्ड प्रदान करता है, और राजा साक्षात् विधि से दण्ड प्रदाता होता है। केवल द्वेष और शाप के लिये अभूति आदि दण्ड कठोर अवश्य प्रतीत होते हैं। वेद में नैतिक जीवन का अत्युच्च आदर्श माना है। नैतिक जीवन अल्पापराध को भी वेदों में क्षमा की दृष्टि से नहीं देखा। कठोर दण्ड से ही नैतिक जीवन को पवित्र बनाया जा सकता है, अन्यथा प्रजा के जीवन में भ्रष्टाचार अधिकाधिक फैलता जाता है। झूठ बोलने तक को वेद ने बड़ा अपराध माना है,

और इस लिये अनृतवक्ता के लिये भी कठोर दण्ड का विधान किया है। यथा "शतेन पाशैरभि धेहि वरुण मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरंश्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥(अथर्व० ४।१६।७) ॥ सूक्त ५ में भी अभूति आदि का वर्णन हुआ है, परन्तु वहां दण्ड विधान के रूप में वर्णन नहीं हुआ, क्योंकि सूक्त ५ में सात्विक स्वप्न का कथन हुआ है, जोकि दुष्वप्न्य का विनाशक है]

४१४. देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥२॥

(एनम्) इस द्वेष्टा और शप्ता आदि को, (देवानाम्) देवों की (घोरैः[1]) घातक तथा (क्रूरैः[1]) छेदने वाली (प्रैषैः) आज्ञाओं द्वारा (अभि प्रेष्यामि) मैं सन्मार्ग के लिये प्रेरित करता हूं।

[घोरैः=हन्तेरच् घुर् च (उणा० ५।६४)। क्रूरैः=कृत् छेदने "कृतेश्छः क्रूच" (उणा० २।२१)। देवानाम्=दिव्य राज्याधिकारियों की न कि अदिव्यों की आज्ञाएं। प्रैषै=प्रैष An order command(आप्टे)। अभिप्रेष्यामि=अभि+प्र इष् (गतौ) प्रेरित करता हूं। अथवा देवों की आज्ञाओं के साथ, इस द्वेष्टा, शप्ता के सुधार के लिये मैं राजा, इन के प्रति राजपुरुषों को भेजता[2] हूं]

४१५. वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥३॥

(एनम्) इस द्वेष्टा-शप्ता आदि को, (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों के हितकारी राजा के (दंष्ट्रयोः[3]) दंष्ट्राओं के समान पीस देने वाले उग्र नियमों में (अपि दधामि) भी मैं स्थापित करता हूं। अपिदधामि=अथवा बन्द करता हूं कारागार में।

१. मनुस्मृति ७।२४ में "यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा" द्वारा राजदण्ड को "कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र" कह कर इसे भयङ्कर सूचित किया है। मन्त्र में राजदण्ड के प्रैषों को इसी भावना में घोरैः और क्रूरैः शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है।

२. इस अर्थ में "एनम्. अभि; प्रेष्यामि,—ऐसा अन्वय जानना चाहिये। एनमभि=इस द्वेष्टा तथा शप्ता के प्रति या ओर, राजपुरुषों (Police) को भेजता हूं।

३. दंष्ट्रयोः=अथवा पोलिस (राजपुरुष) और सेना,—ये दोनों राजदंष्ट्राएं हैं।

[वैश्वानरस्य=राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के नर-नारियों के हित के लिये कानून बनाए, और कानून के अनुसार नैतिक भ्रष्टाचारों को दण्डित करे। ये कानून सिंह की दंष्ट्राओं के समान भ्रष्टाचारों के लिये घोर और क्रूर होने चाहियें। (अपि दधामि) अपिधान=पिधान=बन्द कर देना। मन्त्र में राजा के न्यायाधीश की उक्ति प्रतीत होती है। दंष्ट्रयोः में द्विवचन है। अभिप्राय है नियम और व्यवस्था, Law and Order]

४१६. एवानेवाव सा गरत् ॥४॥

(एव=एवम्) इस उपर्युक्त कठोर विधि द्वारा, (अनेव=अन्+एव=अन्+एवम्) या इस से भिन्न विधि द्वारा, (सा) वह राजदंष्ट्रा[1] (अवगरत्) अपराधी को मानो पीस कर निगल जाय।

४१७. योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥५॥

अथवा (यः) जो द्वेष्टा और शप्ता आदि (अस्मान्) हम प्रजाजनों के साथ (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उस के साथ (आत्मा) उस की निज आत्मा (द्वेष्टु) द्वेष करने लगे, और (यम्) जिस प्रजाद्वेष्टा के साथ (वयम्) हम प्रजाजन (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (सः) वह (आत्मानम्) अपने-आप के साथ (द्वेष्टु) स्वयं द्वेष करने लगे।

मन्त्र ४ में "अनेव" द्वारा कठोर-विधि से भिन्न-विधि का निर्देश किया है, अपराधी को अपराध से हटाने के लिये। यह शिक्षा की विधि है। अपराधी को बन्दीकृत कर, उस की नैतिक तथा आत्मिक-शिक्षा के द्वारा उस की आत्मा को जागरित कर पवित्र करना चाहिये, ताकि द्वेष्टा को आत्मा द्वेष्टा के साथ स्वयं द्वेष करने लगे, और द्वेष्टा का सुधार इस विधि से हो जाय। या शिक्षा के कारण द्वेष्टा यह समझने लग जाये कि प्रजाजनों का बहुपक्ष जिस कर्म को बुरा समझता है उस कर्म का त्याग वह स्वयं कर दे, अर्थात् उस कर्म को घृणित जान कर वह उसे अपने-आप त्याग दे। यह शिक्षा विधि भी दंष्ट्रारूप है। क्योंकि यह विधि अपराधी के अपराध को तो पीस देती है, परन्तु उस के व्यक्तित्व को नहीं पीसती।

१. दंष्ट्रा में एक वचन द्वारा केवल राजदण्ड का वर्णन हुआ है।

४१८. निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥६॥

अथवा (द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले को (दिवः) द्युलोक के ताप-प्रकाश से (निर् भजाम) हम प्रजाजन भागरहित कर देते हैं, (पृथिव्याः) राष्ट्र की भूमि में स्वच्छन्द विचरने से (निः—) हम भाग रहित कर देते हैं, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष की खुली और स्वच्छ वायु के सेवन से (निः—) हम भाग रहित कर देते हैं।

[अपराधी को दण्ड देने की यह भी विधि है कि उसे बन्दीकृत कर के उपर्युक्त अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाय। मन्त्र में "भजाम" पद बहुवचन में है। इस द्वारा प्रजाजनों के बहुमत को सूचित किया है—अपराधी को अपराधानुसार दण्ड की व्यवस्था में। राजसभाओं को नियमों के निर्माण में प्रजाजनों के बहुमत की स्वीकृति, साक्षात् या प्रतिनिधियों द्वारा, होनी आवश्यक है]

४१९. सुयामंश्चाक्षुष ॥७॥

(सुयामन्) हे उत्तम नियन्ता ! तथा (चाक्षुष) आभ्यान्तर चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष हुए परमेश्वर !

४२०. इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥८॥

(अहम्) मैं राजा या न्यायधीश (आमुष्यायणे) अमुकगोत्र और अमुक पिता के, तथा (अमुष्याः) उस माता के (पुत्रे) पुत्र में वर्तमान (इदम्, दुष्वप्न्यम्) इस दुष्वप्न्य को (मृजे) दण्ड विधान की परिमार्जन विधि[1] द्वारा परिमार्जित करता हूं।

[राजा या न्यायाधीश जब किसी अपराधी को दण्ड देने लगे तो वह सुनियन्ता तथा सर्वद्रष्टा परमेश्वर का ध्यान कर दण्ड की व्यवस्था करे, पक्षपात या बदला लेने आदि कारणों से प्रेरित होकर दण्ड की व्यवस्था न करे। तथा दण्ड की व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये अपराधी की शुद्धि। दुष्वप्न्य दो प्रकार के होते हैं,—जाग्रद् दुष्वप्न्य तथा स्वप्ने दुष्वप्न्यम् (सूक्त ६, मन्त्र ६)। 'जाग्रद् दुष्वप्न्य' है जाग्रद् अवस्था में किये गए द्वेष आदि के कुविचार, कुसंकल्प। राजव्यवस्था जाग्रद्

---

१. यह प्रायश्चित तथा व्रत विधान आदि की विधि है।

दुष्वप्न्य को नियन्त्रित करती है। इस द्वारा जब व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं तो स्वप्नावस्था के दुष्वप्न्य भी उन के धुलने लग जाते हैं। अपराधी के पहिचान के लिये उस के गोत्र (जात), पिता, तथा माता का नाम साथ होना चाहिये। वर्तमान में परिचय के लिये माता का नाम आवश्यक नहीं समझा जाता। माता का नाम साथ होने का वैदिक विधान, माता की वैदिक सामाजिक स्थिति का सूचक है].

४२१. यददो अदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥९॥

४२२. यज्जाग्रद् यत्सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥१०॥

४२३. यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥११॥

४२४. तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥१२॥

४२५. स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥१३॥

(अदः अदः) उस-उस काल में (यद्) जिस दुष्वप्न्य को (अभ्यगच्छन्) पूर्वज प्राप्त हुए हैं, और (यद्) जिस दुष्वप्न्य को (दोषा) प्रारम्भिक रात्रि में, (यत्) जिसे (पूर्वाम्, रात्रिम्) प्रातःकाल से पूर्वकाल की रात्रि में ॥९॥

(यत्) जिसे (जाग्रत्) जागता हुआ, (यत्) जिसे (सुप्तः) सोया हुआ, (यत्) जिसे (दिवा) दिन में, (यत्) जिसे (नक्तम्) अभिव्यक्ति रहित गाढ़ रात्रि में ॥१०॥ (यद्) जिसे (अहः अहः) दिन प्रतिदिन (अभि गच्छामि) मैं प्राप्त होता रहता हूं (तस्मात्) उस दुष्वप्न्य से (एनम्) इस अपने-आप को (अवदये) मैं छुड़ाता हूं, या मार्जन विधि द्वारा [मन्त्र ८] अपने-आप को सुरक्षित करता हूं ॥११॥

[हे मेरे पुत्र, मन्त्र ८] (तम्) उस दुःष्वप्न्य को तू भी (जहि) मार डाल, (तेन) और उस हनन द्वारा (मन्दस्व, मोद-प्रमोद तथा हर्ष को प्राप्त हो, (तस्य) उस दुःष्वप्न की (पृष्टीः) पृष्ठभूमि को (अपि) भी (शृणीहि) शीर्ण कर दे ॥१२॥

(सः) वह दुःष्वप्न्य (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, न पुनः प्राण धारण कर सके, (तम्) उसे (प्राणः) उस का प्राण (जहातु) परित्यक्त कर दे ॥१३॥

[मन्त्रों में दुष्वप्न्य की पौर्वकालिक विद्यमानता का वर्णन कर, उस के उद्भव कालों का वर्णन हुआ है; व्यक्ति अपने-आप को उस दुष्वप्न्य को छोड़ने और उससे अपने-आप को सुरक्षित करने का दृढ़ संकल्प करता है, और अपने पुत्र को निज दुःस्वप्नों की समाप्ति द्वारा सुखी और प्रसन्न रहने के लिए प्रेरित करता है । दुःस्वप्नों के विनाश से दुष्वप्न्य अर्थात् दुःस्वप्नों के दुष्परिणाम स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं । दुःस्वप्नों की पृष्ठभूमि है कुविचार तथा अशिवसंकल्प आदि । इसी पृष्ठभूमि से दुः-ष्वप्न उपजते हैं । अव दये=दय्=दान गति, रक्षण, हिंसा, आदान । जहि= मन्त्रों में आनुवंशिक दुष्वप्न्य का वर्णन प्रतीत होता है, अतः "जहि" द्वारा पिता का कथन पुत्र के प्रति सम्भावित है। 'यद् जाग्रद् यद् दिवा' द्वारा जाग्रद दुष्वप्न्य का भी वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है (१६।२६।६)]

—:०:—

सूक्त ८

प्राजापत्यम् । दुःस्वप्ननाशन देवत्यम्

यह सूक्त, परराष्ट्र को आत्माधीन करने की चाहना वाले शत्रु राष्ट्र के दुःस्वप्नों के नाश परक है । परराष्ट्र को अपने अधीन करने की इच्छा और संकल्प को दुःस्वप्न कहा है । ऐसा दुःस्वप्न सोए हुए नहीं होता, अपितु दिन के समय जाग्रत् अवस्था में होता है,जिस में कि पर राष्ट्र और स्वराष्ट्र के बलाबल पर मन्त्रियों तथा सेनाधिपतियों के साथ मिल कर कूट मन्त्रणा करनी होती है । ऐसे दुःस्वप्नों को "जाग्रद् दुष्वप्न्यम्" (१६।६।६), तथा "यज्जाग्रद्, यद् दिवा" (१६।७।१०) द्वारा सूचित किया गया है । ऐसे दुःस्वप्न जागरित अवस्था में तथा दिन में हुआ करते हैं। इन कुविचारों वाले शत्रु राष्ट्र पर विजय पा कर, उस शत्रु राष्ट्र के मुखियों को कैसा कैसा दण्ड देना चाहिये,—इस का वर्णन वर्तमान सूक्त ८ में किया गया है ।

४२६. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मा-स्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥१॥

(जितम्) जीत (अस्माकम्) हमारी हुई है, (उद्भिन्नम्) शत्रुदल का उद्भेदन (अस्माकम्) हम ने किया है, (ऋतम्) सत्यपक्ष (अस्माकम्) हमारा सिद्ध हुआ है, (तेजः) क्षात्रतेज (अस्माकम्) हमारा चमका है, (ब्रह्म) परमेश्वर ने (अस्माकम्) हमारा साथ दिया है, (स्वः) सांसारिक सुख (अस्माकम्) हमें प्राप्त हुआ है, (यज्ञः) यज्ञकर्म (अस्माकम्) हमारे सफल हुए हैं, (पशवः) पशुसम्पत् (अस्माकम्) हमारी सुरक्षित रही है, (प्रजाः) प्रजाएं (अस्माकम्) हमारी सुरक्षित रही हैं, (वीराः अस्माकम्) हमारे सैनिक वीर सिद्ध हैं ।

[जितम्=जि (जये)+क्त (भावे) । उद्भिन्नम्=उद्+भिद्+क्त (भावे)]

अथवा

(जितम्) जो हम ने जीता है (अस्माकम्) हमारा हो गया है, (उद्भिन्नम्) पृथिवी का उद्भेदन कर के जो उत्पन्न हुआ है वन-उपवन, ओषधियां आदि (अस्माकम्) हमारी हो गई हैं, (ऋतम्) उन की धनसम्पत् (अस्माकम्) हमारी हो गई है, (तेजः) उन का जल विभाग नदी आदि (अस्माकम्) हमारे हो गए हैं, (ब्रह्म) उन के अन्नादि (अस्माकम्) हमारे हो गये हैं, (स्वः) उन की सांसारिक सुखसामग्री (अस्माकम्) हमारी हो गई है, (यज्ञः) उन के यज्ञकर्म (अस्माकम्) हमारे अधीन हो गये हैं, (पशवः) उन के पशु (अस्माकम्) हमारे हो गये हैं, (प्रजाः) उन की प्रजाएं (अस्माकम्) हमारे अधीन हो गई हैं, (वीराः) उन के सैनिक (अस्माकम्) हमारे अधीन हो गये हैं ।

[उद्भिन्न=उद्भिज्ज=वनस्पति आदि । ऋतम्=धननाम (निघं० २।१०) । तेजः=उदकनाम (निघं० १।१२) । ब्रह्म=अन्ननाम (निघं० २।७)]

४२७. तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥२॥

(तस्मात्) उस विजित राष्ट्र[1] से या उस की उस सम्पत्ति से,

---

१. Expatriation, देश निकाला । उसे उस के निज देश से निकाल देना, पृथक् कर देना ।

(अमुम्, अमुम्) उस उस व्यक्ति को अर्थात् (आमुष्यायणम्) उस-उस कुल या गोत्र के (अमुष्याः) तथा उस-उस माता के (पुत्रम्) पुत्र को (निर्भजामः) हम भाग¹ रहित कर देते हैं, (असौ यः) वह जो है:—

४२८. स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥३॥

(सः) वह (ग्राह्याः) जकड़ने के (पाशात्) फन्दे से (मा) न (मोचि) मुक्त हो,—

४२९. तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥४॥

(तस्य) उस के (इदम्) इस (वर्चः) दीप्ति को, (तेजः) तेज को, (प्राणम्) प्राण या जीवनीय अन्न को, (आयुः) आयु को (नि वेष्टयामि) कारागार के घेरे में घेर देता हूं, (इदम्) अब (अधराञ्चम्, एनम्) इस नीचगति वाले को (पादयामि) निज पादतले करता हूं।

[विजयी राजा पराजित राष्ट्र के मुख्य-मुख्य अधिकारियों के लिये दण्ड विधान करता है:—

१. पराजित राजा की राष्ट्र सम्पत्तियों पर स्वाधिकार करना, २. पराजित राज्य के अधिकारियों को उन के निज देशनिवास से वञ्चित कर देना; ३. पाशों अर्थात् हथकड़ी आदि फन्दों में जकड़ देना; ४. पाशों अर्थात् हथकड़ी आदि फन्दों में जकड़ देना; ४. उन की शान आदि को कम कर देना, अर्थात् उनका साधारण रहन-सहन कर देना; ५. उन्हें जेल में रखना; ६. उन के खान-पान में नियन्त्रण; ७. कइयों को आयु भर जेल में रखना; ८. उन्हें अपने पैरों तले बिठाना, अर्थात् अपने समक्ष उच्चासन न देना।

तेजः=martial or heroic lustre; majestic lustre (आप्टे) वेष्टयामि, वेष्टन=To surround, enclose, Fencing (आप्टे)। प्राणम्=अन्नं वै प्राणिनां प्राणः। कैदियों के अन्न पर विशेष निगरानी चाहिये, ताकि वे अवाञ्छित अन्न का ग्रहण न कर सकें। वर्चः, तेजः= हाथी में वर्चस् होता है, और शेर में तेजस्]

१. Expatriation; देश निकाला। उसे उस के निज देश से निकाल देना, पृथक कर देना।

४३०. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं¹ तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

यस्मादमुं निर्भजामोऽमुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि।

(सः) वह (निर्ऋत्याः) खुशी और प्रसन्नता से अलग रखना रूपी (पशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[निर्ऋति =निरमणात् (निरु० २।२।८)। निर्ऋति=निर्+रम् क्तिन्=निर्+र् (ऋ, सम्प्रसारण)+ति=निर्ऋति, अर्थात् रमण से वञ्चित रखना, कैदी को प्रसन्नता और खुशी देनेवाली वस्तुओं का प्रयोग न करने देना, कैदो के लिये एक प्रकार से कृच्छ्रापत्ति ही है। निर्ऋतिः= कृच्छ्रापत्तिः २।२।८)]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥५॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४३१. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मा-स्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

१. सूक्त ८ वें के प्रारम्भ के तथा समाप्ति के चार-चार मन्त्रों के अतिरिक्त, शेष १०० मन्त्रों के परम्परागत पद्धति के अनुसार २५ चतुष्कों में बांटा है। मैंने सुविधा के लिए २५ चतुष्कों को १०० मन्त्रों के रूप में व्याख्यात किया है। परन्तु परम्परा प्राप्त सूक्त की मन्त्र संख्या ३३ ही रखी है। ४+४+२४=३३

तस्मादुमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह (अभूत्याः) अल्प सम्पत्ति के उपभोगरूपी (पाशात्) फंदे से (मोचि मा) मुक्त न हो ।

[अ (अल्प)+भूति (सम्पत्ति=अभूति) । अ=नञ् । नञ्=अल्प, यथा अनुदरा कन्या । भूति=Wealth, Riches, fortune (आप्टे) । अभिप्राय यह कि अमुक व्यक्ति चाहे कितना भी धनी हो, उसे दण्डरूप में अल्प सम्पत्ति के उपभोग की ही स्वीकृति देनी चाहिये]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥६॥ अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)

४३२. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादुमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह (निर्भूत्याः) सम्पत्ति से वञ्चित कर देने रूपी (पाशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[निर्भूत्याः=भूत्याः (सम्पत्ति से)+निर् (निकाल देना, च्युत कर देना)]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥७॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४३३. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादुमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स पराभूत्या पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह (पराभूत्याः) पराभव अर्थात् अपमान के (पाशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[पराजित राष्ट्र के श्रेष्ठ व्यक्तियों को उन की सम्पत्तियों से वञ्चित न करके, उन्हें केवल पराजय की अनुभूति कराने के लिये, नजर-बन्दी में रखने का विधान मन्त्र में हुआ है । नजर-बन्दी में रखने की सूचना क्रमाङ्क मन्त्र ४२९ में "नि वेष्टयामि" द्वारा मिलती है]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥८॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

[नजर-बन्द व्यक्ति की "अधराञ्चम्" अर्थात् अधोगति इतने मात्र में है कि उस की गति स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हो गई]

४३४. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादुमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह (देवजानीनाम्) दिव्यगुणी-विद्वानों की पत्नियों या दिव्य-गुणी विदुषी महिलाओं द्वारा निर्णीत (पाशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[महर्षि दयानन्द के अनुसार महिलाओं की सेनाओं का निर्माण वेद सम्मत है। युद्ध में यदि निज महिला सैनिक पर शत्रु सैनिक ने अनाचार का व्यवहार किया है, तो उसे उस दण्ड में दण्डित करना चाहिये जिसे कि विजयी राष्ट्र की विदुषी महिलाओं का न्यायालय निश्चित करे]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥९॥

अर्थ पूर्ववत (मन्त्र ४)।

४३५. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि।

(सः) वह (बृहस्पतेः) बृहत्-सैन्य विभाग के पति अर्थात् प्रधान सेनापति के (पाशात्) दण्ड विधान रूपी फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[बृहस्पतिः=बृहतः पाता वा पालयिता वा (निरु० १०।१।१२)। बृहस्पति के सम्बन्ध में अथर्ववेद का अधोलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालता है—

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अप बाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्॥
का० १९। सू० १३। मं० ८॥

इस मन्त्र में कहा है कि हे बृहस्पति! तू रथ द्वारा शत्रु का पूर्णक्षय

कर, आदि। रथ द्वारा का अभिप्राय है "रथारोही योद्धाओं द्वारा"। परि+दीय (दीङ् क्षये)। मन्त्र का यह अभिप्राय है कि विजयी बृहस्पति, निज सैनिक नियमों के अनुसार, पराजित सेनापति आदि को यथोचित दण्ड दे]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१०॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४३६. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि।

(सः) वह (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति अर्थात् राजा के सम्बन्धी दण्ड विधान रूपी (पाशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[प्रजापतेः=प्रजापति का अभिप्राय है, राजा। यथा "सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने" (अथर्व० ७।१२।१)। विजयी राष्ट्र में, पराजित परराष्ट्र के राजा के साथ व्यवहार करने के जो नियम निर्धारित हैं, तदनुसार पराजित राजा को दण्ड देने का विधान मन्त्र में हुआ है]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥११॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४३७. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मा॒दमुं निर्भ॑जामो॒मुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स ऋषी॑णां पाशा॒न्मा मौ॑चि ।

(सः) वह (ऋषीणाम्) ऋषियों के (पाशात्) फंदे से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[पराजित राज्य के सन्त-महात्माओं ने यदि युद्ध में सहयोग प्रदान किया है, तो उन्हें भी बन्दी कर के, उन्हें विजयी राष्ट्र के ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग से दण्डित करना चाहिये। ऋषियों के सम्बन्ध में कहा है कि "घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्" (अथर्व० २।३६।४)। अर्थात् ऋषि घोर होते हैं, नियमों के पालन करने और कराने में कठोर और सुदृढ़ होते हैं, और इन की जो मानसिक-दृष्टि अर्थात् विचार होता है, वह सत्य होता है। यह ही ऋषियों का पाश है। इस पाश में बांध कर उन सन्त-महात्माओं को सत्यमार्ग पर लाना चाहिये, ताकि पुनः वे पक्षपात में आ कर युद्धों में सहयोग न दिया करें]

तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥१२॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४३८. जि॒तम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माकं॒ तेजो॒स्माकं॒ ब्रह्मास्माकं॒ स्व॒१॒॑र॒स्माकं॑ य॒ज्ञो॒३॒॑स्माकं॑ प॒शवो॒स्माकं॑ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मा॒दमुंनिर्भ॑जामो॒मुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स आ॑र्षे॒याणां॑ पाशा॒न्मा मौ॑चि ।

(सः) वह अपराधी (आर्षेयाणाम्) ऋषि परम्परा द्वारा प्रचलित दण्ड विधानों या ऋषियों के सदुपदेशों के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो[1]।

तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥१३॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४३९. जि॒तम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माकं॒ तेजो॒स्माकं॒ ब्रह्मास्माकं॒ स्व॒१॒॑र॒स्माकं॑ य॒ज्ञो॒३॒॑स्माकं॑ प॒शवो॒स्माकं॑ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मा॒दमुं निर्भ॑जामो॒मुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

सोऽङ्गि॑रसां पाशा॒न्मा मौ॑चि ।

(सः) वह अपराधी (अङ्गिरसाम्) अङ्गों, अङ्गी (शरीर), और शारीरिक रसों सम्बन्धी ओषधियों के ज्ञाता वैद्यों के बन्धन से मुक्त न हो।

[इस के अभिप्राय के लिये देखो (मन्त्र ४७)।

तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥१४॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४४०. जि॒तम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माकं॒ तेजो॒स्माकं॒ ब्रह्मा-

१. अभिप्राय यह कि बन्दीकृत महात्माओं को ऋषियों के सदुपदेशों के सुनने और उन का सत्संग करने में बाधित करना चाहिये, ताकि वे ऋषियों की संस्कृति द्वारा संस्कृत हो जाएं।

स्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (आङ्गिरसानाम्) अङ्गिरा वैद्यों की आङ्गिरसी ओषधियों के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[आङ्गिरसानाम्=वेद में चार प्रकार की ओषधियां कही हैं, आथर्वणीः, आङ्गिरसीः, दैवीः, मनुष्य जाः । यथा "आथर्वणी राङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत । ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि" (अथर्व० ११।४।१६); तथा "या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च । ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे" (अथर्व० ८।७।१७) । अतः आङ्गिरसीः ओषधियों से निर्मित प्रयोगों को आङ्गिरस कहा है । युद्धापराधियों को बन्दीकृत कर के आवश्यकता पड़ने पर उन का रोगोपचार विजयी राष्ट्र के परीक्षित वैद्यों द्वारा ही कराना चाहिये, ताकि उन का जीवन खतरे में न पड़े]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१५॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४४१. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

२. इन चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन "अथर्ववेद परिचय" में मैंने विस्तार पूर्वक किया है ।

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (अथर्वणाम्) आथर्वणी ओषधियों के ज्ञाता वैद्यों के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[आथर्वणीः ओषधियां=देखो (मन्त्र ५५) । यह मनोबल चिकित्सा है Hypnotism आदि ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१६॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४४२. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (आथर्वणानाम्) अथर्वा-वैद्यों द्वारा ज्ञात आथर्वणी-ओषधियों के (पाशात्) प्रयोगों के बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

अथर्वा-वैद्य, मुख्य रूप में "मनोबल चिकित्सक" हैं, जोकि हिप्नोटिज्म, हस्तस्पर्श, रोगी को स्वस्थता के आदेश (Suggetion) प्रदान के साथ-साथ, आथर्वणी-ओषधियों का भी प्रयोग कर, रोगोपचार करते हैं । इन अथर्वा-वैद्यों द्वारा, बन्दीकृत अपराधियों के मानस आदि रोगों की चिकित्सा करवानी चाहिये । अथर्वा="अ+थर्वतिः (चरतिकर्मा)"[1]

1. थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरु० ११।२।१६) । तथा अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है ।

अर्थात् जिन के मन या चित्त चलायमान नहीं, अपि तु जो स्थिर चित्त-वृत्तियों वाले हैं, ऐसे वैद्य मनोबल-चिकित्सक होते हैं]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१७॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४४३. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि।

(सः) वह अपराधी (वनस्पतीनाम्) वानस्पतिक-भोजन के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[प्रत्येक युद्धापराधी को बन्दीकृत कर के, उसे वानस्पतिक अर्थात् निरामिष भोजन ही देना चाहिये, चाहे वह मांस भोजी ही क्यों न हो। मांस भोजन वैदिकधर्म के विपरीत है। यथा "पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्" (अथर्व० १९।३१।५), अर्थात् पशुओं का दूध [न कि मांस], तथा ओषधियों का रस [न कि शराब], सर्वतो-महान् उत्पादक परमेश्वर ने मेरे लिये नियत किया[1] है]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१८॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

---

१. तथा वानस्पतिक भोजन स्वास्थ्यकर, सात्त्विक और शान्तप्रकृतिक होता है।

४४४. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि।

(सः) वह अपराधी (वानस्पत्यानाम्) वनस्पतियों के फलों के भोजन के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[भाव (मन्त्र ५९)। वनस्पति और वानस्पत्य का प्रसिद्ध अर्थ निम्न-लिखित श्लोकार्ध में दर्शाया है "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद् वनस्पतिः", अर्थात् पुष्पों के पश्चात् जिन पर फल लगते हैं वे वानस्पत्य हैं, तथा विना पुष्पों के जिन पर फल लगते हैं वे वनस्पति हैं। परन्तु "वनस्पति" का प्रयोग सर्व साधारण वृक्षों तथा सब्जियों के लिये भी होता है।]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥१९॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

[ख]

यहां से बन्दीकृत अपराधी की कालावधि का वर्णन हुआ है। यथा—

४४५. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (ऋतूनाम्) ऋतुओं के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[ऋतूनाम्=युद्धापराधियों को अतिदीर्घकाल तक या मृत्यु तक बन्दीकृत न करना चाहिये, अपितु कतिपय ऋतुओं की कालावधि तक ही उन्हें कारागार में रखना चाहिये। इस काल में उन का सुधार कर उन्हें कारागार से मुक्त कर देना चाहिये]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२०॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४४६. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (आर्तवानाम्) आर्तवकाल के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[आर्तवानाम्=इस का अर्थ अनिश्चित है । अथर्ववेद में "आर्तव" शब्द ऋतुसमूह और ऋत्वंश दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । "ऋतवस्तमबध्नत, आर्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि-रक्षति" (१०।६।१८), में ऋतवः, आर्तवाः, संवत्सरः में उत्तरोत्तर दीर्घकाल प्रतीत होता है । इसी प्रकार "ऋतवः (१५।१६।५), आर्तवाः (१५।१६।६), संवत्सरः (१५।१६।७)" में भी आर्तव काल ऋतुकाल से दीर्घ प्रतीत होता है । अतः आर्तव=ऋतु समूह ।

परन्तु "ऋतवः पक्तारः, आर्तवाः समिन्धते" (११।३।१७) में ऋतवः को पाककर्त्ता तथा आर्तवाः को अग्नि प्रदीप्तकर्त्ता कहा है । पहिले अग्नि प्रदीप्त होती है, तदुत्तरकाल में पाकक्रिया होती है । इस से आर्तवकाल ऋतुकाल से अल्प प्रतीत होता है । अतः आर्तव=ऋत्वंश । आप्टे ने भी "आर्तवः" के दो अर्थ दिये हैं, १. A section; २. or the year.; "A section" द्वारा ऋत्वंश; तथा "The year" द्वारा ऋतुसमूह अर्थ प्रतीत होते हैं]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२१॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४४७. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स मासानां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (मासानाम्)[1] मासों के काल के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२२॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

---

१. मासानाम्, अर्धमासानाम्,—इन प्रयोगों द्वारा, आर्तव (मन्त्र ७१) शब्द ऋतुसमूहार्थक प्रतीत होता है । यदि आर्तव का अर्थ ऋत्वंश ही होता तो मासानाम्, अर्धमासानाम्—के कथन की आवश्यकता न होती ।

४४८. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

सोर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (अर्धमासानाम्)[1] आधे मासों के काल के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२३॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४४६. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

सोहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ॥३॥

(सः) वह अपराधी (अहोरात्रयोः) दो अहोरात्रों के काल के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

---

१. मासानाम्, अर्धमासानाम्—इन प्रयोगों द्वारा, आर्तव (मन्त्र ७६) शब्द ऋतुसमूहार्थक प्रतीत होता है । यदि आर्तव का अर्थ ऋतवः ही होता तो मासानाम्, अर्धमासानाम्—के कथन की आवश्यकता न होती ।

[अहोरात्रयोः=एक अहोरात्र=२४ घण्टे । दो अहोरात्र=४८ घण्टे]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२४॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४५०. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

सोह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (संयतः) मिले हुए (अह्नोः) दिन और रात के काल के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो ।

[अह्नोः=अहः का अर्थ है दिन । परन्तु अहः का अर्थ रात भी है । यथा—"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।६।१) । "अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं च अहः, अर्जुनम्" (निरु० २।६।२१) । अर्थात् अहः (दिन) कृष्ण भी होता है, अर्थात् रात्रि; तथा अहः (दिन) शुक्ल भी होता है, जिसे कि मन्त्र में अर्जुन कहा है । ये दोनों अर्थात् दिन और रात मिल कर पञ्चाङ्ग का एक दिन है=२४ घण्टे]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२५॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

[३]

४५१. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं

स्व॒रि॒स्माकं॑ य॒ज्ञो॒३॑ऽस्माकं॑ प॒शवो॒ऽस्माकं॑ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

स द्यावा॑पृथि॒व्योः पाशा॒न्मा मो॑चि ।

(सः) वह अपराधी (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवी लोक के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[सम्भवतः अभिप्राय यह कि उस के लिये द्युलोक और पृथिवीलोक[1] सुखदायी और कल्याणकारी न हों,—यह ईश्वर से प्रार्थनामात्र ही दण्डरूप है । प्रार्थना से उस के प्रति सद्भावना का अभाव द्योतित किया है।

तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥२६॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४) ।

४५२. जि॒तम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माकं॒ तेजो॒ऽस्माकं॒ ब्रह्मा॒स्माकं॒ स्व॒रि॒स्माकं॑ य॒ज्ञो॒३॑ऽस्माकं॑ प॒शवो॒ऽस्माकं॑ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म्

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २) ।

---

१. जैसे कि प्रिय व्यक्ति के लिए कहा है कि "त्वा"मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।......"शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्तम्" (अथर्व० २।१०।१)। वैसे अपराधी के लिए प्रार्थना की गई है कि वह द्यावापृथिवी के पाश से मुक्त न हो, अर्थात् उस के लिये वे सुखदायक न हों।

स इ॑न्द्रा॒ग्न्योः पाशा॒न्मा मो॑चि ।

(सः) वह अपराधी (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[इन्द्रः=अन्तरिक्ष को विद्युत्, यथा—"वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षः स्थानः" (निरु० ७।२।५); अग्निः=पार्थिवाग्नि । अर्थात् ये दोनों उस अपराधी के लिये सुखदायक न हों,—यह ईश्वर से प्रार्थना है]

तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥२७॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४५३. जि॒तम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माकं॒ तेजो॒ऽस्माकं॒ ब्रह्मा॒स्माकं॒ स्व॒रि॒स्माकं॑ य॒ज्ञो॒३॑ऽस्माकं॑ प॒शवो॒ऽस्माकं॑ प्र॒जा अ॒स्माकं॑ वी॒रा अ॒स्माक॑म् ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स मि॒त्राव॑रु॒णयोः॒ पाशा॒न्मा मो॑चि ।

(सः) वह अपराधी (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण के (पाशात्) बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[मित्रः=सूर्य । वरुणः=वायु । यथा "प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन" (ऋ० ३।५९।२); इस मन्त्र में आदित्य अर्थात् सूर्य को "मित्र" कहा है। तथा "वरुणः वृणोतीति सतः" (निरु० १०।१।३), अर्थात् जो अन्तरिक्ष को घेरे हुए है; वृञ् वरणे । "नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्" (ऋ० ५।८५।३); अर्थात् वरुण, नीचे की ओर द्वार वाले तथा जल को बांधे हुए मेघ को विसर्जित करता है, और द्युलोक और पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्ष को प्रकट करता है। वेदानुसार किसी भी राष्ट्र पर, किसी अन्य राष्ट्र द्वारा आक्रमण, धर्म और नैतिक जीवन के विरुद्ध है। वेद, स्व और अरण [अर्थात् पराए

राष्ट्र] के साथ, संज्ञान अर्थात् समझौते तथा ऐकमत्य में रहने का उपदेश करता है; तथा मनोभावना पूर्वक और विचारपूर्वक संज्ञान में रहते हुए युद्धों में मार-काट के कारण उठे आर्तनादों को अवाञ्छित ठहरता, तथा युद्धकाल के उपस्थित हो जाने पर भी, सेनाध्यक्षों को शस्त्र न उठाने की प्रेरणा करता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नियच्छतम् ॥ (अथर्व० ७।५२।१)।
संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥
(७।५२।२)

१ से ८८ मन्त्रों में, युद्धापराधियों को नानाविध दण्ड देने तथा जेल की सजाएं देने का वर्णन हुआ है। और ९१, ९५, ९९ मन्त्रों में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि आप द्वारा प्रशासित प्राकृतिक शक्तियां, इन नरसंहारी युद्धापराधियों के लिये, कल्याणकारिणी तथा सुख शान्ति देने वाली न हों। इन के लिये प्राकृतिक शक्तियों का कल्याणकारी तथा सुख शान्ति प्रदायक न होना भी– पाशबन्धन है। गरमी, सर्दी, वर्षा प्राकृतिक शक्तियां हैं। अपने अपने ऋतुकाल में ये, किन्हीं के लिये तो कल्याणकारी तथा सुख शान्ति प्रदान करतीं, तथा किन्हीं के लिये दुःखों और कष्टों का कारण बनती हैं। यह सब कुछ कर्मों के ही फल हैं। इसी लिये ये किन्हीं के लिये तो शिव स्वरूप और किन्हीं के लिये पाशरूप हो जाती हैं]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२८॥

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४५४. **जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।**

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ।

अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २)।

स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।

(सः) वह अपराधी (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, वरणीय (राज्ञः) ब्रह्माण्ड के राजा परमेश्वर के (पाशात्) पाश अर्थात बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[मन्त्र ४५३ में मित्र के साथ वरुण का कथन हुआ है, और मन्त्र ४५४ में "राज्ञः, वरुणस्य" का कथन हुआ है। इस लिये दो मन्त्रों में पठित "वरुण" के भिन्न भिन्न अर्थ होने चाहियें। अथर्ववेद ४।१६।१-९ के "द्वौ निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः" (मन्त्र २) में, तथा "उतेयं भूमिः वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे-अन्ता" (मन्त्र ३) में, तथा "न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः (मन्त्र ४) में, तथा "सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे (मन्त्र ५) में राजा-वरुण का वर्णन हुआ है, जो कि परमेश्वर है। अथर्व० सूक्त ४।१६ के ४, ६, ७ मन्त्रों में राजा-वरुण के पाशों का वर्णन हुआ है। इन पाशों के सम्बन्ध में कहा है कि ये पाश "दिव्य-स्पश" अर्थात् दिव्य गुप्तचर हैं, जो कि सहस्राक्ष हैं, भूमि को दूर तक देख रहे हैं (मन्त्र ४); तथा वरुण के पाश अनृतवादी को तो छिन्न-भिन्न करते हैं, और सत्यवादी को छिन्न-भिन्न नहीं करते (मन्त्र ६); तथा हे वरुण ! तू संकड़ों पाशों द्वारा इन अनृतवादी को बान्ध, अनृतवादी तेरे पाशों से छूटा न रहे (मन्त्र ७)। परराष्ट्र को पराधीन करने तथा उस की सम्पत्ति को हथियाने के लिये युद्ध करना स्वयं अनृत व्यवहार है। अतः ऐसे अनृतवादी तथा अनृत व्यवहारी लोग, वरुण-राजा के पाशों से मुक्त नहीं हो सकते। वैदिक राष्ट्र यदि पर राष्ट्र पर आक्रमण करता है, तो वह परराज्य तथा उस की सम्पत्ति के लोभ से प्रेरित हो कर नहीं करता, अपितु उन के चित्तों को सत्यमार्ग पर लाने के लिये ही आक्रमण करता है। यथा "जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्" (अथर्व० ३।१।४)। इस लिये राजा-वरुण के पाशों से वैदिक राष्ट्र उन्मुक्त रहता है। जैसे कि कहा है कि "यः सत्यवादी, अति तं सृजन्तु" (अथर्व० ४।१६।६)। अति सृजन्तु=छोड़ दें]

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२६॥

अर्थं पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

४५५. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥३०॥

अर्थं पूर्ववत् (मन्त्र १)।

४५६. तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१॥

अर्थं पूर्ववत् (मन्त्र २)।

४५७. स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥३२॥

(सः) वह अपराधी (मृत्योः) मृत्यु समान कष्टदायक (पड्वीशात्) पैरों में जञ्जीर लगाने रूप (पाशात्) फंदे या बन्धन से (मोचि, मा) मुक्त न हो।

[पड्वीश=पड्=पद् (पैर)+वीश=विश् (प्रवेशने)]

४५८. तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥३३॥

अर्थं पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

सूक्त ६

प्राजापत्यम् । मन्त्रोक्तबहुदेवत्यम्

४५६. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥१॥

(जितम्) जो जीता है वह (अस्माकम्) हमारा हो गया है, (उद्भिन्नम्) पृथिवी का उद्भेदन कर के जो वनोपवन हुए हैं वे (अस्माकम्) हमारे हो गये हैं, (विश्वाः) शत्रु को सब (अरातीः) अदानी अर्थात् कंजूस प्रजाओं, और (पृतनाः) सेनाओं पर (अभ्यष्ठाम्) मैं अधिष्ठित हुआ हूं, या उन के समक्ष विजयी रूप में खड़ा हूं।

[मन्त्र में राजा की उक्ति है। अथवा जितम्, उद्भिन्नम्=भावे क्त, अर्थात् जीत हमारी हुई है, शत्रुदल का उद्भेदन हमने किया है। अभ्यष्ठाम्=अध्यष्ठाम्। यथा "स्वज इवाभिष्ठितो दश" (अथर्व० ५।१४।१०), अभिष्ठित अर्थात् अधिष्ठित, पादाक्रान्त हुए सांप की तरह काटें। दश=डस, काट। दशन=दांत]

४६०. तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥२॥

(तद्) उस "जितम्" विजय, और "उद्भिन्नम्" शत्रुदल के उद्भेदन के सम्बन्ध में (अग्निः) अग्रणी अर्थात् राष्ट्र के प्रधान मन्त्री ने, (आह) मुझ राजा को सूचित किया है, (तद् उ) उस के सम्बन्ध में, निश्चय से, (सोमः) सेना के प्रेरक ने (आह) मुझ राजा को सूचित किया है। (पूषा) पुष्टि प्रदाता परमेश्वर (मा) मुझ राजा को (सुकृतस्य) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (धात्) स्थापित करे।

[अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरु० ७।४।१४)। तथा अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स अग्निः (उणा० ४।५१, महर्षि दयानन्द)। अग्नि शब्द के अर्थ "जानाति" द्वारा अग्नि को ज्ञानवान् व्यक्ति भी कहा है।

सोमः=सेना प्रेरक; षू प्रेरणे। यथा "इन्द्र एषां नेता, बृहस्पतिर्दक्षिणा, यज्ञः पुर एतु सोमः। देव सेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये" (अथर्व० १६।१३।६) में "सोम" को "पुर एतु" द्वारा सेना के आगे आगे चलने वाला कहा है। पूषा=पोषण तत्त्व या पुष्टि देने वाला परमेश्वर। युद्ध में सत्यपक्ष को परमेश्वर पुष्टि प्रदान करता है। सत्यपक्ष वाले वे राष्ट्र होते हैं जोकि शान्तिप्रिय हैं, और निज स्वार्थ के लिये परराष्ट्र पर आक्रमण नहीं करते। आखिरकार "सत्यमेव जयते नानृतम्" के अनुसार सत्य की ही विजय होती है।

सुकृतस्य लोके=सुकर्मी-राजाओं के समाज में। वे राजा सुकर्मी हैं जोकि भूमि और सम्पत्ति के लोभ से पर राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करते। लोक=लोग, समाज। यथा "यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

म यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" (गीता ३।२१) में लोक का अर्थ है लोग । "लोके" पद द्वारा परलोक न जान कर इहलोक अर्थ ही जानना चाहिये]

४६१. अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥३॥

(अगन्म) प्राप्त हुए हैं हम (स्वः) सांसारिक सुख को, (स्वः) सांसारिक सुख को (अगन्म) हम प्राप्त हुए हैं, (सूर्यस्य) सूर्य को (ज्योतिषा) ज्योति के साथ (सम्, अगन्म) हम संगत हुए हैं।

[लोभी राष्ट्र ने, शान्ति की भावना वाले राष्ट्र पर जब आक्रमण किया तब शान्ति रखने वाले राष्ट्र की प्रजा दुःखग्रस्त हो गई और उन पर निराशा का अन्धकार छा गया। परन्तु आत्मरक्षा से प्रेरित हो कर तथा दान रहित वाले कंजूस राष्ट्र पर जब शान्तिप्रिय राजा की सेना ने युद्ध लड़ कर आक्रमणकर्त्ता को पराजित कर दिया तब शान्तिप्रिय प्रजाओं में सुख का संचार हुआ, और आशारूपी सूर्यज्योति पुनः चमकने लगी। खुशी में "अगन्म और स्वः" का दो बार कथन हुआ है, "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" (निरुक्त)]

४६२. वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥४॥

(यज्ञः) राष्ट्रयज्ञ (वसुमान्) सम्पत्ति वाला होता है, [सम्पत्ति के विना राष्ट्र यज्ञ सफल नहीं हो सकता] । (वस्योभूयाय) अधिक वसुमान् अर्थात् सम्पत्तिवाला होने के लिये, (वसु) सम्पत्ति को (वंशिषीय) कामना वाला मैं राजा होऊं । (वसुमान् भूयासम्) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से मैं सम्पत्ति वाला होऊं, (मयि) मुझ में हे परमेश्वर ! (वसु) सम्पत्ति (धेहि) स्थापित कीजिये।

[राजा राष्ट्र को, यज्ञिय भावना से चलाने के लिये, परमेश्वर की कृपा का आह्वान कर, राष्ट्रोद्योग द्वारा सम्पत्ति की कामना करता है, परराष्ट्र पर आक्रमण द्वारा नहीं ।

[वंशिषीय =वश् कान्तौ, कान्तिः =कामना । अनुस्वारो वैदिकः । वष्टिम कान्तिकर्मा (निघ० २।६), अथवा "वनु याचने" वंसिषीय ?] ।

द्वितीय अनुवाक का सार

द्वितीय अनुवाक में ५ सूक्त हैं अर्थात् क्रम प्राप्त ५, ६, ७, ८ और ९ सूक्त। प्रथम अनुवाक में वर्णित मादक अग्नियों के परित्याग तथा दिव्य सद्गुणों के उपार्जन द्वारा उत्पन्न सात्विक संस्कारों के परिणामरूप सात्विक स्वरूपों के उदय होने पर दुष्वप्न्य के विनाश का वर्णन हुआ है (सूक्त ५)।

दुष्वप्न्यों पर विजय द्वारा निष्पाप होने का आध्यात्मिक उषा के प्रादुर्भाव और उस के परिणाम का दुष्वप्न्य के स्वरूप का तथा जाग्रद्-दुष्वप्न्य तथा स्वप्ने-दुष्वप्न्य के दुष्परिणामों का वर्णन (सूक्त ६) में हुआ है ।

द्वेष्टा तथा शप्ता के लिए दण्ड विधान, तथा द्वेष और शाप आदि दुर्वृत्तियों से उत्पन्न दुष्वप्न्य के हनन का वर्णन (सूक्त ७) में हुआ है।

आक्रमणकारी परराष्ट्र के अधिकारियों आदि के लिये नानाविध दण्ड विधान, तथा विजयी राजा की प्रसन्नता का वर्णन (सूक्त ८, ९) में हुआ है ।

विशेषः—यद्यपि काण्ड १९ में मुख्यरूप से सात्विक स्वप्नों के उदय द्वारा दुःस्वप्नों और उन के निराकरणीय दुष्परिणामों का वर्णन अभिप्रेत है, तो भी आध्यात्मिक शत्रु रूप "दुष्वप्न्य" पर विजय पाने के साथ-साथ, राजनैतिक शत्रुराष्ट्र पर विजय पाने आदि राष्ट्रीय-तत्त्वों का वर्णन भी काण्ड की समाप्ति पर गौणरूप में किया गया है।

द्वितीय अनुवाक तथा १९ वां काण्ड समाप्त
श्री प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार, विद्यामार्तण्डकृत
अथर्ववेद १९ वें काण्ड का
हिन्दी भाष्य सम्पूर्ण हुआ

सत्रहवां काण्ड

सूक्त १

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । १ जगती । २-४ अति जगती । ६, ७, १९ अत्यष्टिः । ८, ११, १६ अतिधृतिः । ६ पंचपदा शक्वरी । १० अष्टपदा धृतिः । १२ कृतिः । १३ प्रकृतिः । १४,१५ पञ्चपदा शक्वरी, पञ्चपदा विराडतिशक्वरी । १८ भुरिगष्टिः । २४ विराडत्यष्टिः १-५ षट्पदा । ११-१३, १६, १८, १९, २४ सप्तपदा । २० ककुभ् । २१ चतुष्पदा उपरिष्टाद् बृहती । २२ अनुष्टुप् । २३ निचृद् बृहती । २५, २६ अनुष्टुप् । २७, ३० जगती । २८, २९ त्रिष्टुप् ।

४६३. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥१॥

(विषासहिम्) सदा से पराभवकारी, तो भी (सहमानम्) सहिष्णु, (सासहानम्) अतिबली, (सहीयांसम्) सांसारिक बलों को अपेक्षया अधिक बलशाली, (सहमानम्) सदा तृप्त, आप्तकाम, (सहोजितम्) समग्रबलों के विजेता, (स्वर्जितम्) सुखों पर विजय पाये हुए, आनन्दमय, तथा द्युलोक पर विजय पाये हुए, (गोजितम्) पृथिवी पर विजय पाये हुए, (संधनाजितम्) समस्त ऐश्वर्यों पर विजय पाए हुए, (ईड्यम्) स्तुत्य (नाम) तथा सर्वप्रसिद्ध (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (ह्वे) मैं सदा आह्वान करता हूं, (आयुष्मान्) ताकि स्वस्थ तथा दीर्घ आयु वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं ।

[इस काण्ड में मुख्य रूप से परमेश्वर का तथा बीच बीच में गौण-रूप से आदित्य का भी वर्णन हुआ है । आदित्य के वर्णन में भी तात्पर्य परमेश्वर के वर्णन का ही है । आदित्य का अधिष्ठाता परमेश्वर ही है ।

यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥ यजु० ४०।१७॥ अर्थात् वह जो आदित्य में पुरुष है, वह मैं हूं, जिस का कि नाम ओ३म् है, जो आकाश के सदृश व्यापक है, तथा ब्रह्म है । आदित्य ब्रह्म की ही कृति है, जिस में कि शक्तिमान् परमेश्वर विद्यमान् है, जिस के कि अनु-शासन से आदित्य उदित हो रहा है यथा "भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषो-देति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" ॥ (तैत्ति० उप० अनुवाक ८) ।

[सहमानम्=षह चक्यर्थे, चक्यर्थः तृप्तिः; तथा सहनशील[1] । सहीयांसम्=सहः बलनाम (निघं० २।९)+ईयसुन् । स्वर्जितम्=स्वः सुख । तथा स्वः=द्युलोक (निरु० २।४।१४) । गोजितम्=गौः=पृथिवी (निघं० १।१) । संधनाजितम्=समग्र धनों पर विजय पाए हुए । धन=प्राकृतिक धन,अर्थात् पृथिवी की सम्पत्तियों, बलधन, ज्ञानधन,यशः-धन, आध्यात्मिक विभूतियों के धन आदि में सर्वातिशायी परमेश्वर । आयुष्मान्=पर-मेश्वर की स्तुति, प्राथना और उपासना अर्थात् उसे अपने समीप जान कर आसन जमाने से, विचार तथा जीवन सात्त्विक बन जाते हैं, परि-णामरूप में आयु अर्थात् जीवन सुखदायी तथा दीर्घायुष्य[2] वाला हो जाता है । राजसिक तथा तामसिक विचार तथा तदनुरूप जीवन दुःखप्रद तथा अल्पायुष्य वाले होते हैं]

४६४. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥

---

१. षह मर्षणे । मर्षणम्=Endurance; forbearance; Gatience (आप्टे) ।

२. यथा "न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्" (श्वेता० उप० २।१२) अर्थात् जिस का शरीर योगाग्नि से सम्पन्न हो जाता है, यह योगाग्नि उस के रजोगुण और तमोगुण को भस्मीभूत कर सात्त्विक कर देती है; जिस का परिणाम यह होता है कि योगी रोगों, जरा तथा शीघ्र मृत्यु का शिकार नहीं होता । इस भाव को मनुस्मृति में भी अभिव्यक्त किया है । यथा "ऋषयो दीर्घसन्ध्यात्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः" (मनु०) ।

(विषासहिम्) सदा से पराभवकारी···[शेषार्थ मन्त्र १],—(ईड्यम्) स्तुति योग्य (नाम) सर्व प्रसिद्ध (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (ह्वे) सदा मैं आह्वान करता हूं, ताकि (देवानाम्) दिव्यगुणों तथा देवकोटि के विद्वानों का (प्रियः भूयासम्) मैं प्रिय हो जाऊं।

[ह्वे=चित्त में आह्वान करना, सदा परमेश्वर को चित्त में रमाए रखना, तथा शुभ कार्यों में उस से सहायता की प्रार्थना करना]

४६५. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥

(विषासहिम्) सदा से पराभवकारी······[शेषार्थ मन्त्र १],—(ईड्यम्) याचना के योग्य, पूजनीय तथा प्रार्थनीय (नाम) तथा सर्वप्रसिद्ध (इन्द्रम्) परमेश्वर का (ह्वे) सदा मैं आह्वान करता हूं, ताकि (प्रजानाम्) प्रजाजनों का (प्रियः भूयासम्) प्रिय मैं हो जाऊं।

[ईड्यम्=ईडिः=याचना, पूजा, अध्येषणा (निरु० ७।४।१५)। परमेश्वर का सच्चा उपासक सब प्रजाजनों का उपकार करता, और उन का प्रिय बनता है]

४६६. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥४॥

(विषासहिम्) सदा से पराभवकारी······[शेषार्थ मन्त्र १],—(ईड्यम्) स्तुति तथा याचना आदि के योग्य (नाम) तथा सर्वप्रसिद्ध (इन्द्रम्) परमेश्वर का (ह्वे) मैं आह्वान करता हूं, ताकि (पशूनाम्) पशुओं का (प्रियः भूयासम्) प्रिय मैं हो जाऊं।

[परमेश्वर का सच्चा उपासक अहिंसा धर्म का पालन करता है, अतः वह पशुओं का भी प्रिय बन जाता है, यथा "**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**" (योग २।३५), अर्थात् अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर अहिंसा-व्रती के संग में पशुओं का भी परस्पर वैर-विरोध छूट जाता है। जो योगारूढ़, मनसा-वाचा-कर्मणा किसी के मन को नहीं

दुःखाता और न उसे शारीरिक कष्ट ही पहुंचाता है, उस का सर्वप्रिय हो जाना स्वाभाविक है। हिंस्र पशु भी उस के लिए अहिंस्र हो जाते हैं। व्यास मुनि ने योगसूत्र २।३५ की व्याख्या में कहा है कि "**सर्वप्राणिनां भवति**", अर्थात् अहिंसा-व्रती के समीपस्थ नित्यवैरी, चूहे-बिल्ली, सांप-न्यौला आदि भी अहिंसा-व्रती के चित्त के प्रभाव के कारण पारस्परिक वैर को त्याग देते हैं (वाचस्पतिमिश्र, टीका)]

४६७. विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥

(विषासहिम्) सदा से पराभवकारी······[शेषार्थ मन्त्र १] (ईड्यम्) स्तुति तथा याचना आदि के योग्य (नाम) तथा सर्वप्रसिद्ध (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (ह्वे) मैं आह्वान करता हूं, ताकि (समानानाम्) स्वसमान अर्थात् तुल्य गुणों वालों का (प्रियः भूयासम्) प्रिय मैं हो जाऊं।

[तुल्य गुणों वालों में, पारस्परिक ईर्ष्या के कारण कई बार कटु समालोचना हो जाने से प्रेम भाव नहीं रहता। परन्तु जो तुल्य गुणों वाले, सच्चे परमेश्वरोपासक होते हैं, वे परस्पर में एक-दूसरे के गुणों की प्रशंसा ही करते हैं, अतः उन में प्रेमभाव बना रहता है]

४६८. उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा
चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः
पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥६॥

(सूर्य) हे सूर्य ! हे सर्वप्रेरक ज्योतिर्मय ! (उदिहि) उदित हो [मेरे हृदय में], (उदिहि) अवश्य उदित हो; (वर्चसा) निज ज्योति के साथ (मा अभि) मेरे संमुख (उदिहि) उदित हो। (द्विषन् च) तथा द्वेष करता हुआ कामादि शत्रु (मह्यम्) मेरे (रध्यतु) वश में हो जाय, (अहम्, च) और मैं (द्विषते) द्वेष करते हुये कामादि शत्रु के (रधम्, मा) वश में न होऊं। (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (तव, इद्) तेरे ही (बहुधा) बहुविध (वीर्याणि) सामर्थ्य हैं। (त्वम्) तू (नः) हमारी (पृणीहि) पालना कर (विश्वरूपैः) विश्व को निरूपित करने वाले (पशुभिः) इन्द्रिय-

पशुओं द्वारा हे परमेश्वर ! (सुधायाम्)[1] उत्तम स्थिति तथा आध्यात्मिक सुपुष्टि में, और (परमे व्योमन्) निज-परम सुरक्षक स्वरूप में (मा) मुझे (धेहि) स्थापित कर ।

[सूर्य=परमेश्वर को सूर्य भी कहा है । यथा "सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः", "सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः" (अथर्व० १३ । अनु० ४ । पर्या० १ । मन्त्र ४, ५) । मन्त्र में मुख्यरूप से परमेश्वर का, तथा गौणरूप से प्राकृतिक सूर्य का भी वर्णन हुआ है । रध्यतु= रध्यतिर्वशगमने (निरु० ६।६।३२) । विष्णो=विषॢ व्याप्तौ । पशुभिः= पश्यतीति पशुः । इन्द्रियां संसार को देखतीं और उस का दर्शन कराती हैं । इन्द्रियों को शरीर-रथ के "हय" अर्थात् अश्व भी कहा है, "इन्द्रियाणि हयानाहुः, विषयान् तेषु गोचरान्" (कठ० अ० २, बल्ली ३); इस प्रमाण में ऐन्द्रियिक-विषयों को "गोचर" भी कहा है, अर्थात् गोरूपी इन्द्रियाँ जिन में विचरती हैं । अतः इन्द्रियों को "गावः" भी कहते हैं । जो इन्द्रियां मनुष्य को विषयों की ओर प्रेरित करती हैं, वे ही परमेश्वर की कृपा से सात्विक बन कर मनुष्य की रक्षा और पालन करने लगती हैं । सुधा= सु+धा (धारण पोषणयोः) । व्योमन्=वि+ओमन् (अव रक्षणे) । यथा "अवतेष्टिलोपश्च" (उणा० १।१४२); "ओम्=अव् मन् प्रत्ययस्य टि लोपो धातोरुपधावकारयोरूठ्, अवति रक्षादिकं करोतीति ओम्" (महर्षि दयानन्द)]

४६९. उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । यांश्च पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः
पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥७॥

(सूर्य) हे सूर्य ! हे सर्वप्रेरक ज्योतिर्मय ! (उदिहि) उदित हो [मेरे हृदयाकाश में], (उदिहि) अवश्य उदित हो; (वर्चसा) निज ज्योति के के साथ (मा, अभि) मेरे संमुख (उदिहि) उदित हो । (यान् च) जिन्हें (पश्यामि) मैं देखता हूं, जानता हूं, (यान् च) और जिन्हें नहीं देखता,

१. अथवा निज परम सुरक्षक स्वरूप में विद्यमान आनन्दरसामृत में मुझे स्थापित कर । सुधा=अमृत ।

जानता (तेषु) उन सब में (मा) मुझे (सुमतिम्) सुमति वाला (कृधि) कर । (तव, इद्) तेरे ही (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! ...शेष अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६]

[मन्त्र में परमेश्वर से "सुमति" होने की प्रार्थना की गई है । "धियो यो नः प्रचोदयात्" की भावना इस मन्त्र में है । मन्त्र में मुख्य रूप से परमेश्वर का, तथा गौणरूप से सूर्य का भी वर्णन है सुमतिः= उत्तम ज्ञानी, उत्तम मननशील । पश्यामि=जानामि । यथा "उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्" (ऋ० १० ७१।४) में वाणी को देखने का अभिप्राय है, वाणी को जानना]

४७०. मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र ।
हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्
विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः
सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥८॥

हे परमेश्वर ! (अत्र) इस जीवन में (सलिले) जल प्रधान शरीर में; (अप्सु अन्तः) और रक्त के भीतर (ये) जो (पाशिनः) फंदा डालने वाले काम-क्रोध आदि (उप, तिष्ठन्ति) उपस्थित रहते हैं वे (त्वा) तुझे (मा) नहीं (दभन्) दबा पाले । (अशस्तिम्) काम-क्रोध आदि की अप्रशंसनीय परम्परा को (हित्वा) त्याग करा कर तू (एताम्, दिवम्) इस हमारे मस्तिष्क अर्थात् सहस्रार-चक्र पर (आ अरुक्षः) आरूढ़ हो चुका है, (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर, (ते) तेरी (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों, रहें । (तव इद् विष्णो) शेषार्थं पूर्ववत् (मन्त्र ६) ।

[हमारे जीवनों में जो जो हृदयस्थ रक्त रूपी शारीरिक जल हैं वे काम-क्रोध आदि की दुर्वासनाओं से दूषित हैं, ये मानो हम पर फंदा डालने को सदा उद्यत रहते हैं, परन्तु हे जगदीश्वर ! आप हृदय वासी होते हुए भी इन के फंदों से सदा मुक्त हैं । आप ने कृपा करके हमें इन फंदो से छुड़ाया है, और आप ने हमारे मस्तिष्कों में स्थिर सहस्रार-चक्रों में दर्शन दिया है । इस प्रकार आपने हमें सुखी किया है । हम निश्चय करते हैं कि आप द्वारा दी गई सुमति में हम सदा रहेंगे ।

[सलिले=सलिल का अर्थ है,—जल । शरीर का संगठन जल[1] प्रधान है शारीरिक संगठन में जल का भाग $\frac{3}{4}$ है । "भूयसा व्यपदेशो भवति"—इस न्याय के अनुसार शरीर को सलिल कहा है ।

अप्सु=रक्तरूपी जल । यथा "को अस्मिन्नापो व्यदधाद् - विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ (अथर्व० १०।२।११) ॥ अर्थात् किस ने इस पुरुष में "आपः" अर्थात् जल विविधरूप में या विधिपूर्वक स्थापित किये हैं, जो कि शरीर में व्याप्तरूप में विद्यमान हैं, पालन के लिये विद्यमान हैं, जो सिन्धु अर्थात् हृदय से और हृदय में सरण करने के लिये उत्पन्न हुए हैं, जो स्वाद में तीव्र, चमकते हुए, लाल तथा लोहमिश्रित, ताम्बे के धूएं या ताम्बे और धूंएं के वर्ण वाले, ऊपर, नीचे, तथा तिरछे गति करते हैं" । इस प्रमाण से स्पष्ट है कि "आपः" द्वारा वेद में शरीरस्थ रस-रक्त का भी ग्रहण होता है । विषूवृतः=विष्लृ व्याप्तौ+वृत वर्तने । सिन्धु=जिस से और जिस में रक्त का स्यन्दन होता रहता है अर्थात् हृदय । अरुणाः=आरोचनाः (निरु० ५।४।२०) "वृक" शब्द की व्याख्या में) । ताम्रधूम्राः=ताम्बे को जब आग्नेय ज्वाला में तपाया जाय तो ज्वाला नीले वर्ण की हो जाती है । इस द्वारा Veins अर्थात् शिराओं के नीले रक्त का निर्देश किया है । हित्वा=अन्तर्भावित णिजर्थ=हापयित्वा । दिवम्=मस्तिष्क । यथा "दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व० १०।७।३२) में दिवम् को मूर्धा अर्थात् सिर कहा है]

४७१. त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिः ।
तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्व-
रूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥९॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अदब्धेभिः) न दबने वाले (अक्तुभिः) निज अभिव्यक्त प्रकाशों द्वारा, (महते सौभगाय) हमारे महा सौभाग्य के लिये, (परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर । (तवेद् विष्णो)...शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]

[उपासक योगी को, जब परमेश्वर की अनश्वर ज्योति का दर्शन हो जाता है तब उस का महासौभाग्य प्रकट होता है, और वह अपने आप को पूर्णतया सुरक्षित अनुभव करने लगता है । अक्तुभिः=यह शब्द यद्यपि रात्री-अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु वर्तमान मन्त्र में यौगिक-अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, "अञ्ज् अभिव्यक्तौ"]

४७२. त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव आरोहंस्त्रिदिवं
दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो
बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां
मा धेहि परमे व्योमन् ॥१०॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! (त्वम्) तू (शिवाभिः) कल्याण कारिणी (ऊतिभिः) निज रक्षाओं के द्वारा (नः) हमें (शंतमः) अत्यधिक शान्ति देने वाला (भव) बन । (प्रिय धामा) जिस का तेज प्रिय है, या जिसे दिव् का स्थान प्रिय है ऐसा तू (दिवः) दिव् अर्थात् मस्तिष्क के (त्रिदिवम्) तीनों द्योतमान हिस्सों पर (आरोहन्)[1] आरोहण करता हुआ, (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (सोमपीतये) सोमपानार्थ (गृणानः भव) हमें उपदेश देता हुआ बन । (तवेद् विष्णो)[2]......शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६] ।

---

१. "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छान्दो० उप० अध्या० ५ । खं० ९), में कहा है कि पांचवी आहुति में "आपः" अर्थात् सलिल या जल पुरुष संज्ञा वाले हो जाते हैं, अर्थात् पुरुष-शरीर में परिणत हो जाते हैं ।

१. परमेश्वर प्रथम हृदय में, तत्पश्चात् आज्ञाचक्र के तृतीयनेत्र में, पुन. मस्तिष्कस्थ सहस्रारचक्र में प्रकट होता हुआ मानो क्रमशः आरोहण करता है ।

२. मन्त्र में आदित्य अर्थात् सूर्य परक अर्थ की ओर भी निर्देश है । सूर्य विष्णु है, यतः वह किरणों द्वारा व्याप्त है (विष्लृ व्याप्तौ) । सूर्य प्रातः काल, पूर्व दिशा के क्षितिज से ऊपर की ओर, आरोहण करता है । द्युलोक के भी तीन भाग हैं । एक क्रांतिवृत्त, या रविमार्ग जिसे कि Ecliptic कहते हैं, तथा इस क्रान्तिवृत्त के उत्तर का भाग, तथा दक्षिण का भाग । इस प्रकार "त्रिदिवं दिवः" का कथन

[प्रियधामा=प्रियं धाम यस्य यस्मै वा सः । धाम=तेज तथा स्थान । दिवः=मस्तिष्क के (मन्त्र ८ की व्याख्या), त्रिदिवम्=मस्तिष्क के तीन दिव् अर्थात् ज्योतिर्मय भाग । ज्ञान का साधन है मस्तिष्क । इस लिये इसे दिवम् कहा है । दिव्=द्युति, ज्ञानद्युति । मस्तिष्क के तीन विभाग=(१) Cerebellum or Small Brain, जिसे लघु मस्तिष्क कहते हैं । (२) Cerebrum or Large Brain, जिसे बृहत्-मस्तिष्क कहते हैं । इस बृहत्-मस्तिष्क के दो विभाग हैं, दक्षिण गोलार्ध तथा वाम गोलार्ध । बृहत्-मस्तिष्क में आज्ञाचक्र तथा सहस्रार चक्र होते हैं । सहस्रारचक्र में परमेश्वरीय ज्योति का दर्शन होता है ।

सोमपीतये=सोमरस अर्थात् वीर्य के पान के लिये, ऊर्ध्वरेताः होने के लिये । सोम=वीर्य (अथर्व० १४।१।१-५) । आध्यात्मिक उन्नति के लिये वीर्य रक्षा और कामवासनाओं का परित्याग आवश्यक है । इसीलिए **"श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्"** (योग १।२०) में वीर्य को असम्प्रज्ञातसमाधि का उपाय कहा है]

४७३. त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेदु विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥११॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (त्वम्) तू (असि) है (विश्वजित्) विश्वविजयी, (सर्ववित्) सर्वज्ञ ! (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (त्वम्) तू (पुरुहूतः) बहुतों द्वारा या नाना नामों द्वारा पुकारा जाता है । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू,—(सुहवम्) सुगमता से तेरा आह्वान करने वाले (इमम्, स्तोमम्) इन स्तुति-मन्त्रों को,— (एरयस्व)

सूर्य के सम्बन्ध में भी यथार्थ है । सूर्य और सौर-परिवार यद्यपि क्रान्तिवृत्त में ही गति करता है, तथापि सूर्य निज किरणों द्वारा द्युलोक के तीनों भागों में व्याप्त होता है । सूर्य अर्थ में "सोमपीतये" का अर्थ है "जलपान" के लिये । सूर्य उदित हो कर समुद्र आदि के जलों का पान करता है । सूर्य पक्ष में "सुधा" का अर्थ है, जल, मधु तथा नानाविधरस । सुधा=Honey of flowers; juice, water (आप्टे) ।

हमारे प्रति प्रेरित कर । (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर, (ते) तेरी (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों । (तवेद् विष्णो)···शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६] ।

४७४. अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षञ्छर्म यच्छ तवेदु विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१२॥

हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (दिवि) द्युलोक में (उत) और (पृथिव्याम्) पृथिवीलोक में तू (अदब्धः असि) किसी शक्ति द्वारा दबाया नहीं गया है, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (ते) तेरी (महिमानम्) महिमा को (आपुः, न) विज्ञानी नहीं पा सके, जान सके । (अदब्धेन) न दबाए गये अर्थात् शक्तिशाली अनश्वर (ब्रह्मणा) ब्रह्मप्रतिपादक-वेद द्वारा (वावृधानः) महिमा में बढ़ाया गया । (सः, त्वम्) वह तू (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (दिवि, सन्) हमारे मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र में वर्तमान हुआ हुआ, (नः) हमें (शर्म) सुख और शान्ति (यच्छ) प्रदान कर । (तवेद् विष्णो)··· शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६] ।

[शर्म=सुख और शान्ति । अथवा "शर्म=यच्छ"=अपना आश्रय प्रदान कर, अपनी शरण में ला । शर्म=शरणम् (निरु० १२।४।४६; ९।३।३१; ९।२।१८) । दिवि[1]=मन्त्र ८,१०]

४७५. या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि । ययेन्द्र तन्वा३न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३ शर्म यच्छ तवेदु विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१३॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (या) जो (ते) तेरी (तनूः)

१. मन्त्र में "दिवि" पद दो बार पठित है । अतः ये दो भिन्नार्थक हैं, द्युलोक तथा मस्तिष्क ।

विस्तृति (अप्सु) सामुद्रिक आदि जलों में, (या) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (या) जो (अग्नौ, अन्तः) अग्नि के भीतर, (या) जो (ते) तेरी विस्तृति (स्वर्विदि) सुख प्राप्त कराने वाली (पवमाने) पवित्र वायु में है। (यया) जिस (तन्वा) विस्तृति द्वारा (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (व्यापिथ) तू व्याप्त है, (तया) उस (तन्वा) विस्तृति या व्याप्ति द्वारा (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नः) हमें (शर्म) सुख-शान्ति तथा निज शरण (यच्छ) प्रदान कर । (तवेद् विष्णो)......शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]

[तनूः=तनु विस्तारे । स्वर्विदि=स्वः (सुख)+विद् (लाभे)। पवमाने=पूञ् या पूङ पवने। मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि आप जैसे जगत् के अन्य पदार्थों में व्याप्त हैं, वैसे हमारे शरीरों, मनों और आत्माओं में भी व्याप्त हैं। अपनी इस व्याप्ति द्वारा हमें सुख-शान्ति तथा निजाश्रय प्रदान कीजिये]

४७६. त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१४॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (ब्रह्मणा) ब्रह्म प्रतिपादक वेद द्वारा (त्वाम्) तुझे अर्थात् तेरी महिमा को (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए, तथा (नाधमानाः) मोक्ष की याचना करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग, (सत्रं) दीर्घकालीन उपासनायज्ञ या योगयज्ञ में (निषेदुः) बैठे हैं। (तवेद् विष्णो)......शेष अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]।

४७७. त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१५॥

हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (तृतम्=त्रितम्) अति मेधावी को (एषि) प्राप्त होता है, (त्वम्) और तू (सहस्रधारम्) हजारों ज्ञानधाराओं वाले, (स्वर्विदम्) सुखलाभ कराने वाले, (विदथम्) ज्ञानप्रद या ज्ञानमय (उत्सम्) ज्ञान स्रोत वेद को (परि एषि) व्याप्त कर रहा है। (तवेद् विष्णो......शेष अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६)।

[तृतम्=त्रितम्=तीर्णतमो मेधया (निरु० ४।१।६)। विदथम्=विदथानि वेदनानि (निरु० ६।२।७); विदथे वेदने (निरु० १।३।६)। मेधा से तीर्णतम् वह व्यक्ति है जो कि सांसारिक विषयों में लिप्त न हो कर, आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में तत्पर रहता है। ऐसे व्यक्ति को परमेश्वर प्राप्त होता है। परमेश्वर वेद में व्याप्त हो रहा है,—इस का यह अभिप्राय है कि वेद के मन्त्रों में साक्षात् और परम्परया परमेश्वर का वर्णन है। "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९), अर्थात् वैदिक ऋचाओं में व्याप्त परमेश्वर को जो नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा, उस का ऋचाओं का स्वाध्याय व्यर्थ है तथाः—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठोपनि० वल्ली २। मं० १५) में "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत्ते पदं ब्रवीम्योमित्येतत्" पर महर्षि दयानन्द, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, "अथ वेद विषय विचारः" में लिखते हैं कि "जिस के नाम ओम् आदि हैं उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है"। तथा "ईश्वर का, एक भी मन्त्र के अर्थ में, अत्यन्त त्याग नहीं होता। (प्रतिज्ञा विषय, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका)।

इन प्रमाणों द्वार यह निश्चय होता है कि ज्ञानमय तथा ज्ञानप्रद वेद-स्रोत को परमेश्वर व्याप्त कर रहा है]

४७८. त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि। त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१६॥

हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (चतस्रः प्रदिशः) चारों विस्तृत-दिशाओं को (रक्षसे) रक्षा करता है, (त्वम्) तू (शोचिषा) प्रकाश द्वारा (नभसी) द्युलोक और पृथिवी के प्रति (वि भासि) चमक रहा है। (त्वम्) तू (विश्वा) समग्र (भुवना) भुवनों में (अनु) निरन्तर (तिष्टसे) स्थित है, तू (विद्वान्) ज्ञाता (ऋतस्य) सत्य के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनु) निरन्तर

अर्थात् सदा (एषि) चलता है, (तवेद् विष्णो)...... अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६] ।

[चतस्रः प्रदिशः=जैसे राष्ट्र रक्षा के लिये राष्ट्र की दिशाओं, सीमाओं की रक्षा की जाती है, वैसे मानों ब्रह्माण्ड की रक्षा के लिये, ब्रह्माण्ड की चहुं-दिशाओं की रक्षा परमेश्वर कर रहा है। इस लिये परमेश्वर को परिभूः भी कहते हैं।

नभसी=द्यावापृथिवीनाम (निघं० ३।३०)। सत्यस्य पन्थाम्=सत्य नियमों का मार्ग, सनातन Law of order:]

४७९. पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१७॥

हे सूर्य! (पराङ्) दूर से दूर वर्तमान तू (पञ्चभिः) पांच ग्रहों के साथ (तपसि) तप रहा है या ऐश्वर्यवान् हो रहा है, और (एकया) एक पृथिवी के साथ (अर्वाङ्) इधर हमारी ओर तू तप रहा है या ऐश्वर्यवान् हो रहा है। और (अशस्तिम्) अप्रशस्त रात्री को (बाधमानः) बाधा में डालता हुआ, उसे दूर करता हुआ तू (सुदिने) उत्तम-दिन के समय (एषि) आता है, उदित होता है। (तव इद्) तेरे (विष्णो) हे किरणों से व्याप्त सूर्य! (बहुधा) बहुविध (वीर्याणि) सामर्थ्य [इन ग्रहों में प्रकट हो रहे हैं]। (त्वम्) तू (नः) हमें (पृणीहि) पाल (विश्वरूपैः पशुभिः) नानारूपी पशुओं द्वारा (मा) मुझे (सुधायाम्) सुपुष्टि में तथा (परमे व्योमन्) परम रक्षा में (धेहि) स्थापित कर।

[पञ्चभिः=बुध, शुक्र, मंगल, गुरु अर्थात् बृहस्पति तथा शनि,—ये ५ ग्रह हैं। सूय की गर्मी से ये तपते हैं, इन के साथ साथ सूर्य भी तप रहा होता है। पृथिवी भी ग्रह है, इस का "एकया" द्वारा अलग वर्णन मन्त्र में हुआ है। सुदिने=कोहरे और बादल के न होते, दिन अच्छी प्रकार सूर्य के कारण चमकता है। विष्णो=विष्लृ व्याप्तौ, किरणों से व्याप्त सूर्य। उदित होता हुआ सूर्य रात्री को दूर करता है]

तथा

हे परमेश्वर! (पञ्चभिः) पांच इन्द्रियों के ५ विषयों के सेवन के

कारण तू हम से (पराङ्) मानो पराङ्मुख हुआ हुआ (तपसि) निज ज्योति से तप रहा होता है, और (एकया) एक प्रत्याहार-साधना द्वारा (अर्वाङ्) अर्वाङ् मुख होकर हमारी ओर (तपसि) प्रकाशित होता है, तथा (अशस्तिम्) अप्रशस्त-अविद्या का (बाधमानः) निराकरण करता हुआ, (सुदिने) किसी शुभदिन में (एषि) तू आ प्रकट होता है। (तवेद् विष्णो)...... अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]

एकया=प्रत्याहार-साधना का अभिप्राय है "इन्द्रियों को विषयों को ओर न जाने दे कर चित्त के स्वरूप के अनुरूप करना"। यथा "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" (योग २।५४)]

४८०. त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१८॥

हे परमेश्वर! (त्वम्) तू (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् है, (त्वम्) तू (महेन्द्रः) महा-ऐश्वर्यवान् है, (त्वम्) तू (लोकः) आलोकमय है, (त्वम्) तू (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी तथा रक्षक है, (तुभ्यम्) तेरी प्रसन्नता और प्राप्ति के लिए (यज्ञ) (वि तायते) विशेषतया फैलाया जाता है, किया जाता है, (तुभ्यम्) तेरी प्रसन्नता और प्राप्ति के लिये (जुह्वतः) आहुतियां देने वाले (जुह्वति) आहुतियां देते हैं। (तवेद् विष्णो)...... अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]

४८१. असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१९॥

(असति) जिसकी सत्ता अनुभव में नहीं आ रही उस अव्याकृत प्रकृति में (सत्) विद्यमान जगत् (प्रतिष्ठितम्) स्थित है, और (सति) सत्-जगत् में (भूतम्) पूर्वकालीन प्रकृति (प्रतिष्ठितम्) स्थित है। (भूतम्) भूतकालीन प्रकृति (ह) निश्चय से (भव्ये) भविष्यत् काल में होने वाले

जगत् में (पाहितम्) रखी हुई है, और (भव्यम्) होने वाला जगत् (भूते) पूर्वकालीन प्रकृति में (प्रतिष्ठितम्) स्थित¹ है, (तवेद् विष्णो)……अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]।

१. मन्त्रोक्त सिद्धान्त को निम्नलिखित दृष्टान्त द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है। यथाः - मिट्टी से घड़ा बना। सत्–घड़ा मिट्टी रूप कारण में प्रतिष्ठित है, अपनी स्थिति रखता है। यह है। "असति सत् प्रतिष्ठितम्" अर्थात् प्रकृति में सत् जगत् की स्थिति।

जैसे मिट्टी से बने घड़े में, घड़े का पूर्वरूप जो मिट्टी है वह स्थित रहती है, इसी प्रकार "सति भूतं प्रतिष्ठितम्" अर्थात् सत्-जगत् में, जगत् का भूतरूप अर्थात् पूर्वरूप प्रकृति भी स्थित रहती है। जैसे घड़े के भावीरूप ठीकरियों में घड़े की भूतपूर्व मिट्टी स्थित रहती है, इसी प्रकार "भव्ये भूतम् आहितम्" अर्थात् भविष्यत् काल में होनेवाले जगत् के स्वरूप में भी प्रकृति स्थित रहती है।

तथा जिस प्रकार घड़े का भव्य अर्थात् भविष्यत्–काल में होनेवाला ठीकरों-का-भी-स्वरूप भूतस्वरूप मिट्टी तथा घट में स्थित होता है, इसी प्रकार "भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्" अर्थात् जगत् का भव्य अर्थात् भविष्यत्-काल में परिवर्त्तित होने वाला स्वरूप भी, भूतरूप प्रकृति में तथा उस के पूर्व हुए परिणामों में भी स्थित रहता है।

इस प्रकार एक उपादान-प्रकृति को विविध नामरूपों में परिणत करना,—सर्वव्यापक परमेश्वर के नानाविध वीर्यों अर्थात् सामर्थ्यों का काम, है, "तवेद् बहुधा वीर्याणि"। मन्त्र में इस नानाविध नामरूपों को परमेश्वर का सामर्थ्यरूप कहा है। इस भावना को "नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो० उप० अध्याय ६, खं० ३) में भी कहा है। मन्त्र में यह दर्शाया है कि वस्तु के वर्तमान स्वरूप में उस के पूर्ववर्ती परिणामों तथा भविष्यत् में होने वाले परिणामों की स्थिति भी अनभिव्यक्तावस्था में रहती है, जिन का कि ज्ञान योगी के सूक्ष्मप्रवेशी चित्त द्वारा योगी को हो जाता है। बच्चा जब पैदा होता है तब उस के वर्तमान चित्त में भी पूर्वजन्म के भूतकाल के परिणाम संस्कार रूप में रहते हैं, तथा भविष्यत् काल में उद्भूत होनेवाले परिणामों के अर्थात् भावीपरिणामों के संस्कार भी अनुद्भूतावस्था में रहते हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की भी स्थिति है। इस सिद्धान्त को "सर्वं सर्वरूपम्,"—इस महाव्यापी नियम द्वारा भी प्रकट किया जाता है॥

[असति सत्प्रतिष्ठितम् =असत् अर्थात् सद्रूप से न प्रतीत होने वाली प्रकृति कारण है, उपादान-कारण है, और सत् अर्थात् विद्यमान जगत् कार्य है। कार्य की स्थिति उपादान-कारण में दर्शाई हैं। इस द्वारा सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। सत्कार्य अपने उपादान-कारण में शक्ति रूप में रहता है, उपादान-कारण से-उत्पन्न होने-की-योग्यता रूप में रहता है, जैसे कि अंकुर, अपने कारण बीज में उत्पन्न-होने की-योग्यता रूप में रहता है।

"सति भूतम्," "भव्ये भूतम्," "भूते भव्यम्"=इन का अभिप्राय यह भी है कि "सत अर्थात् विद्यमान पदार्थ में उस का भूतरूप अर्थात् बीतारूप भी रहता है," और "भव्य अर्थात् जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस में भी उस का भूतरूप अर्थात् बीता-रूप निहित रहता है, "तथा भूत पदार्थ में उस का भावीरूप भी स्थित होता है"। तभी महायोगी त्रिकाल-दर्शी हो सकता है। इसी लिये योग में कहा है कि "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" (योग० ३।१६) अर्थात् तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है इस का कारण योग में यह दर्शाया है कि 'क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः" (योग० ३।१५), अर्थात् जिस जिस पदार्थ में उस का जो जो रूप प्रथम उत्पन्न हो चुका है, और जो जो भविष्यत् में होना है, इन सब में क्रम नियत है। क्रम का भेद ही परिणाम के भद में हेतु है, नियामक है, अतः जो योगी वस्तु की उत्पत्ति के इस नियत क्रम को जान लेता है वह उस वस्तु के भूतरूपों और भावीरूपों का भी द्रष्टा हो जाता है। योग में अन्य सूत्रों में त्रिकाल द्रष्टृत्व का पर्याप्त वर्णन हुआ¹ है]

१. मन्त्रोक्त भावना की परिपुष्टि में निम्नलिखित, योगदर्शन के सूत्रों को देखना चाहिये। यथा "अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्॥ ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्॥ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्"॥ (योग ४।१२,१३,१४,३१)। तथा—"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं च सर्वज्ञातृत्वं च॥ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्" (योग ३।४९,५४)॥

४८२. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥२०॥

हे सूर्य ! (शुक्रः) पवित्र (असि) तू है , (भ्राजः) दीप्तिमान् (असि) तू है । (यथा) जैसे (सः त्वम्) वह तू, (भ्राजता) प्रदीप्यमान परमेश्वर द्वारा (भ्राजः) दीप्तिमान् (असि) है, (एव=एवम्) ऐसे ही (अहम्) मैं (भ्राजता) प्रदीप्यमान परमेश्वर द्वारा (भ्राज्यासम्) दीप्तिमान् होऊं ।

[सूर्य पवित्र है तथा भूमण्डल को पवित्र कर रहा है । सूर्य, परमेश्वर के प्रकाश द्वारा प्रकाशित हो रहा है, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक २।१०) । उपासक इच्छा प्रकट करता है कि मैं भी परमेश्वर का प्रकाश पा कर प्रकाशित हो जाऊं । इस प्रकार मन्त्र में मुख्य रूप से सूर्य का वर्णन हुआ है, और साथ ही, सूर्य को प्रदीप्त करने वाले परमेश्वर का भी वर्णन हुआ है । भ्राजता=भ्राजृ दीप्तौ+शतृ (कर्तरि) । "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)]

४८३. रुचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥२१॥

हे परमेश्वर ! (रुचिः) प्रेमस्वरूप (असि) तू है, (रोचः) प्रेमस्वरूप में तू प्रकाशित या प्रसिद्ध हो रहा (असि) है । (यथा) जैसे (सः त्वम्) वह तू (रुच्या) प्रेम के कारण (रोचः) प्रकाशित या प्रसिद्ध (असि) है, (एव=एवम्) इसी प्रकार (पशुभिः च) पशुओं के कारण (च) और (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्मवेत्ताओं के तेज द्वारा (अहम्) मैं (रुचिषीय) सब के लिये प्रेमपात्र बनूं ।

[रुचिः, रोचः=रुच् दीप्तौ, अभिप्रीतौ च । संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय में परमेश्वर का कोई स्वार्थ नहीं, जीवात्माओं के भोग और अन्त में अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के निमित्त, प्रेमवश हो कर, वह उत्पत्ति आदि कार्य करता है । "तत्त्वसमास" सांख्य सूत्रों में सूत्र है "अनुग्रह सर्गः" । (तत्त्व समास, सूत्र १७) अर्थात् सृष्टि परमेश्वर का केवल अनुग्रह है, दया और प्रेम का प्रदर्शन है ।

उपासक भी सब का प्रेमपात्र बनना चाहता है । इस के लिये वह परमेश्वर से पशुओं और ब्राह्मणवर्चस की याचना करता है ताकि वह पशुओं के द्वारा सर्वोपकार कर सके, तथा ब्रह्मवेत्ताओं के तेज समान तेज पा कर सब की आध्यात्मिक उन्नति करके उन के प्रेमों का पात्र बन सके । रुचिः—Liking, love (आप्टे)]

४८४. उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२२॥

(उद्यते) उदयार्थ-यत्न करते हुये के लिये (नमः) अन्न हो, (उदायते) उदयार्थ आगमन करते हुए के लिये (नमः) अन्न हो, (उदिताय) उदित हो चुके के लिये (नमः) अन्न हो, (विराजे) अर्थात् विरहित-दीप्ति वाले के लिये (नमः) अन्न हो, (स्वराजे) अपनी-दीप्ति वाले के लिये (नमः) अन्न हो, (सम्राजे) सम्यक्-दीप्ति वाले के लिये (नमः) अन्न हो ।

[उदयों के वर्णन से मन्त्र में सूर्य का वर्णन प्रतीत होता है । सूर्य के उदय की ३ अवस्थायें दर्शाई हैं । (१) जब वह उदय होने के यत्न में है, (२) जब वह क्षितिज [Horizon] से कुछ ऊपर आया और कुछ क्षितिज के नीचे है, (३) जब वह पूर्ण उदित हो गया, अर्थात् क्षितिज से ऊपर उठ आया । प्रथम अवस्था को "उद्यते" द्वारा, द्वितीय को "उदायते" द्वारा, तथा तृतीय को "उदिताय" द्वारा निर्दिष्ट किया है । इसी प्रकार प्रथम अवस्था को "विराजे" द्वारा, द्वितीय को "स्वराजे" द्वारा, तथा तृतीय को "सम्राजे" द्वारा निर्दिष्ट किया है । विराजे में सूर्य की दीप्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, उस की सत्ता उषा द्वारा अनुमित होती है । स्वराजे में सूर्य की अपनी, दीप्ति प्रकट होने लगती है, तथा सम्राजे में उस की सम्यक्-दीप्ति दृष्टिगोचर हो जाती है ।

[नमः=अन्न नाम (निघं० २।७) । मन्त्र में अग्निहोत्र का अन्न अर्थात् सामग्री अभिप्रेत है । अग्निहोत्र के सम्बन्ध में दो विकल्पों का निर्देश किया गया है, "उदिते जुहोति", तथा "अनुदिते जुहोति" अर्थात् सूर्य के उदित होने पर अग्निहोत्र करे, चाहे अनुदित अवस्था में करे । 'उद्यते" की अवस्था "अनुदिते जुहोति" की विकल्पावस्था है । "उदायते" की अवस्था में सूर्य लगभग अर्धोदित अवस्था में होता है, और "उदिताय" की अवस्था "उदिते जुहोति" द्वारा सूचित की गई है । उद्यते=उद्+यत् (प्रयत्ने)+क्विप् । उदायते=उद्+आयते । मन्त्र में प्रातः अग्निहोत्र का वर्णन हुआ है]

तथा

परमेश्वर पक्ष में मन्त्रार्थः—

योगी जब परमेश्वर के ध्यान में बैठता है तब प्रारम्भ में उसे परमेश्वर "उद्यते" अवस्था में प्रकट होता है, उस की ज्योति का केवल पूर्वाभास होता है, यह आध्यात्मिक-उषारूप होता है। इस आध्यात्मिक उषा के रूप हैं,—नीहार, धूम, अर्क (सूय), अनल (अग्नि,) अनिल (वायु); खद्योत (आकाश के द्युतिमान तारे), विद्युत्, स्फटिक, शशी (चन्द्रमा)। ये वस्तुएं आध्यात्मिक-उषा रूप में प्रथम प्रकट होती हैं, पश्चात् ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। यथाः—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
(श्वेता० उप० २।११)।

तथा जब परमेश्वर की ज्योति, अर्धोदित सूर्य की ज्योति के सदृश, योगी को दृष्टिगोचर होती है तब यह अवस्था "उदायते" अवस्था है।

तथा जब उदित सूर्य के सदृश परमेश्वर पूर्णोदित हुआ दृष्टिगोचर होता है तब परमेश्वर उदितावस्था में होता है। विराजे. स्वराजे, सम्राजे द्वारा,—उद्यते, उदायते, उदिताय अवस्थाओं का ही निर्देश किया है। विराजे या उद्यते काल में ध्यान में बैठकर, सम्राजे या उदिताय की अवस्था तक ध्यान करते हुये परमेश्वर को नमः करते रहने का विधान मन्त्र में हुआ है। जैसे कि कहा है **"भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम"** (यजु० ४०।१६), अर्थात् हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! हम तेरे प्रति बहुत नमस्कारोक्तियां भेंट करें।

४८५. अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२३॥

(अस्तंयते) अस्त होने के निमित्त यत्न करते हुए के लिये (नमः) अन्न हो, (अस्तम् एष्यते) जो अस्त होगा अर्थात्, अस्त होने वाला है के लिये (नमः) अन्न हो, (अस्तम् इताय) अस्त हो गये के लिये (नमः) अन्न हो। (विराजे नमः) आदि पूर्ववत् [मन्त्र २२]

[मन्त्र २२ में सूर्य के उदित या अनुदित काल में "नमः" शब्द द्वारा प्रातः अग्निहोत्र तथा परमेश्वर के प्रति नमस्कार का वर्णन है। मन्त्र २३ में सूर्य के अस्त काल के सम्बन्ध में "नमः" द्वारा सायम्-अग्निहोत्र और परमेश्वर के प्रति नमस्कार का वर्णन किया है "नमः" शब्द के दो अर्थ होते है, अन्न और नमस्कार। अन्न द्वारा तो अग्निहोत्र का निर्देश है। और नमस्कार द्वारा सन्ध्या या योगाभ्यास का निर्देश है।

मन्त्र २३ में सूर्यास्त के ३ प्रक्रम दर्शाए हैं, **अस्तंयते, अस्तमेष्यते, तथा अस्तमिताय**। इन ३ प्रक्रमों के साथ विराजे, स्वराजे और सम्राजे का व्युत्क्रम से सम्बन्ध है। सूर्य जब पश्चिम-क्षितिज से ऊपर होता है, अर्थात् अस्तंयते के प्रक्रम में होता है तब वह सम्राट् अर्थात् अपनी सम्यक्-दीप्ति के साथ संगत रहता है, अस्तमेष्यते के प्रक्रम में वह स्वराट् अर्थात् निज दीप्ति के साथ अभी विद्यमान रहता है, क्योंकि यह तभी अर्धास्त प्रक्रम में होता है। और अस्तमिताय प्रक्रम में यतः सूर्य अस्त हो चुका होता है, अतः तब सूर्य विराट् अवस्था में हो जाता है, निज दीप्ति से विगत अर्थात् रहित हो जाता है, विराट्=विगत राट्। सम्राट=सम्यक् +राट्। स्वराट्=स्व, अर्थात् अपनी राट् अर्थात् दीप्ति, अर्थात् इस द्वितीय स्वराट् प्रक्रम में भी उस की अपनी दीप्ति कुछ शेष रहती[1] है]

परमेश्वर के पक्ष में:—

योगी जब शनैः शनैः ध्यानावस्था से विरत हो रहा होता तब भी **अस्तंयते, अस्तमेष्यते, और अस्तमिताय,**—ये तीन अवस्थाओं में योगी के ध्यान से परमेश्वर विराजे होता है। इन तीनों अवस्थाओं में योगी परमेश्वर के प्रति "नम उक्तियां" भेंट करता है। परमेश्वर सायंकाल की उपासना में सम्राजे, स्वराजे और विराजे की अवस्थाओं में से गुजरता हुआ उपासना की समाप्ति के समय मानो अस्तमित हो जाता है।

४८६. उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥२४॥

---

१. "समयाध्युषिते जुहोति" पक्ष में सूर्यास्त के पश्चात् अग्निहोत्र करने का विधान है। समयाध्युषित सायंकाल जब कि सूर्य और तारे दोनों न दीखें।

(अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य (विश्वेन) समग्र (तपसा, सह) ताप के साथ, (सपत्नान्) दिव्यभावों के शत्रु आसुरभावों को (मह्यम्) मेरे लिये (रन्धयन्) मेरे वश में करता हुआ होता है। (अहम् च) और मैं (द्विषते) द्वेष करते हुए आसुर-भाव के (रधम्, मा) वश में न होऊं । (तव इद् विष्णो)⋯⋯ अर्थ पूर्ववत् [मन्त्र ६]

[मन्त्र में आदित्य द्वारा सूर्य और परमेश्वर दोनों का वर्णन है। आदित्य का अर्थ सूर्य तो प्रसिद्ध ही है। "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता ऽ आपः स प्रजापतिः" (यजु. ३२।१) में आदित्य आदि नाम ब्रह्म के भी कहे हैं। वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम प्रसिद्ध है। असुरों को मन्त्र में सपत्न कहा है। दैवभावों और आसुरभावों का पति अर्थात् स्वामी "मन" है। सपत्न का अर्थ,—एक-पति के आश्रय में रहने वाले। ये दोनों प्रकार के भाव एक पति मन के आश्रय में रहते हैं, और मन की युद्ध भूमि में इन का संग्राम चलता रहता है। रात्रि को सोते हुए मानसिक भावों पर नियन्त्रण नहीं रहता। अतः अच्छे और बुरे स्वप्न आते रहते हैं। सूर्य के उदय हो जाने पर संयमी अपने भावों को संयम में रख सकता है। इसी लिये संयमी उदित-सूर्य के प्रति कहता है कि मेरे संयम के कारण दिन में द्वेषी-आसुरभाव मेरे वश में रहें और मैं उन के वश में न होऊं। इसी प्रकार संयमी के चित या आत्मा में जब आदित्य-वर्णी[1] परमेश्वर का उज्वल प्रकाश उदित हो जाता है तब संयमी परमेश्वर से शक्ति की प्रार्थना करता है ताकि वह द्वेषी-आसुर भावों के वश में न हो कर, उन्हें अपने वश रख सके। आदित्य में परमेश्वर का वास है। "यो ऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽ सावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म, –" (यजु. ४०।१७)। अतः मन्त्र में आदित्य द्वारा सूर्य और आदित्य ब्रह्म,— इन दोनों का वर्णन हुआ है]

४८७. आदि॒त्य ना॒वमारु॑क्षः श॒तारि॑त्रां स्व॒स्तये॑ । अ॒हर्मात्य॑पीपरो॒ रात्रिं॑ स॒त्राति॑ पारय ॥२५॥

(आदित्य) हे आदित्य के से वर्ण वाले प्रकाशमान परमेश्वर ! तू (नावम्) मेरी शरीर-नौका पर (आ अरुक्षः) आरूढ़ हो गया है, (शतारित्राम्) जिसे चलाने के लिये १०० चप्पु लगे हुये हैं,(स्वस्तये) ताकि मेरा कल्याण हो। (सत्रा) सत्य है कि (अहः) दिन से (मा) मुझे (अति, अपीपरः) तूने पार कर दिया है, (रात्रिम्) रात्रि से भी मुझे (अति, पारय) पार कर।

[मन्त्र २४ में संयमी-उपासक में आदित्य वर्णी परमेश्वर के उदय हो जाने का वर्णन हुआ। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (यजु० ३१।१८) में ब्रह्माण्ड-पुरी तथा शरीर-पुरी में बसे परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" कहा। महर्षि दयानन्द ने "आदित्यवर्णम्" का अर्थ किया है "सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप"। परमेश्वर के प्रकट हो जाने पर उपासक ने निज आसुर भावों को अपने वश में कर लेने की प्रार्थना परमेश्वर से की (मन्त्र २४) है। मन्त्र २५ में उपासक अनुभव कर रहा है कि आदित्यवर्णी परमेश्वर मेरी शरीर-नौका पर सवार हो गया है। अतः परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि तूने मुझे दिन में होने वाली आसुरी-तरङ्गों से पार कर दिया है, रात्रि में उठने वाली आसुरी-तरङ्गों से भी मुझे पार कर। मन्त्र में नौका को "शतारित्रा" कहा है। जीवन के सौ वर्षों के सौ-चप्पु इस शरीर नौका के साथ लगे हुए हैं। इन चप्पुओं को "अरित्र" कहा हैं, जिस का अर्थ है अरियों अर्थात् शत्रुओं से त्राण करने वाले, रक्षा करने वाले। आसुरी-भाव अरि हैं, शत्रु हैं । इन की उठती तरङ्गों से उपासक अपनी रक्षा चाहता है। [सत्रा=सत्यनाम (निघं० ३।१०)]

४८८. सूर्य॒ ना॒वमारु॑क्षः श॒तारि॑त्रां स्व॒स्तये॑ । रात्रिं॒ मात्य॑पीपरो॒ऽहः स॒त्राति॑ पारय ॥२६॥

(सूर्य) अज्ञान-अन्धकार के विनाशक हे आदित्यवर्णी परमेश्वर ! तू (शतारित्राम्) सौ चप्पुओं वाली (नावम्) मेरी शरीर-नौका पर (स्वस्तये) मेरे कल्याण के लिये, (आ अरुक्षः) आरुढ़ हुआ है। (मा) मुझे (रात्रिम्, अति, अपीपरः) रात्रि से तूने पार कर दिया है (सत्रा) यह सत्य है। (अहः) दिन से भी (अति, पारय) मुझे पार कर दे।

---

१. "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (यजु० ३१।१८) में परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" कहा है।

१. अर्थात् हे परमेश्वर ! तू ही मेरी शरीर-नौका का नाविक (मल्लाह) बन कर, इस नौका को चला रहा है, इस नौका का खवैय्या हो रहा है।

[उपासक ने मन्त्र २५ में रात्री में होने वाले देवासुर संग्राम से बचने की प्रार्थना परमेश्वर से की है। उपासक ने अनुभव किया है कि वस्तुतः परमेश्वर ने उसे रात्रि के संग्रामों से बचा दिया है। इसी प्रकार वह पुनः प्रार्थना करता है कि नए दिन में भी परमेश्वर उसे इन संग्रामों से बचाए। हम में से प्रत्येक व्यक्ति को जागते तथा सोते समय, ऐसी प्रार्थनाएं करनी चाहियें, और इन प्रार्थनाओं के अनुकूल जीवन ढालना भी चाहिये]

४८९. प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥२७॥

(प्रजापतेः) प्रजाओं के रक्षक या स्वामी परमेश्वर के (ब्रह्मणा, वर्मणा) वेदरूपी कवच से, (च) और (कश्यपस्य) रोगकष्टापन्न व्यक्ति के रक्षक सूर्य के (ज्योतिषा) प्रकाश से, तथा (वर्चसा) तेज से (आवृतः) ढका हुआ अर्थात् सुरक्षित (अहम्) मैं, (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त हुआ, (सहस्रायुः) दीर्घायु वाला, (कृतवीर्यः) वीरता के कर्मों से सम्पन्न (विहायाः) विशेष गति सम्पन्न, (सुकृतः) तथा उत्तम कर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरूं।

[ब्रह्मणा=ब्रह्म का अर्थ वेद भी होता है, तथा ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद भी। अथर्व० १५।३।७ में "ब्रह्मोपबर्हणम्" द्वारा अथर्ववेद का अभिप्राय है। वर्मणा=कवच द्वारा। कवच शरीर की रक्षा करता है, और वेदोपदेश शरीर, इन्द्रियों और मन की रक्षा करते हैं। परोपकारिणी सभा, अजमेर के छपे अथर्ववेद में वर्मणा के स्थान में धर्मणा छपा है। इस दृष्टि में धर्मणा का अर्थ है वेद प्रतिपादित-धर्म द्वारा आवृत अर्थात् सुरक्षित कश्यपस्य=सूर्यस्य। कश्यः=कष्टे गच्छतीति (उणा० ४।२१३, म० दया०)+तं पाति; अर्थात् रोग के कष्ट को प्राप्त हुए का रक्षक सूर्य। कश्यप रोग शामक है; इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण है, यथा—यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि[1]" (अथर्व० २।३३।७), अर्थात् हे रोगी! तेरी त्वचा में फैले यक्ष्म रोग को, कश्यप के वीबर्ह अर्थात् विनष्ट करने के साधन भूत [रश्मियों द्वारा]

१. विवृहामसि=वि (विगत +वृहामसि(वृह उद्यमने),उद्यमनम्=प्रयत्नः।

हम प्रयत्न पूर्वक विगत करते हैं। वीबर्ह[1]=बर्ह हिंसायाम्। कश्यप अर्थात् सूर्य के प्रकाश[2] और तेज[2] अर्थात् उष्णता के द्वारा यक्ष्मरोग के निवारण का विधान मन्त्र में हुआ है।

विहायाः=विविधगमनः सर्वत्राप्रतिबद्धगति (सायण)।

सहस्रायुः=सहस्र+आयुः (जीवन काल; अन्न, निघं० २।७); आयवः मनुष्यनाम (निघं० २।३), अर्थात् दीर्घजीवी नानाविध अन्नों का भोक्ता, तथा हजारों मनुष्यों का उपकारी]

४९०. परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥२८॥

(ब्रह्मणा) वेदरूपी या परमेश्वररूपी (वर्मणा) कवच से, और (कश्यपस्य) रोगादिकष्टापन्नव्यक्ति के रक्षक सूर्य के (ज्योतिषा) प्रकाश से, (च वर्चसा) और तेज से (परीवृतः) सब ओर से ढका हुआ अर्थात् सुरक्षित (अहम्) मैं हूं। (याः) जो (दैव्याः) दैवी अर्थात् आधिदैविक, और (मानुषीः) मनुष्यसम्बन्धी अर्थात् आधिभौतिक (इषवः) बाण, (वधाय) वध के लिये, (अवसृष्टाः) छोड़े गये हैं वे (मा) मुझे (मा) न न (प्रापन्) प्राप्त हों।

[जो मनुष्य अपने आप को वैदिक भावनाओं तथा कर्मों द्वारा सुरक्षित करता, तथा सदा अपने-आप को परमेश्वर द्वारा घिरा हुआ अनुभव करता है, उस पर मानुषी-बाण अर्थात् द्वेष, निन्दा; अपमान, ईर्ष्या आदि असर नहीं करते। तथा साथ ही जो अपने जीवन को प्राकृतिक

१. वीबर्ह=वि+बर्ह (परिभाषणहिंसाच्छादनेषु); बर्ह का अर्थ "हिंसा" यहां अभिप्रेत है। हिंसा अर्थात् विनाश।

२. देखो मन्त्र (२८)॥ तथा "उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। (अथर्व० २।३२।१) में कहा है कि उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियों का हनन करे, तथा अस्त होता हुआ भी अपनी रश्मियों द्वारा हनन करे। वैदिक परिभाषा में क्रिमि का अभिप्राय है germs। उदित होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य की चमकीली रश्मियों में रोगजनक क्रिमियों के हनन का विशेष सामर्थ्य है। तथा देखो मन्त्र (३०)।

नियमों के अनुसार निभाता, और सूर्य के प्रकाश और ताप का तथा शुद्ध वायु आदि का सेवन करता है उस पर दैवीवाण अर्थात् ऋतुप्रकोप द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग भी असर नहीं करते]

४९१. ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् ।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

(ऋतेन) सत्यधर्म द्वारा (च) और (सर्वैः) सर्व (ऋतुभिः) ऋतुओं द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित; (भूतेन) बीते जीवन द्वारा (च) और (भव्येन) भावी जीवन द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित (अहम्) मैं हुआ हूं । इस लिये हे परमेश्वर ! (पाप्मा) पाप (मा) मुझे (मा) न (प्रापत्) प्राप्त हो, (उत) और (मा) न (मृत्युः) प्राप्त हो । (वाचः) वेदवाणी के (सलिलेन) जलवत् शान्तिदायक सदुपदेशों द्वारा [पाप और मृत्यु को] (अहम्) मैं (अन्तर्दधे) अन्तर्हित करता हूं, व्यवहित करता हूं, पृथक् करता हूं ।

[मन्त्र में पाप और मृत्यु से बचने के उपायों का निर्देश किया है । इस के लिये सत्य वैदिकधर्म का पालन, बीते जीवन में किये कर्मों का स्मरण, यथा "कृतं स्मर" (यजु० ४०।१५), भावी जीवन में किये जाने वाले कर्मों पर विचार, तथा वेदवाणी के शान्तिप्रद सदुपदेशों के अनुसार आचरण करना चाहिये । और ऋतुचर्या के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये । मृत्यु=जन्म-मरण की परम्परा]

४९२. अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् । व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥३०॥

(गोप्ता) रक्षा करने वाला (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (विश्वतः) सब ओर से (मा) मुझे (परि पातु) पूर्णतया सुरक्षित करे, (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (मृत्युपाशान्) मृत्यु के फंदों को (नुदतां) दूर करे । (व्युच्छन्तीः) अन्धकार को हटाने वाली (उषसः) उषाएं, (ध्रुवाः) तथा स्थिर (पर्वताः) पर्वत, और (मयि) मुझ में स्थित (सहस्रम्) हजारों (प्राणाः) प्राणशक्तियां, (आ यतन्ताम्) मुझे प्रयत्नशील करती रहें, तथा मेरे जीवन में प्रयत्नशील रहें ।

[मन्त्र में अग्नि और सूर्य परमेश्वर वाचक हैं [मन्त्र ६ की व्याख्या],

क्योंकि अग्नि अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर ही सब ओर से पूर्णरक्षा करने में समर्थ है । तथा परमेश्वर ही हृदयाकाश में उदित होकर, निज ज्योति द्वारा अविद्यान्धकार को मिटा कर, मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण के फंदों से छुटकारा दे सकता है । यथा "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" (यजु० ३१।१८) । उषसः=उषाकाल का सात्विक समय, तथा पर्वतीय शुद्ध वायु का सेवन, और इन द्वारा प्राणों का शुद्ध होना,—इन उपायों द्वारा जीवन में शक्ति संचार होने मे व्यक्ति प्रयत्नशील हो जाता है । सहस्रं प्राणाः= शरीर के प्रत्येक अवयव और अङ्ग में, तथा अङ्गों के कोष्ठों (cells) में अपनी अपनी शक्ति निहित हैं जिसे कि प्राण कहते हैं । इस दृष्टि से प्राणों को सहस्रम् कहा है । श्वास-प्रश्वास भी प्राण हैं । जीवन में इन की संख्या असंख्य है । इसी प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि भी प्राण हैं । इन दृष्टियों से प्राणों के लिये सहस्रम् शब्द का प्रयोग हुआ है ।

पर्वताः ध्रुवाः=पर्वत के दो अर्थ हैं, (१) मेघ (निघं० १।१०), तथा पार्थिव पर्वत । पार्थिव पर्वत ध्रुव हैं. मेघ अध्रुव हैं ।

मन्त्र में अग्नि द्वारा अग्निहोत्र की अग्नि, तथा सूर्य द्वारा द्युलोकस्थ सूर्य का भी ग्रहण अभिप्रेत है । अग्निहोत्र की अग्नि स्वास्थ्यकारी तथा रोग विनाशक सामग्री की आहुतियों द्वारा, तथा सूर्य निज ज्योति तथा तेज द्वारा जीवन की रक्षा कर, आयु को बढ़ा कर, शीघ्र मृत्यु से रक्षा करते हैं । इन प्राकृतिक शक्तियों के साथ साथ उषाकाल का सेवन, तथा पर्वतवास आदि द्वारा प्राणशुद्धि आदि भी आयुवृद्धि में सहायक होते हैं]

सत्रहवां काण्ड समाप्त

श्री प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्डकृत

अथर्ववेद १७ वें काण्ड का

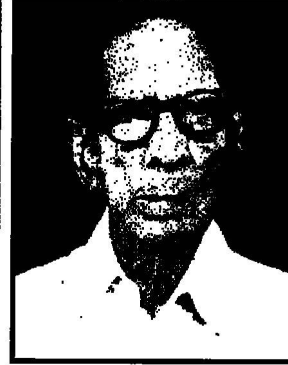
हिन्दी भाष्य सम्पूर्ण हुआ

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

१.	**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**-सं०-युं०मी०	१००.००
२.	**भूमिकाभास्कर**-स्वा० विद्यानन्द सरस्वती- दो भागों में- प्रथमभाग ३००.००, द्वितीयभाग	२००.००
३.	**ऋग्वेदानुक्रमणी**-वेङ्कटमाधवकृत- व्याख्याकार- पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि	५०.००
४.	**कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**- षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित	१५०.००
५.	**ऋग्वेद की ऋक्संख्या**- युधिष्ठिर मीमांसक	५.००
६.	**ऋग्वेदपरिचय**- पं० विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड	२५.००
७.	**माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद-पदपाठ)	२००.००
८.	**तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित	१२०.००
९.	**तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**- दाक्षिणात्य पाठानुसारी	३००.००
१०.	**अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ लक्षण ग्रन्थ- पं० रामगोपाल शास्त्री	५.००
११.	**अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**- भूमिका तथा सूचियों सहित-पं० रामगोपाल शास्त्री	६०.००
१२.	**गोपथब्राह्मण** (मूल)	८०.००
१३.	**वैदिक-निघण्टु-संग्रह**- डॉ० धर्मवीर	१००.००
१४.	**वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक- वेदविषयक सत्रह निबन्धों का संग्रह- प्रथमभाग ७५.०० द्वितीयभाग	१००.००
१५.	**वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**-	७०.००
१६.	**वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	५.००
१७.	**वैदिकछन्दोमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	यन्त्रस्थ
१८.	**वैदिकस्वरमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	६०.००
१९.	**वेदार्थभूमिका**- (हिन्दी)- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	२५.००
२०.	**वेदार्थभूमिका**- (संस्कृत)- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	३०.००
२१.	**वेदार्थभूमिका**- (हिन्दी-संस्कृत)- स्वा० वि० सरस्वती	५०.००

भाष्यकार का परिचय



नाम—प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी— श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता— श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान— मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा— प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन— सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान— सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

ग्रन्थ लेखन— १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार— विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन— १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।